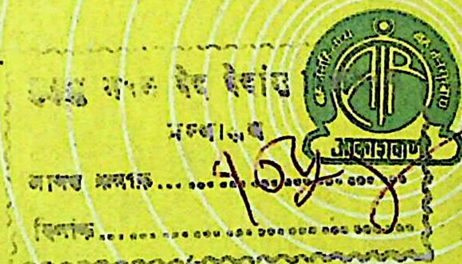
आकाशवाणी विविधा

१९६०



प्रकाशन विभाग



मणिपुर में बनी

4m2, N6 ९२२०
152 KO

...हस्तशिल्प की चीजें
... की शोभा हैं ।

*टिकाऊ *सजावटी
तथा
...भिराम

...ला, नृत्य, शिल्प,
वन...

...वंतशृंखलाओं और
उप...

... द्वारा प्रचारित

सत्यमेव जयते

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मन्त्रालय
पुराना सचिवालय, दिल्ली-८

श्रावण १८८२ (जुलाई १९६०)

मूल्य तीन रुपया

निदेशक, प्रकाशन विभाग, पुराना सचिवालय, दिल्ली, द्वारा प्रकाशित
तथा प्रबन्धक, भारत सरकार मुद्रणालय, फरीदाबाद, द्वारा मुद्रित

निवेदन

आकाशवाणी हमारे सांस्कृतिक जीवन का एक प्रमुख अंग बन चुकी है। इस सम्बन्ध में किसी को अब सन्देह नहीं है कि इसके विभिन्न केन्द्रों ने संगीत तथा वार्ताएं प्रसारित करके ज्ञान-विज्ञान तथा कला और साहित्य के क्षेत्र में देश की बहुत बड़ी सेवा की है। कई प्रसारित वार्ताएं स्थायी मूल्य की होती हैं और यह सबके लिए दुर्भाग्य होगा यदि अधिकारी विद्वानों या अपने विषय के विशेषज्ञों के द्वारा प्रसारित वार्ताएं केवल सामयिक प्रयोजन सिद्ध करके ही भुला दी जाएं। इसी विचार से कुछ अच्छी वार्ताओं को चुन कर प्रकाशित करने का कार्यक्रम कई सालों से चालू है।

सबसे पहले 'रेडियो संग्रह', फिर 'प्रसारिका' व 'आकाशवाणी प्रसारिका' और बाद को 'आकाशवाणी विविधा' नाम से इस प्रकार की वार्ताओं का प्रकाशन किया गया। गत वर्ष आकाशवाणी विविधा का जो संस्करण प्रकाशित हुआ था, उसकी आलोचकों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की। उसी से प्रोत्साहित होकर इस साल भी यह संग्रह प्रस्तुत किया जा रहा है। हमने गत वर्ष की तरह इसमें प्रसारित वार्ताओं में से सब तरह के नमूनों को प्रतिनिधित्व देने की चेष्टा की है। विषय-सूची पर एक दृष्टि डालने से ही यह पता लग जाएगा कि किस प्रकार सामग्री के चुनाव में सब तरह की रुचि का ध्यान रखा जा रहा है। इस सूची से यह भी प्रकट हो जाता है कि आकाशवाणी वार्ताओं के क्षेत्र में उच्चस्तरीय कार्य कर रही है। हम आशा करते हैं कि पाठक इस ग्रंथ को अपनाएंगे और उन्हें यह संग्रह पसन्द आएगा।

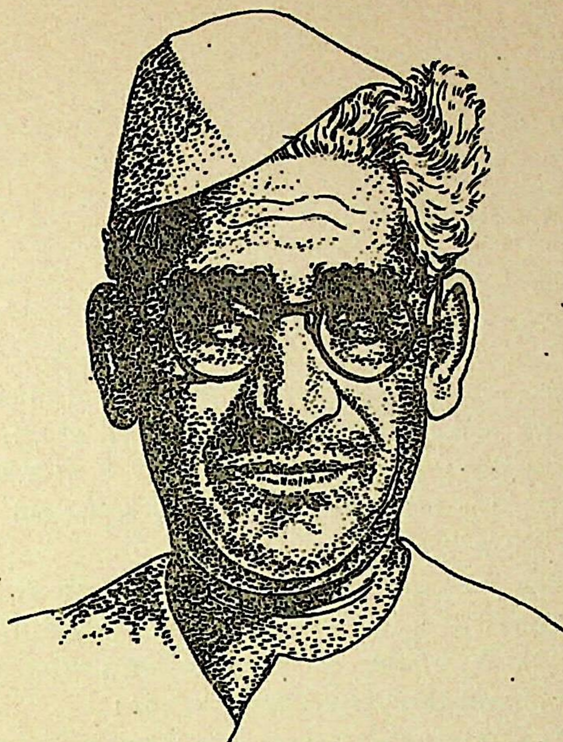
—सम्पादक



आकाशवाणी विविधा १९६०

विषय-सूची

विषय-सूची



बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

जवाहरलाल नेहरू

आज बालकृष्ण शर्मा का और मेरा ४० बरस का साथ खतम हुआ। हम सन् २० और २१ में साथ काम करते थे। सन् २१ में हम साथ जेल गए, एक बैरक में रहे और उसके बाद तो खैर उनसे मिलने के, साथ रहने के बहुत मौके मिले। वह हमारे पुराने साथियों में थे। मेरे छोटे भाई की तरह थे, मुझसे बहुत कम उम्र के थे। वह सब जमाना याद आता है। किस तरह उनके साथ रहने से हमारी जेल की जिन्दगी भी कुछ हलकी हो गई थी। कोई भी पुराना साथी गुजरे, तो एक चोट लगती है और एक खाना खाली हो जाता है। बालकृष्ण जी के लिए तो खास बात है, खास आदमी थे, फिर कवि थे, जोशीले थे। अक्सर उनसे बहस भी होती थी। छोटे-मोटे झगड़े भी हो जाते थे, बहस में। लेकिन उनकी कद्र थी, एक दूसरे से मोहब्बत थी। तो गरज़ कि वह खाना खाली हो गया और रंज है दिल में। लकिन कोई इसका इलाज नहीं। सिवा इसके कि याद में वो रहें, जैसे कि रहेंगे।

—आकाशवाणी समाचार दर्शन में प्रसारित

कुछ साहित्यिक संस्मरण

मैथिलीशरण गुप्त

पचास-पचपन वर्ष हो गए, जब मैंने हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया। तब तक पद्यों में अधिकतर ब्रज भाषा का ही प्रचार था और यह विवाद चल रहा था कि कविता की भाषा यथापूर्व वही बनी रहे अथवा गद्य के समान पद्य में भी बोलचाल की भाषा का व्यवहार किया जाए। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को अपनी खड़ी बोली की पद्य रचना से सन्तोष न हुआ था।

मेरे समक्ष भाषा का ही प्रश्न न था, विषयवस्तु की भी समस्या थी। पूज्य आचार्य महावीर प्रसाद जी द्विवेदी की प्रेरणा से मैंने पद्य में भी बोलचाल की भाषा अपनाई और स्वदेश की स्थिति से कथावस्तु चुनने की प्रेरणा पाई। परन्तु हम परतन्त्र थे। देश में विदेशी शासन था और उसके विरोध में निरोध का त्रास।

उन्हीं दिनों बंग-भंग का आन्दोलन आरम्भ हुआ। उसका प्रभाव केवल बंगाल पर ही नहीं, सारे देश पर पड़ा। बंगाल की तरुण पीढ़ी तो ऐसी उत्तेजित हुई कि मरने-मारने पर उतारू हो गई। खुदीराम बोस के बम-विस्फोट ने मानो नए अभियान का डंका बजा दिया, जिसकी चर्चा करते हुए लोकमान्य तिलक ने कहा था—यह अच्छा हथियार बंगाल के नवयुवकों के हाथ लगा।

तब तक भारतीय राजनीति में राष्ट्रपिता महात्मा गांधी का पदार्पण नहीं हुआ था।

स्थान-स्थान पर क्रान्तिकारियों की गुप्त समितियां संघटित हो रही थीं। विदेशी शासन भी अपनी प्रभुता स्थिर रखने के लिए कुछ उठा न रखना चाहता था। आगे चल कर जलियांवाला बाग की सी बर्बरताएं भी उसके लिए साधारण हो गई थीं। उस समय मैंने जो दो पंक्तियां लिखी थीं वे ये हैं—

इतने जल्द जागते, हम क्या करता कहीं न फायर तू;
जीता रह, पेन्शन पाता रह, डायर तू! ओ डायर तू!

मेरे अभिभावकों को चिन्ता लगी रहती थी कि मैं कुछ ऐसा न कर बैठूं कि पकड़ कर जेल में डाल दिया जाऊं। तब भी यह कहने का समय नहीं आया था कि 'जेल भरवाथी स्वराज्य मलशे' अथवा मेरे ही शब्दों में—

शासन है बिलकुल बेमेल,
उनका जेल हमारा खेल।

बड़े-बड़े नेता लोग भी उस समय बहुत संभल-संभल कर बोलते और लिखते थे। हम जैसे साधारण जन यह प्रयत्न करना न भूलते थे कि आगे कोई गति न रहे, तो बच निकलने के लिए पीछे की ओर छिपा द्वार बना रहे। स्वराज्य की मांग तो की जाती थी परन्तु ब्रिटेन की छत्र-छाया में। मैं जिस वर्ग में था उसमें राजद्रोह की कल्पना भी कठिन थी।

तथापि किसी लेखक के लिए तनिक-तनिक में उसकी लेखनी पर अंकुश लगना विषम व्याघात है। अपने अभिभावकों और गुरुजनों के प्रति विनीत और भीत होने के कारण मैं उनका अबाध्य न हो सकता था। तो भी व्यर्थ की काट-छांट से बहुधा विकल हो उठता था। सचमुच मुझे अनेक बार वह व्यर्थ ही लगती थी। मैं जो कुछ कहता, वह न कहने पाता। यही नहीं, यदाकदा उसके प्रतिकूल कहने के लिए विवश किया जाता। तब अधिक क्या कहूं, मैं रो देता। मुझे समझाया जाता कि एकाध बात के पीछे तुम अपनी अन्य सभी बातें कहने से क्यों वंचित होना चाहते हो। तुम्हारा आन्तरिक भाव तुम्हारे पाठकों से छिपा न रहेगा, वे उसे समझ ही लेंगे। फिर व्यर्थ संकट बिसाने से क्या लाभ?

पूज्य द्विवेदी जी बीच-बीच में मुझे सावधान करते रहते। एक बार उन्होंने लिखा—अभी नया कानून बना है। मार्शल ला ही समझिए। फांसी तक की सज़ा है।

इस प्रकार की चेतावनियां मेरी हित कामना से ही दी जातीं। उनमें पूज्य द्विवेदी जी का वात्सल्य भाव ही प्रधान रहता।

मेरी 'नकली किला' नाम की रचना बहुतों को रुची थी। 'रंग में भंग' उसी की पूर्णता समझिए। स्वर्गीय काशी प्रसाद जायसवाल ने भी उसे पढ़ कर मुझे एक पत्र लिखा था। उस पत्र की एक बात विशेष स्मरणीय है, उन्होंने 'नकली किला' न लिख कर 'कृत्रिम कोट' लिखा था।

उस रचना की अनेक पंक्तियां इंडियन प्रेस के प्रभुओं ने 'अनावश्यक और उग्र' कह कर निकलवा दी थीं। इससे मुझे अत्यन्त क्षोभ हुआ। यह प्रतिबन्ध प्रेस की ओर से था, इस कारण मैं बिगड़ पड़ा। पूज्य द्विवेदी जी ने मुझे समझाया, इससे प्रेस का अहित हो सकता है। कारण, उसको सरकार से विशेष लाभ होता है। उन पंक्तियों के बिना भी उस कविता में बहुत कुछ है, इत्यादि। इस पर मैं क्या कहता? चुप हो गया। इस प्रकार प्रेस की एक और नई बाधा भी मेरे आगे आ खड़ी हुई। परन्तु उसमें मेरी अपेक्षा प्रेस की अपनी ही चिन्ता अधिक थी, मुझे ऐसा ही लगा।

अपनी 'स्वर्ग सहोदर' नाम की रचना में भी मुझे एक पंक्ति परिवर्तित करनी पड़ी थी—

खलता दुख दैत्य महोदर है,
यह भारत स्वर्ग सहोदर है।

इसमें 'दुख दैत्य' के स्थान पर किसी दूसरे ही दैत्य का संकेत था।

एक बार पूज्य द्विवेदी जी ने लिखा—समय-सूचकता भी कवि का एक गुण होता है।

'पंजर-बद्ध' नाम की रचना इसके अनुरूप ही थी। परन्तु उसके छपने में भी वही बाधा आई।

पूज्य द्विवेदी जी ने लिखा—तोते वाली रचना यहां लोगों को बहुत पसन्द आई। प्रेस के मालिक उसे सुन कर बहुत प्रसन्न हुए। परन्तु ज़माना बड़ा नाज़ुक है। इससे निश्चय हुआ कि इसे अभी कुछ दिन न छापा जाए। आशा है इससे आप खिन्न न होंगे। मैं खिन्न हो कर करता भी क्या?

उस बार पंचम जार्ज के राज्याभिषेक की बड़ी धूम थी। उस पर सर्वत्र हर्ष और अभिमान प्रकट किया जा रहा था। 'सरस्वती' भी इसमें पश्चात्पद न थी। पूज्य द्विवेदी जी ने मुझे 'राज्याभिषेक' रचना करने की आज्ञा दी। किन्तु मेरा मन न था। फिर भी

उनकी आज्ञा का पालन न करना मुझे ठीक न जान पड़ा। फलतः मुझे भी उस हर्ष और अभिमान में योग देना पड़ा। परन्तु सब कुछ कहने के अनन्तर मैंने इतना और कह दिया—

दीख रही जो आज, बाहरी है यह लाली;
भीतर होली जले, किन्तु बाहर दीवाली।

परन्तु सम्भवतः यह कहना भी प्रेस के हित में न था। अतएव उक्त पंक्तियां निकाल कर ही वे पद्य छापे गए। बहुत वर्षों के पश्चात फिर एक बार मुझे लजाने के लिए दूसरे सम्पादक के काल में वह रचना छापी गई। राष्ट्रपिता बापू को यह बात खली। फलतः मुझे महादेव भाई ने पत्र लिख कर पूछा। उन्होंने समझा यह अभी लिखी गई है। तब मुझे उसका सारा ब्योरा देना पड़ा।

'राज्याभिषेक' लिख कर मेरे मन में जो क्षोभ हुआ था, उसे शान्त करने के लिए उसके अनन्तर उन्हीं दिनों धर्मराज युधिष्ठिर के राज्याभिषेक को लेकर मैंने कुछ पद्य और लिखे तथा उन्हें पूने के 'हिन्दी चित्रमय जगत' में छपने के लिए भेज दिया। शीर्षक था : 'दो दृश्य'। वे पद्य जैसे थे वैसे ही छप गए। किन्तु उसके सम्पादक महाशय ने 'दो दृश्य' के स्थान पर 'युग दृश्य' कर दिया। यह परिवर्तन मेरी समझ में न आया। तब मैंने इसे सम्पादक का कृतित्व मान लेना ही उचित समझा।

उस रचना की कुछ पंक्तियां इस प्रकार थीं—

कहो, आज किस ओर चलोगे, देखोगे किस ओर भला,
क ओर वीरत्व विभव ह, एक ओर कारुण्य कला।

× × ×

एक ओर विजयी बलशाली धर्मराज का है अभिषेक,
एक ओर मृत वीरवरों की विधवाओं का शोकोद्रेक।

× × ×

एक ओर तो मातृभूमि पर मधु धारा-सी ढलती है,
एक ओर उस मृतवत्सा की छाती धक-धक जलती है।

× × ×

आओ तब दोनों आंखों से देख हम भी ोनों ओर,
एक आंख से अपनी उन्नति एक आंख से अवनति घोर।

जिन दिनों हमारे राष्ट्रपिता के नेतृत्व में दक्षिण अफ्रीका का सत्याग्रह संग्राम चल रहा था, उस समय भी कुछ पद्य लिखने की मुझे आज्ञा मिली थी। परन्तु वे पद्य भी 'सरस्वती' में न छप सके। पीछे मेरे बन्धु स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी को जब इसका पता चला, तब उन्होंने पूज्य द्विवेदी जी से ले कर उन्हें 'प्रताप' में प्रकाशित किया था। पहला पद्य था—

दीन हों हम, किन्तु रखते मान हैं,
भव्य भारतवर्ष की सन्तान हैं,
न्याय से अधिकार अपना चाहते—
कब किसी से मांगते हम दान हैं।

—दिल्ली से प्रसारित

चांद और कवि

रामधारी सिंह 'दिनकर'

रात यों कहने लगा मुझसे गगन का चांद,
आदमी भी क्या अनोखा जीव होता है।
उलझनें अपनी वना कर आप ही फंसता,
और फिर बेचैन हो जगता न सोता है।

जानता है तू कि मैं कितना पुराना हूं?
मैं चुका हूं देख मनु को जनमते मरते।
और लाखों वार तुझ-से पागलों को भी
चांदनी में बठ स्वप्नों पर सही करते।

आदमी का स्वप्न? है वह बुलबुला जल का,
आज वनता और कल फिर फूट जाता है।
किन्तु, तो भी धन्य, ठहरा आदमी ही तो!
बुलबुलों से खेलता, कविता वनाता है।

मैं न बोला, किन्तु मेरी रागिनी बोली,
चांद! फिर से देख, मुझको जानता है तू?
स्वप्न मेरे बुलबुले हैं! है यही पानी!
आग को भी क्या नहीं पहचानता है तू?

मैं न वह जो स्वप्न पर केवल सही करते,
आग में उसको गला लोहा बनाती हूं।
और उस पर नींव रखती हूं नए घर की,
इस तरह, दीवार फौलादी उठाती हूं।

मनु नहीं, मनु-पुत्र है यह सामने, जिसकी
कल्पना की जीभ में भी धार होती है।
वाण ही होते विचारों के नहीं केवल,
स्वप्न के भी हाथ में तलवार होती है।

स्वर्ग के सम्राट को जाकर खबर कर दे,
'रोज ही आकाश चढ़ते जा रहे हैं ये।
रोकिए, जैसे बने, इन स्वप्नवालों को,
स्वर्ग की ही ओर वढ़ते आ रहे हैं ये।'

—दिल्ली से प्रसारित

१०० का नोट

चन्द्रकिरण सोनरेक्सा

जेब में पैसे यदि थोड़े हों और बाज़ार की सभी सस्ती-महंगी दुकानों की खाक ानने पर भी जब उन पैसों में ज़रूरत की चीज़ न मिल सकी हो, तब आदमी के पास केवल एक ही चारा बचता है—सड़क के किसी अंधेरे से मोड़ पर भीड़ और चहल-पहल से बच कर खड़ा हो जाए और सिर खुजलाने लगे। जेब के चार रुपये तेरह आनों में किसी प्रकार भी एक अच्छी कमीज़ के कपड़े का ब्यौंत नहीं बैठा था और मैं सिर खुजाते हुए सोच रहा था कि अब ! अकस्मात एक छोटी सी परछाईं तेज़ी से आ कर मेरे पीछे छिप कर दुबकने लगी। मुड़ कर देखा तो परछाईं गिड़गिड़ाई—बाबू जी बचाना, वो मुझे मारने आ रहे हैं—और फिर घुटनों के बल बैठ कर वह छिपने सी लगी।

अभी मैं केवल इतना ही जान पाया था कि वह परछाई एक तेरह-चौदह वर्ष के दुबले-पतले लड़के की है, कि सामने से भागते आते हुए आदमियों ने पुकारा—वो रहा, वो रहा, देखो तो साला कहां छिपा है—और उनमें से एक ने उसे खींच लिया।

—बोल अब करेगा चोरी ?—आगन्तुक ने उसके रूखे उलझे बालों को पकड़ कर झटका देते हुए कहा—मारते मारते हड्डियां तोड़ दूंगा...आगे कभी अपनी दुकान के आस-पास भी खड़े देखा तो पुलिस में दे दूंगा।

दूसरे व्यक्ति ने भी उसके एक झापड़ रसीद किया—संडा-मुसंडा सा तो है।...मेहनत-मजूरी नहीं करेंगे, भीख मांगेंगे, चोरी करेंगे...बोल बे अब फिर चुराएगा ?

फटी नीकर और चिथड़ा बनियान से ढका वह छोकरा रो उठा—नहीं...अब नहीं करूंगा चोरी !

आस-पास चलते राहगीर भी जमा हो कर तमाशा देखने लगे थे। उन्हीं को सम्बोधन करते हुए पहले व्यक्ति ने कहा—देखते क्या हैं साहब। बड़े हो कर पक्का डाकू निकलेगा... मैं गाहकों को सौदा दे रहा था और इस पट्ठे ने मौका पाते ही डबल रोटी उड़ा ली... क्यों बे फिर करेगा चोरी ?

और मेरे 'हां...हां' करते करते भी उन दोनों ने उस लड़के पर घूंसों और मुक्कों द्वारा अपना आक्रोश निकाल डाला।

—छोड़ दीजिए साहब बच्चा है, अब नहीं करेगा—मेरे मन में न जाने क्यों उस गन्दे, काले, सूखे लड़के के लिए तरस उमड़ आया।

भीड़ में से और भी दो-एक ने कहा—जाने दो, काफी सज़ा मिल गई।

दोनों व्यक्तियों को भी शायद अपनी दुकान की चिन्ता थी, लड़के को एक धक्का दे कर उसकी मां-बहन से निकट का सम्बन्ध जोड़ते हुए वे चले गए। लड़का वहीं बैठा रोता रहा। भीड़ भी छूट चली तो मैंने घर की ओर पग बढ़ाए।

—बाबू जी— वह लड़का फटी बनियान से आंसू पोंछते हुए मेरे पीछे लगा—एक पैसा बाबू जी, सवेरे से भूखा हूं......एक पैसा।

—अबे पैसा क्या करेगा, अभी तो डबलरोटी चरा कर खा चुका है!

—कहां—अचानक लड़के ने मुंह फाड़ कर कहा— वो तो भागते हुए कहीं गिर पड़ी थी...बाबू जी दो पैसे के चने दिला दो, बड़ा भूखा हूं! ...बाबू!...स्वर में भूख की याचना मिली हुई थी।

मैंने अब एक बार भली प्रकार उसे ताका। सचमुच लड़के का पेट पीठ से लगा था—क्यों रे, तू कहीं नौकरी क्यों नहीं कर लेता, इतना बड़ा है भीख मांगते शर्म नहीं आती?

—नौकरी—लड़का तनिक रुक बोला— मुझे कौन नौकरी देगा? मेरे बाप-मां, घर-द्वार कुछ नहीं है।

मन में बड़ा क्रोध आया, कैसा चालाक बनता है। इसके कोई नहीं है तो क्या आसमान से टपका है। झूठा कहीं का। मैंने कहा— आज तक कहां रहता था कोई तो होगा ही तेरे।

—सच बाबू मेरे कोई नहीं है। एक बड़ी बहन थी वही मुझे भीख मांग कर खिलाती-पिलाती थी। एक महीना हुआ उसने ब्याह कर लिया। पर जीजा खराब आदमी है, वो बहन को मारता है। मुझे भी मारता है।...दस दिन हुआ, बहन को लेकर कलकत्ता चला गया। मेरे कोई नहीं है अब, कल से भूखा हूं।

तर्क-वितर्क, दया-माया और स्वार्थ-परमार्थ सभी तो मनुष्य के मन में कुन्डली मारे बैठे रहते हैं। लड़के की दशा देख मन म दया आ रही थी। घर में आजकल बर्तन मांजने को महरी तक नहीं है। जो इसे ही नौकर बना कर रख लूं तो सारी मुसीबत दूर हो जाए, यह स्वार्थ की पुकार थी।...परन्तु लड़का तो चोर है, न घर का पता न द्वार का, जो कुछ ले कर भाग गया तो? इस महंगाई में तो लोटा-गिलास भी चोरी हो जाए तो जुटाना कठिन है। मैं तर्क के हिंडोले में झूल रहा था।

—बाबू—लड़का मेरा मुंह ताक रहा था—तुम्हीं नौकर रख लो बाबू! बस खाना-कपड़ा देना। सच बाबू। खाना मिलेगा तो चोरी क्यों करूंगा बाबू?

—अच्छा यार चल तू भी क्या कहेगा—और मैं उसे अपने साथ लेकर घर आ गया।

\+ \+ \+

नथुआ आज हमारे घर का एक सदस्य था। इन पांच वर्षों में उस बिचारे ने कभी चोरी की हो, ऐसा प्रमाण नहीं मिला यद्यपि आरम्भ में श्रीमती ने एक राह-चलते आवारा लड़के को घर में रखने पर बहुत आपत्ति की थी। परन्तु भगवान ने हमारी लाज रखी। नथुआ ने मेरे विश्वास का मूल्य चुका दिया। आज तो वैसा चुस्त और कामकाजी नौकर बीस पर भी मिलना कठिन था, परन्तु हम उसे आज भी केवल दस रुपये और खुराक पर रखे थे। यह दस भी हमने एक साल बाद यह कहने पर बांधे कि बाबू बहन को भेजेंगे, वही तो हमारी सब कुछ है।...उसकी तनख्वाह के रुपये मैं अपने हाथ से उसकी बहन को कलकत्ते मनीआर्डर कर देता था। अब इधर तो घर का सौदा-सुलुफ चीनी-राशन तक वही लाता था। मैंने उसके साथ जाना तक छोड़ दिया था।

उस दिन मंगलवार था। आज हमें हनुमान मन्दिर जाकर प्रसाद चढ़ाना था क्योंकि कल मेरे लड़के को उसकी पांच मास की छात्रवृत्ति के सौ रुपये मिले थे और हमने तय किया कि उस नोट को प्रसाद लेने पर ही भुनाया जाएगा। मैं हजामत बना कर अभी ब्रुश

धो रहा था कि पत्नी बड़ी परेशान सी आकर बोली—वो सौ का नोट सन्दूक में नहीं मिल रहा, कहीं आपने तो नहीं निकाला ?

—मैं भला क्यों निकालता, कल मुन्ना ने तुम्हें ही लाकर दिया था।

—हां दिया तो था—वे और भी परेशानी से बोलीं—आपके सामने ही तो मैंने उसे सन्दूकची के ऊपर वाले खाने में रख दिया था।

—ठीक से याद करो, कहीं अपने वक्स में तो नहीं रखा।...मुन्ना से पूछा ?

—हां, पूछ लिया। वक्स में तो मुझे ठीक याद है कि नहीं रखा था........फिर बक्स सन्दूकची और कमरे के आले-दिवाले सभी तो झाड़-पोंछ कर देख आई हूं, कहीं भी नहीं है।

मैं हाथ धोना भूल गया और फिर हम दोनों ही ने मिल कर घर के सभी छोटे-बड़े सन्दूक ही नहीं रसोई घर के दाल-आटे के डिब्बे तक तलाश कर डाले, नोट का कहीं पता नहीं था। चोर कहां अब ? हम दोनों ने एक-दूसरे की ओर देखा, नोट को क्या आखिर भूत ले गए। वाहर से घर में कोई आया नहीं और......अकस्मात मेरी पत्नी ने धीमे से कहा—जी मेरा तो संदेह नथुआ पर है, वो कल कोठरी में उस समय खड़ा कपड़े तह कर रहा था।

यूं घूम-फिर कर मेरे मन में भी एक-दो बार नथुआ का नाम आया था, परन्तु मैं इतनी जल्दी ऐसी कच्ची बात कैसे कहता ?—परन्तु सोचो तो आज तक उसने घर का एक पैसा तक नहीं उठाया, तीस-चालीस रुपये तक लेकर बाजार से राशन लाया है।

—सो मैं कब कहती हूं, पर आदमी की नीयत ही तो है। इकट्ठा सौ का नोट देख कर बिगड़ गई होगी।...मेरी भी बुद्धि कैसी है ? सन्दूकची में रखते समय भी एक बार मैंने नोट वहां से निकाल कर बटुए में रखा पर फिर शायद वहीं रख दिया था...... तुम उससे पूछो तो !

ऐसी बात पूछनी क्या आसान थी। मैंने एक बार फिर जोर-शोर से सारे घर की तलाशी ली, बिस्तरों की चादरें निकाल कर देख डालीं। सन्ध्या तक मेरा सन्देह भी निश्चय में बदल गया। नथुआ दोपहर में काम खत्म करके तीन-चार घण्टों को प्रायः ही चला जाया करता था। साढ़े चार पर वह तरकारी लिए लौटा—नथुआ !—मैंने गम्भीर स्वर में पुकारा।

—आया बाबू जी।

—नथुआ ! मुन्ना बाबू के वजीफे का जो नोट कल आया था वह नहीं मिल रहा है।

—घर में ही होगा बाबू जी—उसने पूरे इतमीनान से कहा और बैठ कर आलू छीलने लगा।

—अरे सवेरे से सारा घर तो छान मारा, कहीं नहीं है— पत्नी ने चिढ़े स्वर में कहा—क्यों रे तूने तो नहीं उठाया, कहीं हंसी की हो।

—नहीं बहू जी मैं आप से हंसी करूंगा—और वह आलू छीलता रहा मुख पर कहीं परेशानी या घबराहट नहीं थी, फिर बोला—कहां रखा था मैं भी ढूंढूं, कहीं चूहा तो नहीं ले गया।

—हां, हां, नोट चूहा ले जाएगा। वो तो तेरे जैसे वनबिलाव के पेट में उतर गया है। नथुआ सच कहती हूं नोट दे दे, आदमी से भूल-चूक हो ही जाती है, मैं तुझे क्षमा कर दूंगी।

नथुआ ने मेरी ओर देखा और नेत्र नीचे कर लिए।

—हां नथुआ आदमी के मन में लालच आते देर नहीं लगती—मैंने कहा—ले लिया हो तो दे दे, नहीं तो मैं पुलिस में रिपोर्ट करने जा रहा हूं। घर में चार जनों के बीच से नोट भला कौन ले सकता है ?

—बाबू जी, मैंने नहीं लिया नोट—वह रुआवना हो आया—आप मेरे माई-बाप हैं, क्या आगे मैंने कुछ चुराया है ?

—तू तो बड़ा सत्यवादी हरीचन्द है। पहले भी तो भीख मांगता, चोरी करता था। आज इस बड़ नोट को देख के फिर नीयत फिसल गई होगी।

नथुआ ने उत्तर नहीं दिया, सिर झुकाए रहा। मुन्ना भी आ गया था। वह नए खून का लड़का है। उसने तो सवेरे ही नथुआ को चोर करार दिया था। अब तो वह विश्वास सत्य बन चुका था। सारी रात हमने साम-दाम, दंड-भेद से काम ले कर नोट का पता जानना चाहा। परन्तु नथुआ था कि एक चुप और सौ को हराए...बस रोए जाता था। रात भर मैं उसे साथ लेकर फिर घर का राई-रत्ती खोज गया। नोट नहीं मिला और अब मेरा सन्देह भी जड़ पकड़ गया था।

—बदमाश, कमीने, चोर ! बता नोट कहां रखा है ?—मैंने उसके कान खींच कर दो झापड़ रसीद किए। मुन्ना ने भी काफी मरम्मत की परन्तु नथुआ की 'नहीं' 'हां' में नहीं बदली। उसकी कोठरी में रखे उसके टूटे बक्स की तलाशी भी ली...उसमें फूटी कौड़ी भी न थी।

—पुलिस में दे दो जी—पत्नी चीखी—यूं ऐसे कबूलने वाला नहीं। जब वहां चूतड़ों पे बेंत पड़ेंगे, एक मिनट में चीं बोल जाएगा।

मुझे भी उसके टर्र मन पर क्रोध था, नोट उसके सिवा किसी ने नहीं लिया। घर में कुल तीन प्राणी हैं और चौथा नथुआ है। मैंने उसका हाथ पकड़ा और थाने ले चला। वह घर से बाहर नहीं जाना चाहता था। द्वार से चिपट गया। मुन्ना ने खींच कर बाहर किया। हम दोनों चले। थाना सामने आ गया।

—अब भी बता दे—मैंने पूछा—नहीं तो फिर तू है और जेल है।

जेल !......नथुआ एक बार कांपा और फिर बोला—बाबू जी घर ले चलो। मैं रुपये अभी देता हूं।

ओफ कैसा पक्का चोर है, कितनी मुश्किल से कबूला है !......मैं उसे लौटा कर घर लाया, अपनी कुठरिया का एक कोना खोद कर उसने एक हंडिया निकाली उसमें से गिन कर रुपये निकाले, कुल पच्चासी रुपये निकले ?

—नोट तुड़ा कर उसने एक दिन में पन्द्रह रुपये खर्च भी कर डाले—पत्नी बोली।

—ज़रूर जुआ खेला होगा, हे भगवान ! इसी चोर-जुआरी को तुमने पांच बरस घर में रख के खिलाया-पहनाया।

नथुआ सिर झुकाए खड़ा रहा।

—बाबू जी इसे पुलिस में दे दो—मुन्ना ने राय दी।

परन्तु न जाने क्यों मुझे पुलिस वाली बात पसन्द नहीं आई...रुपये मिल ही गए थे, अब केवल पन्द्रह रुपयों के लिए थाना-पुलिस ! इसके लिए इतना ही दण्ड काफी होगा कि घर से निकाल दिया जाए। आखिर चोर को कोई घर में रखेगा ?—जाने दो रुपये तो मिल ही गए। बस इसे घर से निकाल दो...मैंने फैसला दिया।

—उठा बे अपना सामान और निकल जा घर से—मुन्ना गरजा।

—नथुआ ने किसी ओर नहीं देखा, अपना एक भी कपड़ा नहीं लिया, सिर झुकाए तेज़ी से भागता चला गया।

\+ \+ \+

नथुआ को गए आज पांचवां दिन था।

धोबी आया बैठा था, पत्नी घर भर में मैले कपड़े बटोरती घूम रही थीं। मुन्ना तरकारी लेने गया था और मैं आज भूखे ही आफिस जाने की तैयारी में व्यस्त था। यह कमबख्त नथुआ पांच बरस रह कर घर भर को नवाब बना गया था।

—सुनते हो!—अन्दर से पत्नी चिल्लाई—देखो तो नोट यह मिल गया।

—कहां?—मैं एक छलांग में अन्दर गया।

—मैंने अपने तकिए का गिलाफ उतारा तो उसमें से नीचे गिरा..... हाय! शायद उस दिन मैंने भूल से नोट सन्दूकची के बजाय तकिए के खोल में छिपा कर रख दिया था।

मैं स्तब्ध रह गया। पत्नी की भूल पर उन्हें डांटने तक के शब्द मुख से न निकले। भूल क्या मैंने नहीं की थी? गरीब लड़के को जिसने पांच वर्ष मन-प्राण से सेवा की बिना प्रमाण पीट-पीट कर अधमरा कर डाला, पुलिस में देने चला था।

पत्नी भी नोट पाने के हर्ष से पुलकित न होकर विषाद से भरी खड़ी रही, जैसे-तैसे कपड़े धोबी को दिए। दिन भर आफिस में मैं यही सोचता रहा...कहां होगा नथुआ? गरीब, निरपराध नथुआ कहां होगा? कैसे-कैसे कष्ट दिए उसे मैंने...... परन्तु उसके पास इतने रुपये आखिर कहां से आए। सन्ध्या को निरुद्देश्य सारे शहर का चक्कर लगाता रहा, कहीं नथुआ दिखाई दे जाए। फिर चार दिन और निकल गए।

उस दिन रविवार था। एक लाला-सा आदमी मेरा घर पूछता हुआ गली में आया।

—जी वो नथुआ आपके घर का लड़का था न, कहां गया इधर दस दिन से दुकान पर काम करने नहीं आता, क्या बीमार पड़ गया है? उसके बिना दुकान का बड़ा हरज होता है।

—दुकान का हरजा?—मैंने कहा—वो तो हमारा नौकर था।

—था तो सही, पर साल भर से दोपहर में वह हमारी दुकान पे बर्तन मांजे था, बड़ा अच्छा फुरतीला लड़का था। आठ रुपये में दस रुपये का काम करे था जी। कहवे था अपनी बहन के लिए सोने की हंसली गढ़वा के भेजेगा, पूरे डेढ़ सौ रुपये की हंसली। उसी के लिए तो वह रुपये जोड़ रहा था। भला आज के ज़माने में कौन भाई अपनी बहन पे इत्ता जी देवे है। क्या भला गया, हाय अपनी तनख्वाह के रुपये तो ले जाता।

लाला लौट गया। और मैं सोच रहा हूं, तो हांडी में उसकी दूसरी नौकरी के रुपये थे। हंसली के लिए जोड़े थे।....क्या नथुआ कभी मुझे मिलेगा?

—लखनऊ से प्रसारित



बुद्ध की करुण भावना

भिक्षु धर्मरक्षित

भगवान बुद्ध का सम्पूर्ण जीवन करुणा, मैत्री, प्रेम, अहिंसा, बन्धुत्व समदृष्टि एवं समता से परिपूर्ण था। यदि उनके जीवन की प्रत्येक घटना का इस दृष्टि से विचार किया जाए, तो उसकी एक भी श्रृंखला इसके विपरीत जाती न मिलेगी। तथागत की करुणा अथाह थी। उन्होंने करुणा से द्रवित हो कर रोगियों की सेवा की, भूखों को भोजन दिया, मार्ग भूले हुए लोगों को सन्मार्ग दिखलाया, दुखियों का दुख दूर किया, संग्राम के लिए उद्यत व्यक्तियों को शान्त किया, सैकड़ों मील पैदल चल कर तृषितों की प्यास बुझाई। उन महाकारुणिक ने हम आर्त प्राणियों पर दया कर हमारे ही हित के लिए पैदल यात्रा की। कैसे थे वह प्रभु ! जिन्होंने कष्ट उठा कर हमें सुखी बनाने का सदा प्रयत्न किया।

वह महावैद्य थे। उन्होंने रोगी मानव के रोग को शान्त करने के लिए चरण बढ़ाया, सन्तप्त प्राणियों को शीतलता प्रदान की, अशान्त वातावरण को शांत किया और तृषित मानव के लिए धर्मामृत की वर्षा की। कैसे थे उनके भाव और कैसा सुखकर था उनका दर्शन ! जो उनके पास आते वे तृप्त हो बोल उठते—श्रमण, तुम्हारी छाया सुखकर है; तथागत, तुम्हारी शरण कल्याणकर है; लोकनाथ, तुम्हारे गुण अनन्त हैं; भगवान, तुम अनन्त ज्ञानी और सर्वज्ञ हो।

तथागत दुखी एवं पीड़ित प्राणियों के उद्धार के लिए महाकरुणा के साथ संसार को देखते थे। जब वह संसार को रागाग्नि, मोहाग्नि और द्वेषाग्नि से जलते देखते तब उनसे रहा नहीं जाता और वह उसे बचाने का प्रयत्न करने लगते। उनके लिए सभी प्राणी समान थे। उनकी करुणा की धारा सब पर समान रूप से प्रवाहित होती थी। उन्होंने अंगुलिमाल जैसे शस्त्रधारी डाकू पर भी अपने मैत्री बल से विजय प्राप्त कर ली। पुत्र-शोक में निमग्ना पटाचारा के पश्चात्ताप को उन्होंने शान्त कर दिया।

और देखिए उन महाकारुणिक की लीला को—रोहिणी नदी के किनारे पानी के लिए उठे युद्ध को उन्होंने शीघ्र जाकर शान्त किया। कोसल-नरेश के पुत्र विड्डभ ने सिंहासनारूढ़ होने पर शाक्यों से उनके कुकर्मों का बदला लेना चाहा। उसने खूब तैयारी के साथ उन पर आक्रमण कर दिया। जब उन करुणावतार की दृष्टि इस पर पड़ी, तब उन्होंने धूप-गर्मी का खयाल न किया। वह विड्डभ के मार्ग में एक छाया विरहित वृक्ष के नीचे पहले ही से जा बैठे और उसके आने पर उपदेश देकर उसे लौटा दिया। उनके जीवनकाल में मगध-नरेश अजातशत्रु ने भी लिच्छवियों पर चढ़ाई नहीं की। सब प्राणियों पर उनकी कैसी अनन्त करुणा थी !

तथागत का ध्यान सदा गरीबों पर बना रहता था। वह क्षुधित, तृषित एवं पीड़ितों की सेवा के लिए नित्य तत्पर रहते थे। एक दिन प्रातःकाल जब वह सारे संसार पर करुणा-दृष्टि डाल कर देख रहे थे, तब उनका ध्यान एक ऐसे दरिद्र की ओर गया, जिसका कोई

सहायक न था । वह प्रातःकाल ही कुछ भिक्षुओं को साथ लेकर चल दिए । तथागत को उस गांव में आया देख, दरिद्र यह सोच कर बहुत प्रसन्न हुआ कि भगवान का उपदेश सुनने को मिलेगा, किन्तु उसी दिन उसका एक बैल जंगल में खो गया । उसने सोचा कि यदि बैल को अभी नहीं लाता हूं, तो फिर नहीं मिलेगा । अतः वह जंगल में बैल खोजने चला गया । इधर गांव वालों ने समय पर भगवान और भिक्षु-संघ को भोजन कराया तथा उपदेश सुनने के लिए चारों ओर से घेर कर बैठ गए । उन करुणावतार ने सोचा कि जिसके लिए मैं आया, वही नहीं है, अतः जब तक वह नहीं आता है, तब तक उपदेश नहीं करूंगा ।

उधर खोजते-खोजते उसका बैल कहीं दोपहर में मिला । बैल को घर लाकर खूंटे में बांध देने के बाद वह दौड़ा-भागा भगवान के पास आया । उसने सोचा कि उपदेश तो अब समाप्त ही हो चुका होगा, लेकिन कम-से-कम वहां पहुंच कर तथागत के श्रीचरणों में प्रणाम तो कर लूं । जब वह भगवान के पास पहुंचा, उस समय भूख के मारे उसके ओंठ सूख गए थे, चेहरा कुम्हला गया था । भगवान ने उसकी मुखाकृति देख कर उसके भूखा होने को जान लिया और आयुष्मान आनन्द से पूछा—भिक्षु-संघ से कुछ भोजन बचा है ?

—हां भन्ते !

—तो इस भूखे को भोजन दो ।

जब वह खा चुका और उसका मन शान्त हो गया, तब भगवान ने उपदेश किया । उसी उपदेश को सुन कर उसने ज्ञान प्राप्त कर लिया । वह अर्हत हो गया । भगवान ने उसी दिन भिक्षुओं को उपदेश किया—भूख सबसे बड़ा रोग है ।

उन करुणानिधान की रोगियों के प्रति दया देखिए—तिस्स नामक एक भिक्षु के शरीर में छोटी-छोटी फुंसियां निकलीं, जो बढ़ती गईं । अन्ततोगत्वा उसके सारे शरीर में बड़े-बड़े घाव हो गए और उनमें से दुर्गन्ध निकलने लगी । भिक्षु उसकी सेवा करने से दूर भागने लगे । वह बिछावन पर पड़ा अकेले कराह रहा था । उसके सारे शरीर में घावों से बहे पीव से चीवर चिपक गए थे । परमकारुणिक तथागत की जब उस पर दृष्टि पड़ी, तब उनके हृदय में असीम करुणा उत्पन्न हुई । उन्होंने देखा कि उनका अपना ही तिस्स मरने के लिए छोड़ दिया गया है । वह गन्धकुटी से निकले । पानी गर्म करने वाले विहार में गए । उन्होंने पानी गर्म कराया और तिस्स को नहलाने के लिए उठाने लगे । भिक्षुओं ने जब यह देखा तो चारों ओर से भगवान को घेर लिया और उसे नहलाने के लिए प्रार्थना की । किन्तु उन करुणामूर्त्ति ने तिस्स के सभी कपड़े गर्म पानी में धुलवा कर धूप में डलवा दिए और स्वयं पानी गिरा-गिरा कर तिस्स को उसी प्रकार नहलाया, जिस प्रकार मां अपने इकलौते पुत्र को नहलाती है ।

जब पीड़ा कम होने पर शांत और प्रसन्न मन हो तिस्स चारपाई पर लेटा, तब भगवान ने कहा—भिक्षुओ ! तुम्हारे माता-पिता नहीं हैं, जो तुम्हारी सेवा करेंगे । यदि तुम परस्पर एक-दूसरे की सेवा नहीं करोगे, तो कौन करेगा ? जो रोगी की सेवा करता है, वह मेरी सेवा करता है ।

उन करुणामूर्त्ति ने जहां अजातशत्रु जैसे पितृघातक को शरण दी, वहां अम्बपाली, विमला, अड्ढकासी आदि गणिकाओं का भी उद्धार किया । अपने शिष्यों के प्रति भी उनकी दृष्टि सदा वैसी ही रही । राजगृह में विहार करते समय महापन्थ ने अपने मूढ़ प्रज्ञ भाई चूलपन्थ को विहार से घर चले जाने को कहा और उसके लिए आए हुए जीवक के निमन्त्रण को भी अस्वीकार कर दिया । यद्यपि चूलपन्थ घर जाना नहीं चाहता

था, वह चीवर छोड़ कर गृहस्थ बनना नहीं पसन्द करता था, फिर भी अपने बड़े भाई के इस व्यवहार के पश्चात वह घर जाने के लिए बाध्य हुआ। उसने सोचा……दिन में विहार से घर जाने में हंसी होगी, सब लोग देखेंगे, कौन-सा मुख लेकर घर जाऊंगा। अतः बड़े तड़के अंधेरे में उठ कर चला जाऊंगा, उस समय कोई नहीं देख पाएगा।

उन करुणावतार ने भोर के समय जब अपने करुणा-जाल को फैलाया, तो उसमें चूलपन्थ को पाया। उसके हृदय की भावनाओं को जान, उन्हें महाकरुणा हो आई। वह चूलपन्थ के जाने के पूर्व ही विहार के द्वार पर जाकर टहलने लगे। जब चूलपन्थ घर जाने के लिए निकला और द्वार पर पहुंचा, तब उन्होंने पूछा—कौन है?

—भन्ते! मैं चूलपन्थ हूं।

—इतने भिनसारे कहां जा रहा है?

—भन्ते, मैं गृहस्थ हो कर रहने के लिए घर जा रहा हूं?

—ऐसा क्यों भिक्षु?

यह सुनते ही चूलपन्थ का कण्ठ अवरुद्ध हो गया। उसने किसी प्रकार सारा वृत्तान्त कह सुनाया। तथागत ने अपने कोमल हाथों से उसके सिर को सहलाते हुए कहा—भिक्षु, तू मेरे पास प्रव्रजित हुआ है। मैं तो तुझे घर जाने को नहीं कहता।

तथागत ने उसे प्रेमपूर्वक गन्धकुटी में लाकर भावना-विधि बतलाई और अर्हत्व प्राप्त करा दिया। वह चूलपन्थ महाऋद्धिमान भिक्षु बन गया। यह थी तथागत की अपार करुणा।

श्रावस्ती में अकाल पड़ा था। दूसरे मतावलम्बी साधारण साधु पेट भर भोजन न मिलने पर जेतवन में भगवान के पास आए। भगवान ने सबके लिए भोजन का प्रबन्ध किया।

एक बार भगवान बुद्ध राजगृह से नालन्दा जा रहे थे। उनके पीछे-पीछे सुप्रिय परिव्राजक अपने शिष्य ब्रह्मदत्त के साथ भगवान की अनेक प्रकार से निन्दा करता हुआ चल रहा था। भिक्षुओं ने यह बात भगवान से कही। इस पर उन करुणावतार ने कहा—भिक्षुओ, यदि कोई मेरी, धर्म या संघ की निन्दा करे, तो तुम लोगों को उससे बैर, असंतोष और चित्त में कोप नहीं करना चाहिए। यदि कोई मेरी, धर्म या संघ की प्रशंसा, करे तो तुम्हें उससे आनन्दित, प्रसन्न और हर्षोत्फुल्ल भी नहीं होना चाहिए। यदि निन्दा-प्रशंसा सुन कर दुख-सुख का अनुभव करोगे, तो उसमें तुम्हारी ही हानि है।

तथागत के करुणा-प्रवाह की थाह नहीं। वह अथाह और अनन्त था। जिससे सुनक्खत्त लिच्छवि जैसे अप्रसन्न रहने वाले व्यक्ति भी उनकी प्रशंसा करते थे। देवदत्त जैसा विरोधी भी अन्त में इस प्रकार उनका गुणगान करता हुआ शरण में आया—

इमेहि अट्ठीहि तमग्गपुग्गलं
देवातिदेवं नरदम्म-सारथिं।
समन्तचक्खुं सतपुंजलक्षणं
पाणेहि बुद्धं सरणं गतोस्मिं—

हे संसार के सर्वश्रेष्ठ पुरुष, देवताओं के भी उत्तम देवता, मनुष्यों को दमन करने वाले सारथी स्वरूप, सभी दिशाओं में सब कुछ देखने वाले, सैकड़ों पुण्य लक्षणों से युक्त, भगवान बुद्ध! मैं अपने शरीर की इन सम्पूर्ण हड्डियों तथा प्राण के साथ आपकी शरण में गया हुआ मानव हूं।

उन करुणानिधान के करुणा-प्रवाह में बहने का जिन्हें सौभाग्य प्राप्त हुआ, वे कितने कृतपुण्य थे, हमारे लिए तो उन करुणावतार तथागत की पुण्य स्मृतियां ही अवशेष हैं। उन अनन्त कारुणिक बुद्ध को बार-बार प्रणाम! —इलाहाबाद से प्रसारित

भारत वैजयन्ती

वी० सीतारामय्या

सुपर्णा सदृश पंख खोलें गगन में
उड़ी, फिर उड़ी वैजयन्ती हमारी !

भवन-शैलनिर्मित, हरिद्युत धरातल,
विकल हैं पुलक से विपिन गिरि सरित-जल !
हृदय का अतल खोल कर सप्त सागर
लड़ी मोतियों की रहे कर निछावर !
विरुद विश्वमैत्री लिखे मोतियों से
नखत-ग्रह-जड़े व्योम-पथ पर सिधारी !

सुपर्णा सदृश पंख खोले गगन में
उड़ी फिर उड़ी वैजयन्ती हमारी !

सकल देश, सब राष्ट्र, बांधव परस्पर,
सकल जन रहें नित्य सहयोग-तत्पर,
यही शुभ्र यशकीर्ति अर्जित करें सब,
हमारी ध्वजा का दिशाव्याप्त कलरव !
गुंजाता चला जा रहा दस दिशाएं
यही शुभ्र संदेश अम्बरविहारी !

सुपर्णा सदृश पंख खोले गगन में
उड़ी, फिर उड़ी वैजयन्ती हमारी !

पसारे युगल पंख उड़ती पताका,
वही शस्यश्यामा, वही रत्नराका !
सकल विश्व के हित हृदय स्नेह-आंगन,
त्रिलोकी बनी मातृगृह-सी सुहावन !
मिलेगा कहां और सद्भाव ऐसा,
अखिल विश्व-पोषक, निखिल द्वेषहारी !

सुपर्णा सदृश पंख खोले गगन में
उड़ी, फिर उड़ी वैजयन्ती हमारी !

हुई अवतरित शक्ति, शत सेतु बांधे !
बंधे ऐक्य में सब मिला केतु-कांधे !
नए कूल-उपकूल सींचे-संवारे,
बहाए धरा पर सदा नीर धारे !
सजाए नए ताल मंगलकलश-से,
दिया अन्न-जल लोक-कल्याणकारी !

सुपर्णा सदृश पंख खोले गगन में
उड़ी, फिर उड़ी वैजयन्ती हमारी !

गृहों-गोपुरों के कलश स्वर्णमंडित,
दृगों ने नई ज्योति पाई अखंडित !
कभी जब कहीं सिर अनय ने उठाया,
उठी दृष्टि, हर बार नीचा दिखाया !
तरंगावली ने सदा पांव धोए,
भरे थाल से आरती भी उतारी !

सुपर्णा सदृश पंख खोले गगन में
उड़ी, फिर उड़ी वैजयन्ती हमारी !

अबुध आंधियों से रही नित्य ऊपर,
चतुर्दिक रही शांति की ज्योति भू पर !
अथक शांति की वैजयन्ती फहरती,
गगन में निरापद मगनमन लहरती !
चमकती ध्रुवा बन, दमकती प्रभा बन,
मधुर मातृ छवि व्योम-पट पर उतारी !

सुपर्णा सदृश पंख खोले गगन में
उड़ी, फिर उड़ी वैजयन्ती हमारी !

[रूपान्तरकार : नरेन्द्र शर्मा] —दिल्ली से प्रसारित

मेरी दृष्टि में नई कविता

सुमित्रानन्दन पंत

'नई कविता' के सम्बन्ध में इधर कुछ वर्षों से पुस्तकों और विशेषकर मासिक पत्र-पत्रिकाओं में जो लेख तथा निबन्ध प्रकाशित हो रहे हैं, उनसे इस नवीन साहित्य-स्रोतस्विनी के मर्म मधुर मुखर सौंदर्य पर पर्याप्त प्रकाश पड़ चुका है। यह ठीक है कि ये निबन्ध या तो मुख्यतः 'नई कविता' के व्याख्याताओं तथा पक्षपातियों की ओर से लिखे गए हैं, जिनमें प्रायः ही नई काव्य-प्रवृत्तियों के बारे में अतिरंजनाओं तथा अतिशयोक्तियों का बाहुल्य मिलता है, या ये आलोचनात्मक लेख विपक्षियों की लेखनी से निःसृत हुए हैं, जिनमें नई कविता के सम्बन्ध में पूर्वग्रह जनित आक्षेप ही अधिकतर पाए जाते हैं। इस प्रकार के दृष्टिकोण एकांगी होने के कारण इस नवीन साहित्य-धारा को समझने के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकते, क्योंकि सत्साहित्य को न पूर्वग्रहपीड़ित आलोचनाएं ही मार सकती हैं, और न अतिरंजित व्याख्याएं ही उसे दीर्घ जीवन प्रदान कर सकती हैं। किसी भी साहित्य-धारा का उपयोगी अध्ययन तभी सम्भव हो सकता है, जब हम उस पर निष्पक्ष, संतुलित एवं सहानुभूतिपूर्वक विचार करें।

जैसा कि मैंने अन्यत्र भी लिखा है, आज के युग-जीवन और अंतश्चेतना को वाणी देने के लिए छायावाद, प्रगतिवाद, और प्रयोगवाद, जो अब नई कविता का रूप ग्रहण कर रहा है, तीनों ही एक-दूसरे के पूरक के रूप में पाए जाते हैं। उनमें छायावाद आदर्श मूलक है, जो युग जीवन के आदर्श की दिशा की ओर इंगित करता रहा है, प्रगतिवाद सामूहिक यथार्थ का प्रतिनिधित्व करता आया है, और हमारी सामाजिक संघर्ष की बहिर्मुखी वास्तविकता को वाणी देता रहा है तथा प्रयोगवाद एवं नई कविता हमारे व्यक्तिगत जीवन के अंतर्यथार्थ की गहराइयों पर प्रकाश डालती आई है। काव्य की यह नई धारा मानव-अंतर के माधुर्य—सौंदर्य, विषाद-करुणा, भय-संशय, अनास्था, विवेक-चिन्तना तथा कभी प्रज्ञा को भी काव्य के धूप-छांह पट में गूंथने का प्रयत्न करती आ रही है। यह नई धारा हिन्दी में ही नहीं विदेशी भाषा साहित्यों में भी अपने विशिष्ट गुण तथा व्यक्तिव लेकर प्रकट हुई है और इन सभी भाषाओं की कविताओं में अनेक प्रकार की समान गुणधर्मा प्रवृत्तियों का आकलन प्रचुर मात्रा में पाया जाता है।

नई कविता में अनेक विशेषताएं देखने को मिलती हैं। प्रथमतः यह सामयिक यथार्थ की भावना को अभिव्यक्त करती आई है। इस युग की अनेक छोटी-मोटी दैनंदिन की समस्याओं से नए कवि का भावप्रवण संवेदनशील मन उलझा रहता है। वह उनके सूक्ष्म आघातों की संवेदनाओं को शीत-ताप मापक यंत्र की तरह भाव सौंदर्य के विविध धरातलों पर अंकित करता रहता है। नया कवि जहां युग संक्रान्ति के वैषम्य तथा वैचित्र्य को चित्रित करने का प्रयत्न करता है, वहां उसके भीतर निहित मूल्यों की ओर भी दृष्टिपात करना नहीं भूलता। यद्यपि उसकी अनुभूति में अभी अधिक गहराई के दर्शन नहीं होते पर उसकी अभिव्यक्ति की नवीनता, उसका संवार, सजीवन तथा उसका चमत्कार बरबस पाठकों का ध्यान आकर्षित किए बिना नहीं रहता। अधिकांश कवि तो अभिव्यक्ति को मांजने और उसके लिए नए-नए अलंकार तथा बिम्ब खोजने

ही में खो जाते हैं; उनके रूप विधान की भूल-भुलैया में से जीवित भावना या आत्मा को ढूंढ़ निकालना कठिन हो जाता है या सम्भवत: उनकी कविता केवल एक साज, एक बनाव, अथवा एक कोरा अलंकरण ही होकर रह जाती है, उसके भीतर भावना या अनुभूति की उपलब्धि कुछ भी नहीं होती। ऐसे कवियों की संख्या नए कवियों में मेरी दृष्टि में हिन्दी में अधिक पाई जाती है। किन्तु ऐसे नए कवि भी निःसंदेह, सौभाग्यवश वर्तमान हैं, जिनकी रचनाएं हृदय को गंभीरता-पूर्वक स्पर्श करती हैं और जो वर्तमान युग के संघर्ष-संशय के वातावरण में निर्माण की नई दिशाओं से सम्बन्ध रखते हैं और अपने प्रति मुख्यत:, तथा विश्व जीवन के प्रति गौणत: आस्थावान भी हैं। यह ठोस आस्था कभी-कभी उनमें अहम् का खोखला रूप धारण कर लेती है और यह अहम् भावना जहां बाहर के कलुष, संशय और निराशा से लड़ते-लड़ते प्राय: अत्यन्त निर्मम कुरूप तथा कठोर रूप में अभिव्यक्त होती है, वहां कभी-कभी उसका बड़ा सुन्दर, संस्कृत, सुरुचिपूर्ण, मधुर स्वरूप भी देखने को मिलता है, जो स्वयं काव्य का एक उपादान बन कर मन को मुग्ध करने की क्षमता रखता है।

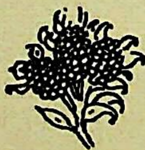
प्रतिष्ठित मान्यताओं, प्रचलित काव्य पद्धतियों, प्रतिमाओं तथा शब्दों के प्रति उपेक्षा, विरक्ति तथा विद्रोह की भावना भी नई कविता की एक विशेषता है। नया कवि अपने युग-जीवन के यथार्थ तथा व्यक्तिगत परिस्थितियों से ऐसा चिपका हुआ है कि परम्परा तथा प्रतिष्ठित मूल्यों के प्रति अपनी अनास्था प्रकट करते हुए भी वह उनके जोड़ की नई मान्यताओं को जन्म देने में अभी समर्थ नहीं हो सका है। किन्तु इस विद्रोह से वह जिस नवीन विशेषीकरण की ओर अग्रसर हो रहा है, सम्भव है, वह आगे चल कर उसकी उपलब्धियों को नवीन महत्वपूर्ण ऊंचाइयों की ओर ले जा सके। वास्तव में युग के विघटन का बोझ आज के कृतिकार की चेतना पर इतना अधिक है, कि उससे ईमानदारी से संघर्ष करने और अपने अंतर के विद्रोह को सफल-सबल वाणी देने में उसकी सृजन क्रिया अधिकतर परास्त हो जाती है। अपने अंतर की आस्था-विश्वास के बल पर वह, आज के आंधी-तूफान और गर्द-गुबार के भीतर से उगते हुए जिन नए शिखरों को देखने और ग्रहण करने का प्रयत्न करता है, वे फिर-फिर उसकी मनोदृष्टि से ओझल हो जाते हैं और उनके स्थान पर वह घृणा, उपेक्षा और विषाद के भुजंगों के सिर पर खड़े अपने आत्म-विश्वास की ही दुहाई देकर रह जाता है। प्रचलित प्रणालियों को छोड़ने के फलस्वरूप वह काव्य जगत को नई शैलियां, विधाएं, बिम्ब तथा साज-संवार के साधन प्रचुर मात्रा में प्रदान कर रहा है। इनमें चयन की आवश्यकता अवश्य ही पड़ेगी और अधिकांश बिम्ब तथा उपमा-अलंकरण खंडित, अपूर्ण तथा अपर्याप्त ही रह जाते हैं।

नए कवि का सबसे बड़ा गुण यह है कि वह निरन्तर सजग है और उसमें अथक प्रयत्न तथा अनुसंधान करने की क्षमता है। वह विघटित होते हुए भी मानव व्यक्तित्व का तटस्थ साक्षी बन सकता है। दुख पर—आत्मविघटन, जीवन संघर्ष और नव-निर्माण की क्लांति के दुख पर उसे अमिट आस्था है। प्रकाश को वह अन्धकार के छोर से, सुख को दुख के छोर से, अस्तित्व को अहं के छोर से और आस्था को संशय के छोर से पकड़ता है। इस प्रकार न वह अपने को भवानाओं के समुद्र में ही डूबने देता है और न विवेक के शिखर पर चढ़ कर वहां ठहरा ही रह सकता है।

नई कविता हिन्दी में एक प्रकार से छायावाद, प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद की उत्तरा-कारिणी बन कर आई है, अत: उसमें उपर्युक्त सभी प्रकार की चेतनाओं और भावनाओं के सूत्र गुंफित मिलते हैं। एक ओर उसमें रोमांटिक कवि नई शैली में अपनी रंगीन भावनाओं की डोरियों को सौन्दर्य शिल्प के चित्रात्मक विधान में गुंफित कर रहे हैं, तो दूसरी ओर सामाजिक यथार्थ तथा चेतना के उद्‌बोधक स्वर तथा सामाजिक वैषम्य से प्रेरित क्षुब्ध विद्रोह भरी सशक्त, गठी अभि-

व्यंजनाएं भी उसमें सृजन प्रक्रियाओं को गुरुत्व प्रदान करने में सफल हुई हैं। साथ ही उसमें संशय, नराश्य, कुंठा, अनास्था की खोखली कटुता तथा विद्वेष-घृणा भरी विघटित हो रही युगीन वास्तविकता का प्रयोगवादी चित्रण तथा निष्क्रिय, आत्मदंश भरे विषाक्त अहम् के भी अनेक रुद्ध-अतृप्त रूपों का गर्जन-तर्जन भाव बोध के क्षितिज को धुंधला बनाता हुआ, विषाद की घटा की तरह उमड़ता दृष्टिगत होता है। किन्तु नई कविता में छायावाद, प्रगतिवाद तथा प्रयोगवाद का सर्वांगीण संयोजन न मिलने के कारण वह इनकी शारद परिणति या प्रतिनिधि नहीं कही जा सकती। नए कवि के स्वर में बौद्धिकता तथा वैज्ञानिक यथार्थ के प्रति आकर्षण अथवा आस्था भी मिलती है। इनके माध्यम से वह वैयक्तिक स्वातंत्र्य को जीवन यथार्थ की भूमि पर प्रतिष्ठित करना चाहता है। किन्तु आज के यांत्रिक, भौतिक जीवन में स्वादहीन अवसाद को चीर कर उसकी रचनात्मक बुद्धि किसी व्यापक मानवीय सामाजिक वास्तविकता की तथा अधिक मानवीय वस्तुगत आदर्श की प्रतिष्ठा कर सकी है, अथवा उस दिशा की ओर अग्रसर हो रही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। उसके वैयक्तिक स्वातंत्र्य की पुकार बहुत हद तक केवल उसकी अहंता की पुकार अथवा युग के व्यक्ति की पुकार बन कर रह गई है। उसमें गतिशील रचनात्मक सामाजिक यथार्थ का कहीं लवलेश भी न होने के कारण वह आत्मरुचि तथा आत्मरति का द्योतक बन कर ही लगता है निःशेष हो जाएगी। इस प्रकार आज की नई कविता की चेतना नई मानव रचना या विश्व निर्माण की सूचक न हो कर केवल वैयक्तिक स्तर पर सृजनशील तथा संवेदनशील बन कर भावना-भूमि से ऊपर, सच्ची बौद्धिक भूमि पर नहीं उठ सकी है—ऐसी बौद्धिक भूमि जिसमें भावी मानव सभ्यता या संस्कृति का सत्य निहित हो अथवा मनुष्यत्व के मूल्य निखर कर सामने आए हों। वह भावना भूमि से नीचे उतर कर उस जीवन यथार्थ की भूमि पर भी अपने चरण नहीं स्थापित कर सकी है, जिसमें सामाजिक संकल्प का घनत्व होने के कारण आगे बढ़ने की सुविधा हो। वह केवल इन्द्रधनुष जड़े हुए मनोद्वेग के वाष्प पिंड की तरह अभिव्यक्ति की दृष्टि से, अधिक रंगीन, मोहक, सुन्दर, तथा स्वप्न बन कर रह गई है जिसमें प्रगति का सम्मोहन तो है, सौन्दर्य का सत्य भी है पर शिव का सत्य, लोक-मंगल तथा मानव का सत्य कहीं खोजने पर भी दृष्टिगोचर नहीं होता और मेरी दृष्टि में यही उसकी सबसे बड़ी कमी है। फिर भी नई कविता की भविष्य में अनेक सम्भावनाएं हो सकती हैं, और मैं इस शुद्ध साहित्यिक धारा का हृदय से स्वागत करता हूं।

– इलाहाबाद से प्रसारित



कथा में शिल्प

यशपाल

शिल्प का अर्थ विचारों के अनुसार रचना और निर्माण कर सकना है । शिल्प का प्रयोजन, उपयोगिता और सौन्दर्य दोनों की सृष्टि करना होता है । साधारण सुविधा के लिए शिल्प को उपयोगी शिल्प और ललित शिल्प, दो भागों में बांटा जा सकता है । ललित शिल्प का प्रयोजन प्रधानतः सौन्दर्य की सृष्टि करना अथवा प्रकृति में उपलब्ध सौन्दर्य को प्रतिबिम्बित करना रहता है।

ललित शिल्प अथवा ललित कलाओं में चित्रकार और मूर्त्ति निर्माण के साथ साहित्य की भी गणना होती है । चित्रकला अथवा मूर्त्तिकला द्वारा सौन्दर्य का निर्माण किया जाता है, इस विषय में विवाद की गुंजाइश नहीं है। चित्रकार अथवा मूर्त्तिकार कभी तो प्रकृति द्वारा सौन्दर्य की देन को चित्रित अथवा प्रतिबिम्बित कर देता है और कभी अपनी साधना के सौन्दर्य को । हिम शृंगों अथवा वसन्त की शोभा के चित्र इसी प्रयोजन को पूरा करते हैं । अत्यन्त सुन्दर शरीर को चित्र अथवा मूर्त्ति द्वारा समाज के लिए उपलब्ध कर देना है । चित्रकार अथवा मूर्त्तिकार भावों के सौन्दर्य को भी अंकित अथवा प्रस्तुत करते हैं । वीर रस, करुण रस अथवा शृंगार रस की अभिव्यक्ति करने वाली मूर्त्तियां अथवा चित्र इसी प्रयोजन को पूरा करते हैं।

चित्रकार और मूर्त्तिकार के शिल्प और कला का क्षेत्र और सीमा देखे जा सकने वाले सौन्दर्य ही हैं । चित्र अथवा मूर्ति-शिल्प इन सौन्दर्यों का कोई एक क्षण अथवा घूंट ही प्रस्तुत कर सकते हैं । चित्र अथवा मूर्त्ति शिल्प द्वारा यदि करुण रस का प्रदर्शन करने के लिए कोई चित्र या मूर्त्ति बनाई जाए तो वह करुणा उत्पन्न करने वाले प्रसंग के किसी क्षण-विशेष के दृश्य या भाव को ही व्यक्त कर सकेंगे, सम्पूर्ण प्रसंग को नहीं । परन्तु सृष्टि और जीवन में सभी कुछ प्रवाह और परिवर्तनमय है । रूप-सौन्दर्य और भाव-सौन्दर्य भी प्रवाहमय हैं। रूप और भाव के सौन्दर्य के प्रवाह को कोई एक चित्र अथवा मूर्त्ति समग्र रूप में प्रस्तुत नहीं कर सकते । उदाहरणतः किसी सम्पूर्ण घटना अथवा व्यक्ति के जीवन को एक चित्र अथवा मूर्त्ति समग्र रूप में प्रस्तुत नहीं कर सकते, यह काम कथा के शिल्प द्वारा ही हो सकता है।

सौन्दर्य का प्रयोजन मानसिक संतोष दे सकना और मनुष्य के जीवन को संतुष्ट और विकासशील बनाना है तथा शिल्प का प्रयोजन सौन्दर्य की रचना अथवा अभिव्यक्ति है। सौन्दर्य का क्षेत्र स्थूल जगत में ही नहीं, भाव जगत में भी है और उससे आगे विचारों और आदर्शों के जगत में भी है उदाहरणतः सत्यनिष्ठा का सौन्दर्य, कर्तव्यपरायणता का सौन्दर्य, बन्धु-भावना का सौन्दर्य, निःस्वार्थ कर्म का सौन्दर्य । ये सौन्दर्य मनुष्य समाज की आत्मा के पोषक हैं । जीवन को सौन्दर्य, संतोष और सामर्थ्य देकर उन्नत करने वाली इन भावनाओं को स्वयं अनुभव करके अथवा ग्रहण करके अपनी कल्पना द्वारा सबल और प्रभावशाली बना कर फिर समाज को देना कथा-शिल्प का प्रयोजन और कार्य है।

मानव समाज के आदर्शों और मान्यताओं की घोषणा कर देना एक काम है। यह काम स्मृतिकार या समाज के लिए नैतिकता की मान्यताओं को निश्चित करने वाले करते हैं, परन्तु इन मान्यताओं को विश्वास योग्य और रुचिकर ढंग से समाज के जीवन के लिए व्यवहार्य प्रमाणित कर देना कथा शिल्पी का ही काम है।

रामचरित मानस की रचना करते समय तुलसीदास जी का प्रयोजन मर्यादा पुरुषोत्तम राम के आदर्श द्वारा मानव समाज के लिए मर्यादाओं को उपस्थित करना था। तुलसीदास जी के विश्वास में राम साधारण मनुष्य नहीं, भगवान थे और सीता भी मर्त्यलोक की साधारण नारी नहीं, सृष्टि की आदि शक्ति थीं। परन्तु तुलसीदास मानव समाज के लिए व्यवहार्य मर्यादाओं को उपस्थित करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने कल्पना से उन मर्यादाओं का आचरण करने वाले राम और सीता को मर्त्यलोक के नर-नारियों जैसा रूप दिया। यह जानते हुए भी कि भगवान और आदि शक्ति भ्रम और दुख के बन्धनों में नहीं फंस सकते थे, तुलसीदास जी ने मनुष्यों द्वारा मर्यादाओं के आचरण का उदाहरण दे सकने के लिए राम और सीता को भ्रम से भटके और दुख से विभोर नर-नारी के रूप में दिखाना भी आवश्यक समझा। यही कथा-शिल्प का आदर्श समझा जा सकता है।

किसी भी वस्तु के शिल्प को समझने के लिए सीधा उपाय यह हो सकता है, कि उसकी निर्माण प्रक्रिया का परिचय पाया जाए। सम्भव हो सके तो उस वस्तु का अंग विच्छेद करके अथवा उसे उधेड़ कर उसके निर्माण और प्रक्रिया को समझ लिया जाए।

कथा-साहित्य की पाठ्य पुस्तकों के अनुसार कथा अथवा कहानी के छः तत्व हैं : एक कथा वस्तु, दूसरा पात्र तथा उनका चरित्र-चित्रण, तीसरा भाषा या शैली, चौथा पूरक घटनाएं, पांचवां वार्ता, और छठा परिस्थितियां। इन छः तत्वों के समीचीन समन्वय से कथा का निर्माण होता है। इन तत्वों के समीचीन समन्वय अथवा कथा-शिल्प की सफलता की कसौटी यह मानी जा सकती है कि जो घटना गढ़ी जाए वह पाठक या श्रोता का पूर्ण विश्वास पाकर उसे अभिभूत कर ले। इनमें से प्रत्येक तत्व का प्रयोग इस ढंग से होना चाहिए कि कहानी पाठक का पूर्ण विश्वास प्राप्त कर सके।

कथावस्तु या घटना कलाकार की अपनी देखी-सुनी भी हो सकती है और नितान्त कल्पित भी। घटना की कल्पना किसी सत्य का व्यावहारिक रूप प्रकट करने के लिए अथवा किसी मान्यता का विश्लेषण करने के लिए भी की जा सकती है। किन्तु यदि इस प्रकार की कल्पना की जाए तो वह कल्पना नितान्त व्यावहारिक होनी चाहिए। घटना को विश्वास योग्य बना सकने के लिए पात्रों की सृष्टि भी घटना विशेष के अनुकूल ही होनी चाहिए, अर्थात् उनका चरित्र इस प्रकार चित्रित किया जाना चाहिए कि वे सजीव जान पड़ें और उनसे उस प्रकार के व्यवहार की आशा की जा सके।

भाषा और शैली चरित्र के विकास में सहायक अथवा चित्रण के पूरक अंग होते हैं। इसलिए कहानी में भाषा का प्रयोग प्रसंग के अनुकूल और पात्र के भी अनुकूल होना चाहिए। उदाहरणतः मन्दिर के पुजारी की भाषा और अभिव्यक्ति, बोलचाल में उसके मुहावरे एक प्रकार के होंगे। वह विशेष प्रकार की उपमाओं का प्रयोग करेगा और एक लोहार की अभिव्यक्ति की शैली दूसरी ही प्रकार की होगी। वह दूसरी ही प्रकार की उपमाओं का प्रयोग करेगा।

पूरक घटनाएं यद्यपि कहानी के मुख्य ढांचे के साथ उसे भरने के लिए लगाई जाती हैं, परन्तु उनका महत्व बहुत अधिक होता है। वही वास्तव में पात्रों के चरित्र का विकास

करती हैं और कहानी को पाठकों और श्रोताओं के विश्वास में गहरा बैठा सकती हैं। उदाहरण के लिए रामचरितमानस में सीता के चरित्र से इस प्रकार की एक घटना को लीजिए। राम, लक्ष्मण और सीता मार्ग पर चले जा रहे थे। उन्हें देख कर ग्राम-वन्धुओं को कौतूहल हो रहा था, परन्तु उस कौतूहल के कारण ग्राम-बन्धुओं ने राम-लक्ष्मण से नहीं सीता से ही प्रश्न किया कि ये श्यामवर्ण भव्य-दर्शन पुरुष कौन है। सीता ने कटाक्ष से मुसकरा कर लक्ष्मण की ओर संकेत कर बताया कि ये मेरे देवर हैं और जो आगे चल रहे हैं, वे इनके भाई हैं।

उपर्युक्त प्रसंग का जीवन की मर्यादाओं से कोई सम्पर्क नहीं है, परन्तु यह पूरक घटना और इसका अत्यन्त हृदय-ग्राही और यथार्थ चित्रण पाठक को विश्वास के सूत्रों से जकड़ लेता है और कथा की पृष्ठभूमि में समाज के व्यवहार का पूरा प्रतिविम्ब भी उपस्थित कर देता है।

कथा में वार्ता का प्रयोजन कथा में गति देने के लिए और कथा के प्रयोजन को प्रकट करने के लिए होता है। रामचरितमानस का अधिकांश भाग वार्ता ही है। वार्ता में यथार्थ की रक्षा के लिए शिल्पी को बहुत सावधान रहना आवश्यक है।

परिस्थितियां कहानी का आधार होती हैं, जिन पर कहानी को स्थापित किया जाता है। उसके बिना कहानी वैसे ही गिर पड़ेगी जैसे बिना जड़ का वृक्ष खड़ा नहीं रह सकता।

कथा-शिल्प में और भी महत्वपूर्ण बातें रहती हैं जैसे कहानी का शीर्षक। शीर्षक द्वारा पाठक का कथा से पहला सम्पर्क होता है। यदि शीर्षक पाठक का कौतूहल जगा सकता है, तो वहीं कहानी की सफलता का आरम्भ हो जाता है। इसके पश्चात कहानी का आरम्भ भी इस प्रकार का होना चाहिए कि पहले कुछ शब्द ही पाठक की रुचि को बांध लें। इसके लिए कोई एक ही विधि नहीं बताई जा सकती। यह शिल्पी के अपने चुनाव पर निर्भर करता है। अन्त के विषय में भी कहना आवश्यक है कि वह इस प्रकार घटे कि पाठक पर अपनी गहरी छाप छोड़ दे। प्रायः ही यह समझा जाता है कि अन्त का आभास पाठक का कौतूहल जागरित रखने के लिए समाप्ति से पूर्व न हो सके। बहुत हद तक यह बात ठीक है, परन्तु शिल्पी अपने चातुर्य से जाने हुए अन्त में भी ऐसा भावोद्रेक उत्पन्न कर सकता है कि पाठक के मन में उत्पन्न हो चुकी भावना एक बार और अधिक उद्दीप्त हो जाए।

एक प्रश्न यह है कि कहानी की श्रेष्ठता की कसौटी क्या होनी चाहिए? कहानी की श्रेष्ठता उससे प्राप्त होने वाले उपदेश या आदर्श से आंकी जानी चाहिए अथवा उसके निर्वाह और शिल्प चातुर्य से। इसका उत्तर स्पष्ट है। कहानी का प्रयोजन केवल नैतिक मान्यताओं की घोषणा करना नहीं है, बल्कि रसोद्रेक द्वारा नैतिकता और मान्यता को ग्राह्य रूप में उपस्थित करना है। इसलिए प्रेमचन्द जी की दो कहानियों 'नमक का दारोगा' और 'कफन' में से कला की दृष्टि से 'कफन' को ही मान्यता दी जाती है। वह कहानी केवल दलित मानव का चित्रण होने पर भी अत्यन्त प्रिय हुई है। अनेक भाषाओं में उसका अनुवाद हो जाना इसका प्रमाण है।

कुछ लेखक प्रेरणा को बहुत महत्व देते हैं। यदि प्रेरणा का विश्लेषण और स्पष्टीकरण किया जाए तो उसे हम कथाकार या कथा-शिल्पी की अपनी अनुभूति कहेंगे, जो उसमें अभिव्यक्ति के लिए इच्छा और स्फूर्ति उत्पन्न करती है। ऐसी प्रेरणा के लिए समाज के

जीवन और समस्याओं के प्रति जागरूक रहना आवश्यक है । परन्तु प्रेरणा से अभिव्यक्ति की इच्छा और उसके लिए स्फुरण उत्पन्न हो जाने से ही कहानी नहीं बन जाती । उसके लिए एक प्रक्रिया की आवश्यकता होती है, जिसे अभिव्यक्ति का शिल्प कहा जा सकता है । यह शिल्प साधना और अभ्यास के बिना पूर्ण और परिष्कृत नहीं हो सकता ।

—इंदौर से प्रसारित



बुनियादें और दूसरी मंजिल

उपेन्द्रनाथ 'अश्क'

खारी बावली दिल्ली में भूतपूर्व पोस्ट मास्टर लाला हुकूमतराय चले जा रहे थे, कि आगे से अचानक उनके बचपन के साथी पंडित वीरभान मिल गए। बरसों बीत गए थे उन्हें मिले हुए। दोनों बड़े तपाक से आलिंगनबद्ध हो कर मिले। जब अलग हुए और दोनों की सांस कुछ दुरुस्त हुई तो लाला जी ने पूछा —सुनाओ पंडित, आजकल कहां कयाम है। दिल्ली में कैसे ?

—हम तो यहीं रहते हैं ।

—यहीं कहां ?

—खारी बावली में ?

—खारी बावली में, कहां ?

—अनार की गली में ।

—अनार की गली में किस मकान में ?

—सेठ बनवारीलाल के मकान में ।

—बनवारीलाल के मकान में !—सहम कर पंडित जी ने पूछा ।

—क्यों, उसमें क्या बात है ?

—हम उसी में रहते थे—लाला जी ने कहा ।

—अच्छा, फिर क्या हुआ ?

—उसकी बुनियादें ही गली हुई हैं ।

पंडित वीरभान ने सुख की सांस ली, बोले—कोई बात नहीं, हम ऊपर की मंजिल में रहते हैं ।

—इलाहाबाद से प्रसारित

तारे, उनकी उत्पत्ति, भेद तथा गतियां

डा० सम्पूर्णानन्द

सूर्यके साथ तारों की सजातीयता का स्पष्ट ज्ञान पुराने जमाने में लोगों को नहीं था। अशिक्षित लोगों के लिए तो तारे छोटे-छोटे चमकीले बिन्दु हैं, जो आकाश में जड़े हुए हैं। अशिक्षित ही नहीं बहुत दिनों तक शिक्षित लोग भी ऐसा ही मानते थे। भारतीय ज्योतिषियों ने कोई स्पष्ट मत नहीं प्रकट किया, यद्यपि उनकी ऐसी धारणा प्रतीत होती है कि तारे भी चन्द्रमा की तरह पिंड हैं। तारों की दूरी के सम्बन्ध में भी उन्होंने जो अटकल लगाए हैं, वे वास्तविकता से बहुत दूर हैं।

तारों को संस्कृत में नक्षत्र भी कहते हैं जैसा कि ग्रहों के सम्बन्ध में कहा जा चुका है। ग्रह और नक्षत्र में एक बड़ा अन्तर यह है कि ग्रह घूमते रहते हैं और नक्षत्र अपनी जगह नहीं बदलते। यह तो बराबर ही देख पड़ता है कि नक्षत्र पूर्व में उदय होते हैं और पश्चिम में जाकर डूबते हैं। उनके उदय होने का समय भी बदलता रहता है। कुछ नक्षत्र कुछ दिनों तक देख नहीं पड़ते। इन सब बातों के होते हुए भी नक्षत्रों को अचल कहने का अर्थ यह हुआ कि उनकी ये सब गतियां असली नहीं हैं, बल्कि पृथ्वी की गति के कारण उन पर आरोपित हो जाती हैं। पृथ्वी अपनी धुरी पर पश्चिम से पूर्व की ओर घूमती है, इसलिए नक्षत्र पूर्व से उदय हो कर पश्चिम की ओर डूबते देख पड़ते हैं। साधारणतः ऐसा माना जाता है कि अपनी धुरी पर घूमने में पृथ्वी को २४ घण्टे लगते हैं। वास्तविक काल २३ घण्टा ५६ मिनट है। इसलिए प्रत्येक नक्षत्र रोज पहले दिन से चार मिनट पहले उदित होता है। यह नित्य के चार मिनट जुड़ते-जुड़ते घण्टों का रूप ले लेते हैं। इसी तरह पृथ्वी जब सूर्य की परिक्रमा करती है, तो अपनी यात्रा में कुछ नक्षत्रों को पीछे छोड़ देती है और कुछ जो आंख से ओझल थे, सामने आ जाते हैं। बस इसके सिवा नक्षत्र गतिहीन प्रतीत होते हैं। जो नक्षत्र जिस नक्षत्र से जितनी दूरी पर और जिस दिशा में आज देख पड़ता है, आज से कई हज़ार वर्ष पहले भी वहीं था और दस हज़ार वर्ष बाद भी वहीं रहेगा—लोगों की साधारणतः यही धारणा थी, परन्तु अब यह स्पष्ट हो गया है कि यह धारणा भ्रान्त थी। नक्षत्र भी गतिमान हैं और उनकी गतियां भी काफी तेज़ हैं। परन्तु उनकी दूरी इतनी अधिक है कि बहुत दिनों में गति का पता लगता है। आज से दस-पन्द्रह हज़ार वर्ष बाद का ज्योतिषी यदि आज के बने हुए आकाश के नक्शे से अपने समय के आकाश-चित्र को मिला सकेगा तो उसको कई जगह अन्तर देख पड़ेगा। तारों की दूरी के कारण ही वह हमको प्रकाश के बिन्दु जैसे छोटे देख पड़ते हैं। इस समय तक की जानकारी के आधार पर ऐसा विदित होता है कि आल्फा सेन्टोरी नाम का नक्षत्र हमारा शायद सबसे निकट पड़ोसी है। उसका प्रकाश हमारे पास लगभग ३।। ज्योति वर्ष में आता है। इससे उसकी दूरी का हिसाब लगाया जा सकता है। यह स्मरण रहे कि सूर्य का प्रकाश साढ़े आठ मिनट में पृथ्वी पर पहुंच जाता है।

आज की खोजों से यह स्पष्ट है कि प्रत्येक तारा एक सूर्य है। सभी तारों का आकार बराबर नहीं है और न सबका रंग एक सा है। हमारे सूर्य की गिनती छोटी आकृति के तारों में है। उस वर्ग को वामन वर्ग, बौनों का वर्ग कहते हैं। हमारे सूर्य का रंग पीत प्रधान है। बहुत से तारे लाल, नीले और श्वेत रंग के होते हैं। बहुत से तारे हमारे सूर्य से बड़े हैं। जिस तारे को आर्द्रा (Betelgeuse) कहते हैं, वह सूर्य से चार सौ गुणा बड़ा है। इन तारों के साथ ही ग्रह भी हो सकते हैं, पर स्वयं तारे इतने छोटे देख पड़ते हैं तो ग्रहों के देख पड़ने की क्या सम्भावना हो सकती है।

साधारण मनुष्य के लिए तो सूर्य दहकती आग का गोला है और यदि तारे भी सूर्य के समान हैं तो वह भी अग्नि-पिंड ही होंगे। परन्तु आग शब्द कह देना पर्याप्त नहीं है। जिसको हम आग कहते हैं, वह कई प्रकार के गैसों का मिश्रण है। इन गैसों के बीच में बहुत छोटे-छोटे ठोस कण भी हैं, जो ऊंचे तापमान के कारण चमकने लगते हैं। यह अनुमान हो सकता है कि सूर्य और दूसरे तारों में भी इस प्रकार की गर्म गैसें होंगी। इस अनुमान की पुष्टि रश्मिविश्लेषक यन्त्र (स्पेक्ट्रोस्कोप) के द्वारा होती है। इस यन्त्र की रचना और इसके काम करने के ढंग को समझाने में बहुत समय लगेगा। यहां पर इतना ही कहा जा सकता है कि यदि इसके भीतर से होकर प्रकाश की किरणें आंख तक पहुंचें, तो यह बतलाया जा सकता है कि जहां से ये किरणें आती हैं, वहां कौन-कौन से द्रव्य उपस्थित हैं। इस प्रकार हाइड्रोजन, आक्सीजन, नाइट्रोजन, फासफोरस, सोडियम, पुटेशियम, सोना, कारबन, लोहा, पारा आदि के सूर्य पर अस्तित्व का पता चलता है। तारों से आए हुए प्रकाश का विश्लेषण भी यही बात बतलाता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जो तत्व पृथ्वी पर मिलते हैं, वही सूर्य और दूसरे तारों में भी मिलते हैं। तारों का तापमान इतना ऊंचा है कि उस गर्मी में वह पदार्थ, जो पृथ्वी पर ठोस रूप में पाया जाता है, गैस बन जाता है। सूर्य का तापमान ६ और ७ हज़ार डिग्री सेन्टीग्रेड है। सेन्टीग्रेड ताप नापने की उस शैली को कहते हैं, जिसके अनुसार बरफ का तापमान शून्य और उबलते जल का सौ माना जाता है। इन दोनों के बीच सौ विभाग होते हैं।

मैंने अभी कुछ देर पहले कहा था कि तारे कई रंग के होते हैं। ये रंग केवल उनकी शोभा बढ़ाने के लिए नहीं दिए गए, बल्कि उनसे तारे की उम्र का कुछ पता चलता है। यदि हम धातु के किसी पिंड को गर्म करना आरम्भ करें, तो पहले उसका रंग लाल होगा, फिर क्रमशः पूरा श्वेत हो जाएगा, और वह इसके उलटे क्रम से ठंडा होगा। पूर्णतया ठंडा होने के पहले उसका रंग लाल होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि जिन तारों का रंग बिलकुल श्वेत है, वे नक्षत्र परिवार में अपनी पूरी जवानी पर हैं। इनमें जिस किसी में हाइड्रोजन गैस का आधिक्य है, उसके रंग में नीलापन होता है। सम्भवतः इन तारों में हाइड्रोजन और हीलियम जैसी हलकी गैस अधिक मात्रा में होगी। इसके बाद पीले तारे आते हैं, जिनमें हमारा सूर्य भी है। इनकी अवस्था ढल चली है। इनमें पतली गैस भी है, परन्तु भारी पदार्थ जैसे धातु भी गैस रूप से वर्तमान हैं। इसके बाद लाल रंग के तारे आते हैं, जिनको बूढ़े तारे कह सकते हैं। इनमें हलकी गैस कम है और प्रायः भारी पदार्थों का ही आधिक्य है। बहुत से ऐसे तारे भी हैं, जो एकदम काले हैं। साधारणतः वह देख नहीं पड़ते और हमको इनका ज्ञान नहीं हो सकता। परन्तु कुछ अवस्थाओं में हमको काले तारों का, जो सम्भवतः मृत तारे हैं, पता लगता है।

कुछ तारे, जैसे हमारा सूर्य, तो अकेले रहते हैं, परन्तु तारों के ऐसे पुंज भी हैं जो

एक-दूसरे के चारों ओर उसी प्रकार घूमते रहते हैं, जिस प्रकार उपग्रह ग्रह के चारों ओर घूमता है। कहीं दो और कहीं दो से अधिक तारों के इस प्रकार के भी कुछ गुच्छे होते हैं। किसी-किसी गुच्छे में तो तारों के अलग-अलग रंग होते हैं। यदि उनमें से किसी के साथ कोई ऐसा ग्रह होगा जिस पर मनुष्य जैसे प्राणी रहते होंगे तो उनको बड़े सुन्दर दृश्य देख पड़ते होंगे। उनके आकाश में कभी एक सूर्य और कभी अनेक रंगों के एक से अधिक सूर्य देख पड़ते होंगे, अस्तु। कभी-कभी किसी दो तारों वाले गुच्छे में से एक नक्षत्र रंगहीन होता है। वह नियत समय पर घूमता-घूमता अपने साथी के सामने आ जाता है और उसको थोड़ी देर के लिए ढक देता है। इस प्रकार ऐसे तारों के अस्तित्व का परिचय मिलता है। अस्तित्व ही नहीं उनके आकार, तौल और गति की भी गणना कर ली जाती है। कभी-कभी कोई काला सूर्य आकाश में घूमता हुआ बिखरे हुए रजकणों से टकरा जाता है। ऐसी दशा में थोड़ी देर के लिए उसका तापमान बढ़ जाता है और वह चमकने लगता है। ऐसे तारों को नवीन (Novae) कहते हैं।

सूर्य ही से पृथ्वी पर और यदि किसी अन्य ग्रह पर प्राणी हो तो उस पर भी, शक्ति की वह धारा आती है, जिससे सारे काम होते हैं। इस शक्ति के सैकड़ों रूप हैं, परन्तु क्या भौतिक और क्या बौद्धिक जगत में यदि सूर्य से शक्ति की अजस्र धारा थोड़ी देर के लिए भी रुक जाए तो प्राणिमात्र के लिए भयानक दुरवस्था उत्पन्न हो जाए। इसी से वेदों में कहा गया है कि 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुपश्च'। सूर्य सभी स्थावर-जंगम पदार्थों में आत्मा की तरह है। बहुधा यह प्रश्न उठता है कि जब सूर्य करोड़ों वर्षों से शक्ति चारों ओर बिखेर रहा है तो अब तक वह रिक्त क्यों नहीं हुआ। कितना भी बड़ा भंडार क्यों न हो, यदि उसमें से बराबर व्यय होता रहे, तो एक दिन उसे खाली हो ही जाना चाहिए। यह बात ठीक है, परन्तु यदि भंडार में बीच-बीच में कुछ पड़ता रहे तो खाली होने की नौबत बहुत दिन में आएगी। सूर्य अपने शक्ति भंडार में से जहां व्यय करता है वहां कुछ न कुछ संग्रह भी करता है। उसमें वह दोनों क्रियाएं होती रहती हैं, जो परमाणु बम और हाइड्रोजन बम में होती हैं। इनमें से एक को विभाजन और दूसरी को संयोजन कहते हैं। परमाणु बम में पहली क्रिया होती है। उदाहरण के लिए, हाइड्रोजन के परमाणु में धन विद्युत से युक्त कण के चारों ओर ऋण विद्युत युक्त कण घूमता रहता है। यदि किसी प्रकार यह बाहर वाला कण भीतर वाले कण से अलग कर दिया जाए तो परमाणु टूट जाएगा और इसके साथ ही बहुत सी शक्ति उपलब्ध होगी जिससे चाहे शांतिकालीन सेवाएं कराई जाएं चाहे युद्ध करने के लिए सामान तैयार कराया जाए। इसके विपरीत यदि दो परमाणुओं को एक दूसरे से इस प्रकार मिलाया जा सके कि उनके भीतर वाले धन विद्युत कण एक हो जाएं तो नया रासायनिक तत्व बन जाएगा। इस अवस्था में भी बहुत सी विद्युत् शक्ति मिल जाएगी। यदि चार हाइड्रोजन परमाणुओं के भीतरी कण मिल जाएं तो हीलियम का भीतरी कण बन जाएगा। इस नए द्रव्य के बनने के साथ-साथ जो बहुत सी शक्ति उन्मुक्त होगी, उससे चाहे जो काम लिया जाए। अभी तक तो वे राष्ट्र, जिनके पास इस प्रकार के प्रयोग करने की क्षमता है, उसका उपयोग युद्ध में ही करना चाहते हैं। इतना स्मरण रखना चाहिए कि इस समय रसायन शास्त्र को लगभग सौ तत्वों का ज्ञान है। इनमें से किसी भी तत्व के परमाणु उचित उपायों से काम ले कर विभक्त किए जा सकते हैं और नीचे के किसी भी तत्व के परमाणुओं से संयोजन क्रिया के द्वारा अधिक भारी तत्व बन सकते हैं। अभी मनुष्य की शक्ति सीमित है। तत्व से तत्वांतर की सृष्टि करने के लिए

जो साधन चाहिएं वे पूरी तौर से जुट नहीं सके हैं, फिर भी उस मार्ग पर यात्रा आरम्भ हो गई है। विभाजन क्रिया से परमाणु बम में यूरेनियम के परमाणु का विभाजन किया जाता है।

जैसा कि मैंने अभी कहा है, सूर्य में दोनों प्रकार की क्रियाएं होती रहती हैं। उसके प्रचंड तापमान के कारण एक ओर तो परमाणु टूटते रहते हैं, दूसरी ओर नए परमाणु बनते रहते हैं। दोनों क्रियाओं के साथ-साथ शक्ति का उन्मोच होता है। इस तरह सूर्य की शक्ति नष्ट नहीं होने पाती। यह ठीक है कि यह सब होते हुए भी सूर्य एक दिन वृद्ध और फिर निष्प्राण होता हुआ निःशक्त हो सकता है। पर इसको अभी बहुत दिन हैं। कम से कम २० करोड़ वर्षों से सूर्य इसी प्रकार शक्ति बिखेरता चला आ रहा है। ऐसा मानना चाहिए कि जो बात सूर्य की है, वही दूसरे तारों में भी पाई जाती होगी।

मैंने नक्षत्रों की गति का ऊपर चर्चा किया। नक्षत्र होने के कारण हमारा सूर्य भी गतिमान है। वह आकाश में अपने सारे ग्रह, उपग्रह रूपी परिवार को लिए बढ़ता चला जा रहा है। इस समय वह जिस दिशा में चल रहा है, उसको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि वह अभिजित नक्षत्र की तरफ जा रहा है। सूर्य किधर जा रहा है इसके जानने के जो उपाय हैं, उनमें से एक बहुत रोचक है और उसका समझना भी औरों की अपेक्षा बहुत-कुछ सुगम है। उसमें जो सिद्धान्त निहित है, उसको डोपलर का सिद्धान्त (Doppler's Principle) कहते हैं। यदि आप कहीं बहुत से मनुष्यों की भीड़ में पड़ गए हों, तो जिधर की तरफ आप आगे बढ़ते होंगे उधर की भीड़ छंटती सी मालूम होगी और इसके साथ ही साथ आपके पीछे की तरफ भीड़ घनीभूत सी होती प्रतीत होगी। यही बात आकाश के बारे में लागू है। सूर्य के साथ जिस दिशा में हम बढ़ रहे हैं, उधर के तारे कुछ छंटते से प्रतीत होते हैं और पीछे के तारे एक दूसरे के पास आते प्रतीत होते हैं। इस बात को हम विभिन्न कालों में बने आकाश चित्रों को मिलाने से देख सकते हैं। इतना तो स्पष्ट ही है कि यदि चित्रों में सैकड़ों वर्षों का अन्तर होगा, तभी कुछ फर्क प्रतीत होगा। जिस प्रकार सूर्य चल रहा है, उसी प्रकार और तारे भी चल रहे हैं।

हमारा सूर्य आकाश गंगा में है। पहले तो ज्योतिषी ऐसा समझते थे कि वह आकाश गंगा में मध्य बिन्दु के पास है, परन्तु अब यह धारणा जाती रही है। आजकल ऐसा माना जाता है कि आकाश गंगा का केन्द्र-स्थान धनु राशि के बीच में है। ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्य आदि सभी तारे इस बिन्दु की परिक्रमा कर रहे हैं। मनुष्य को इस बात का स्वप्न में भी अन्दाजा नहीं होता कि वह कितना और किधर चल रहा है। वह अपनी उसी गति से परिचित है, जो उसकी या समाज की इच्छा पर निर्भर है। पर अब हम यह जानते हैं कि वह पृथ्वी पर बैठा सूर्य के चारों ओर घूम रहा है। सूर्य के साथ-साथ अभिजित की दिशा में वह मुंह किए एक बड़ा वृत्त बना रहा है, जिसका केन्द्र सम्भवतः कहीं धनुराशि में है। धनुराशि स्वयं आकाश गंगा में है। आकाश गंगा अपनी धुरी पर घूम रही है तो फिर मनुष्य भी उसके साथ उस धुरी पर घूम रहा है। यहां तक तो अब निश्चित ही है, परन्तु क्या आकाश गंगा आकाश में अचल और स्थिर है? इस प्रश्न का उत्तर किसी अगले व्याख्यान में होगा, परन्तु इतने से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मनुष्य इस बात का कोई अन्दाजा नहीं कर सकता, कि वह आज कहां है और कल कहां रहेगा। स्वयं आकाश गंगा की आकृति अण्डाकार तश्तरी जैसी है।

सूर्य से हमको गर्मी और प्रकाश की उपलब्धि होती है, उस प्रकार की शक्ति की लहरियां भी आती हैं जिनको इलेक्ट्रो मैगनेटिक कहते हैं। इनका मुख्य रूप विद्युत

है । परन्तु हमारे पास कोई ऐसी इन्द्रिय नहीं है जिससे हमको इसका प्रत्यक्ष अनुभव हो सके। ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्य का भीतरी हिस्सा ठोस और काला-सा है। उसके ऊपर वे उद्दीप्त आवरण हैं, जिनमें से हर प्रकार की रश्मियां हमारे पास तक पहुंचती हैं । कभी-कभी यह आवरण कहीं-कहीं से हट जाता है। उस समय उसमें गड्ढे से पड़ जाते हैं, जिनके भीतर से सूर्य का भीतरी भाग देख पड़ता है । ऐसे काले धब्बे लगभग २५ दिन में सूर्य की परिक्रमा करते हैं क्योंकि सूर्य, अपनी धुरी पर २५ दिन में घूमता है । हर बारहवें वर्ष धब्बों की संख्या बहुत बढ़ जाती है । धब्बों के घटने-बढ़ने पर पृथ्वी पर बहुत प्रभाव पड़ता है, जिसका कुछ अन्दाजा विद्युत के बारीक यन्त्रों से किया जा सकता है। सम्भवतः ऐसी बातें दूसरे तारों में भी होती होंगी।

अभी तक मैंने तारों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा । ग्रहों की चर्चा करते हुए मैंने लाप्लास के मत का जिक्र किया था। उन्होंने तारों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो कुछ कहा था, किसी न किसी रूप में वह बात अब तक मानी जाती रही है। आकाश व्यापी गैसं और रजकणों से ही तारे बने होंगे। आज भी जहां हम एक ओर लाल तारों के रूप में सम्भवतः कुछ तारों को ढलते देख रहे हैं, वहीं दूसरी ओर कुछ जगहों में गैस और कणों के घनीभूत होने के भी प्रमाण पाते हैं, जिसका अर्थ यह हुआ कि हम नए तारों, नए सूर्यों की उत्पत्ति के दृश्यों के भी साक्षी हैं।

—लखनऊ से प्रसारित



वीतराग का गीत

अजित कुमार

इस अत्यन्त व्यवस्थित मन में
कोई भी उलझाव नहीं ।
कोई जटिल समस्या घेरे हुए नहीं,
कोई दिग्भ्रम का भाव नहीं ।
एक लकीर पकड़ ली,
उस पर चलते-चलते-चलते हैं,
नहीं किसी से जलते,
अपने सीधे-सादे रहते,
छलते नहीं किसी को,
कल्पित दुख से गलते नहीं
दयावश नहीं पिघलते हैं ।
हंसते हैं तो संयत हो कर,
रोने का प्रसंग ही क्या ?

मंद-मंद मुस्काते हैं,
मुंह ही मुंह में हम गाते हैं,
रंग जमाए रखते हैं,
इसके अतिरिक्त ढंग भी क्या ?
ऐसा कुछ भी प्राप्य कहां था,
जिसे न पाते मर जाते ।
जीते रहे मजे से अपने ।
सुख की मदिरा पीते-पीते
छकते रहे ।
बहक कर अकसर बकते रहे ।
और फिर अपने हाथों
अपने मुख को सीते रहे ।
कभी—बहकते होंगे—

अब तो 'सोबर' हैं ।
कभी चहकते होंगे,
उड़ते-मुड़ते,
और बिछुड़ते होंगे—शायद—
अब तो—
खिन्न नहीं, उद्विग्न नहीं,
औरों से कुछ भी भिन्न नहीं ।
हम पूरमपट्ट बरोबर हैं ।
हिमगिरि की ऊंचाई से ज्यादा ऊंचे हम,
सागर से भी गहरे हैं :
इस भ्रम में रखना सबको
कुछ दिन की खातिर संभव था ।
पर उसके बाद ?
स्वयं हम अपनी कल्पित ऊंचाई-गहराई से अभिभत हुए ।
फलतः
थे जहां
वहीं पर ठहरे हैं ।
सभी विवादों-प्रतिवादों के प्रति
हम लगभग बहरे हैं ।
राग नहीं, अनुराग नहीं,
इस चित्र-विचित्र जगत में अपना कोई, कुछ भी भाग नहीं ।
सबको अस्वीकृत करते,
बदले में अस्वीकृत होते ।
अर्जित करते नहीं, पास जो था निर्मम हो कर खोतें ।
अस्फुट स्वर में कभी-कभी हम अपने से ही कहते हैं—
चिनगारी तो थी, पर उससे
ढेर राख के जीत गए;
बीत रहा यों तो कुछ अब भी,
दिन थे कुछ जो बीत गए,
एक गीत था,
उसको गा कर नहीं,
भुला कर, बिसरा कर
हम रीत गए !

—इलाहाबाद से प्रसारित

हक़-हलाल

मोहन राकेश

दो वर्ष पहले सितम्बर के महीने की ही बात है, मैं सायंकाल घर लौट कर आया तो देखा कि एक पहाड़ी युवती वहां घास काट रही है। उसकी आयु अट्ठारह से पच्चीस के बीच कुछ भी हो सकती थी। उसने कमीज़ की बाहें कुहनियों के ऊपर तक उठा रखी थीं और शलवार पिंडलियों से ऊपर तक। गोरे मांस के उन स्वस्थ युवा पिण्डों में निर्माण का कुछ ऐसा कौशल था कि क्षण भर के लिए किसी भी दृश्य में आस्तिकता का उदय हो जाता। उसने सिर पर अपने रंगीन दोपट्टे को पटके की तरह बांध रखा था। उसे पास से देख कर मुझे कुछ वैसा ही रोमांच हुआ जैसा भरी हुई नदी के तट पर से उसके मन्थर प्रवाह को देख कर होता है।

वह घास के साथ-साथ उलझे हुए फूलों को भी काट कर घास के ढेर में फेंकती जा रही थी।

—इन फूलों को क्यों काट रही हो?—मैंने उसके निकट रुक कर उससे पूछा।

—पण्डित ने कहा था कि आपने कहा है—बात कहते हुए उसके चेहरे का भाव कुछ बदला, यद्यपि उसकी आंखों के भाव में अन्तर नहीं आया।

—मैंने उससे कहा है?—मैंने कुछ आश्चर्य के साथ पूछा।

—हां, उसने कहा था कि साहब ने कहा है—उसने स्वर में अधिक दृढ़ता लाकर उत्तर दिया।

—तुम पंडित की.........

—मैं उसके घर से हूं—कहते-कहते उसके चेहरे पर अनायास हल्की सी मुसकराहट आ गई। परन्तु तुरन्त ही मुसकराहट का स्थान गम्भीरता की रेखाओं ने ले लिया।

—गुलेरी साहब ने उससे कहा होगा—कह कर मैं आगे चल दिया।

—उन्होंने कहा होगा—उसने पीछे से कहा और पुनः अपने कार्य में व्यस्त हो गई।

गुलेरी साहब कोठी के दूसरे भाग में रहते हैं। वह गणित के अध्यापक हैं। उनकी आकृति के साथ उनके जगह-जगह से उधड़े हुए सूट और सूट के साथ फटे हुए जूते का सामंजस्य देख कर अनायास याद हो आता है—ए इज़ इक्वल टु बी एण्ड बी इज़ इक्वल टु सी, देयरफ़ोर ए इज़ इक्वल टु सी।.......गुलेरी साहब स्वभाव से उपयोगितावादी हैं। उन्हें सम्भवतः कोठी में उतने ही फूलों का उगना पसन्द है, जितने प्रतिदिन फूलदानों में लगाए जा सकते हैं।

अब पंडित जी की पत्नी कोठी में घास काटती दिखाई दे जाया करती। वह उसी तरह पटका बांधे और कमीज़ की बाहें ऊपर चढ़ाए अपना काम किया करती थी। कभी-कभी वह खुले स्वर में कोई पहाड़ी गीत भी गाया करती थी। एक बार मैंने उसे सामने की पहाड़ी से उतर कर कोठी की ओर आते देखा।

और उसी समय मैंने पंडित को भी सामने से आते देखा। मुझ से दो-तीन फुट क अन्तर पर जाकर वह जैसे चौंक कर मुसकराया और फिर हाथ जोड़ कर आगे बढ़ गया। चश्मा लगा रहने पर भी वह शायद दूर से व्यक्ति को नहीं पहचान सकता था। कुछ आगे जाकर उसने उसी तरह चौंक कर अपनी पत्नी को देखा और अखबारों का वण्डल अपनी ढीली वांह में संभाले हुए उससे बात करने लगा।

कुछ महीने बीत गए। बरसात के दिन थे। हल्के-हल्के बादल घाटियों में भरे थे। स्टोव पर केतली रख कर मैं खिड़की के पास जा बैठा। बाहर नन्हे-नन्हे ओले पड़ने लगे। ऊपर टीन की छत पर ओलों के गिरने की एकतार ध्वनि वातावरण में एक उद्धत रोमांचक संगीत भर रही थी।

केतली में पानी खौल गया, तो मैंने उठ कर अपने लिए काफी की एक प्याली बनाई। प्याली मेज पर रख कर मैंने खिड़की के नीचे फर्श की ओर देखा, जहां पंडित अखबार डाल जाया करता था। अखबार वहां नहीं था। वैसे तो पंडित प्रायः रोज ही अखबार देर से देने आता था, पर इतनी देर कभी नहीं होती थी। मैं बैठ कर काफी के घूंट भरने लगा। फिर मैंने पढ़ने के लिए दास्ताएवस्की का उपन्यास 'ब्रदर्स कैरेमेजाफ' उठा लिया, जिसके डेढ़-दो सौ पृष्ठ पढ़ने शेष थे।

कुछ देर बाद अंधेरा बढ़ जाने के कारण मैंने टेबल लैम्प जला लिया। मैं अदालत में पब्लिक प्रासीक्यूटर द्वारा रूस की नैतिकता पर दिया गया भाषण पढ़ रहा था, जब सहसा बाहर से पंडित का स्वर सुनाई दिया—अखबार जी!—और खिड़की के रास्ते अखवार अन्दर आ गिरा।

—यह अखबार देने का समय है, पंडित?—मैंने अखवार उठाते हुए पूछा। मैंने खिड़की में से देखा कि पंडित सिर पर एक बोरा ओढ़े हुए है, उसके कपड़े तीन-चौथाई भीग रहे थे, और उसके गीले बण्डल में कम से कम चालीस-पचास अखवार और हैं।

—आज तो जी, कहीं भी अखबार नहीं दे पाया—पंडित ने कुछ दीनतापूर्ण स्वर में उत्तर दिया—इधर की चार कोठियों के अखबार देकर यह पांचवा अखबार आपका देने आया हूं।

मुझे महसूस हुआ कि उसकी आवाज़ में वातावरण से भी अधिक नमी है।

—कोई खास बात तो नहीं?—मैंने पूछा।

—खास ही बात थी साहब—वह बोला—सवेरे से अब तक थाने की खाक छानता रहा हूं।

—क्यों ऐसी क्या बात थी?

वह जैसे असमंजस में चुप रहा। मैंने देखा कि सर्दी की वजह से उसके दांत किटकिटा रहे हैं। मैंने उससे कहा कि वह अन्दर आकर चाय या काफी की एक प्याली पी ले।

पंडित अन्दर आ गया और अखबारों का वण्डल फर्श पर रख कर उस पर बैठ गया। फिर मैंने केतली स्टोव पर रख दी। मेरी रुचि उस समय बंट गई थी। मैं उपन्यास में पब्लिक प्रासीक्यूटर का भाषण भी पढ़ना चाह रहा था, और पंडित का किस्सा भी सुनना चाह रहा था। मैंने पुस्तक में अपनी पंक्ति ढूंढ़ते हुए पंडित से पूछा—हां तो क्या बात हुई, जो आज थाने जाना पड़ा।

पंडित ने अस्पष्ट स्वर में कुछ शब्द कहे, जिन्हें मैं ठीक से सुन नहीं सका। मैंने पुस्तक पर से आंख उठा कर उसकी ओर देखा। एक वार बात न सुनी जाने पर उसे दोहराने में

जो लहजा आ जाता है, उस लहजे में पंडित ने कहा—हां, जी, मैंने कहा कि इस औरत ने आज पुलिस वालों के जूते भी दिखला दिए। इन्हें चाटना भी तकदीर में लिखा था।

—बात क्या हुई है?—मैंने पूछा।

—क्या बताऊं जी—वह बोला—अपनी औरत है, सो कहा भी नहीं जाता। जाने उसके मन में क्या समा गया? कल रात वह घर से भाग गई है।

—भाग गई है?—मैंने कुछ आश्चर्य के साथ कहा। मुझे स्वयं लगा कि मेरे स्वर में सहानुभूति की छाया नहीं आ पाई। क्षण भर पंडित के चेहरे को देख कर मैंने पूछा—वैसे यहीं पर है या कहीं बाहर चली गई है?

—यह पता चल जाता तो मैं उसे छोड़ता जी?—वह बोला—थाने में जा कर फरियाद करने की क्या जरूरत थी? पता चल जाए तो मैं उसे बालों से घसीट कर ले आऊं जी। वह मेरी ब्याहता औरत है।

मैंने एक बार तिरछे कोण से उसकी ओर देखा। उसका भाव उस समय कुछ ऐसा हो रहा था, जैसे उसे विश्व भर से शिकायत हो और प्रतिशोध न ले पाने का खेद हो।

—तुम्हारे ब्याह को कितने बरस हो गए पंडित?—मैंने पूछा।

—यही दस-आठ साल समझ लीजिए—उसने ज़रा कुंठित स्वर में उत्तर दिया।

—तब कितने बरस के रहे होगे तुम?

उसने स्वर को लम्बा करते हुए ज़रा रुक-रुक कर उत्तर दिया—यही जी समझ लीजिए बस, जितने बरस की उमर में ब्याह होता है वही उम्र थी। दो-चार साल शायद ज्यादा रही होगी। देखने में तो शुरू से ही ऐसा हूं, जाने क्यों?—और क्षण भर रुक कर वह फिर बोला—और जी, जब चार पैसे पास हो जाएं तभी तो ब्याह हो सकता है। हमारे इधर लड़की की कीमत लेते हैं। यह मैंने डेढ़ सौ रुपया देके ब्याही थी।

—डेढ़ सौ रुपया देकर?—मेरे मुंह से आश्चर्य के साथ निकला।

मेरे आश्चर्य का और ही आशय लेते हुए पंडित बोला, इसकी बड़ी बहन सौ रुपये में मिल सकती थी जी। पर यह ज़रा खूबसूरत थी। उम्र छोटी थी, पर मैंने सोचा इसकी कोई बात नहीं। मुझे यह थोड़े ही पता था कि यह मेरे साथ इस तरह दग़ा करेगी।

पानी खौलने लगा था। मैंने उठ कर दो प्यालियों में काफी बनाई और चम्मच में चीनी लेते हुए पंडित से पूछा—पंडित, चीनी कम पीते हो कि ज्यादा?

—कम जी—पंडित ने नितान्त निर्लोभ व्यक्ति के ढंग से कहा, मैंने दो चम्मच चीनी मिला कर प्याली उसके हाथ में दे दी।

काफी पीते हुए मैंने पंडित से पूछा—उसके बाप को पता चल गया है कि उसकी लड़की तुम्हारे घर से चली गई है?

—मैं सवेरे उसके पास गया था जी—पंडित बोला।—मैंने उससे कह दिया कि तेरी लड़की घर से भाग गई है। इसलिए मैं तुझ पर अढ़ाई सौ रुपये का दावा करूंगा। जी, डेढ़ सौ रुपया तो मैंने नकद दिया था और इतने दिन खाने और पीने के और इसके सौ से कम क्या लगेंगे?

—फिर उसने क्या कहा?

—गरीब आदमी है जी, बहुत मिन्नत करने लगा, मैंने भी कहा कि रुपये के लिए तंग करना ठीक नहीं। बेचारा देगा कहां से? मैंने कहा कि यह काम कर कि जब तक वह लौट कर नहीं आती, तब तक के लिए अपनी छोटी लड़की को मेरे घर भेज दे। हां, कम-से-कम मेरे घर का चूल्हा तो जलता रहे। मैं तुझ पर दावा नहीं करूंगा।

—तो वह मान गया ?

—अभी उसने हामी तो नहीं भरी, पर उम्मीद है कि मान जाएगा । नहीं तो रुपये कहां से देगा ?—और खाली प्याली फर्श पर रख कर मुंह पोंछते हुए उसने कहा—वैसे आदमी खरा है । नीयत का बुरा नहीं है । दो आदमी समझाएंगे तो समझ जाएगा । उसके भी भले की बात है, मेरे भी भले की बात है । अदालत में जाना कोई अच्छा थोड़े ही है ?—और उठ कर अखबारों का बण्डल संभालते हुए कहा—देखो क्या होता है !

और हुआ यह कि कुछ दिन बाद पंडित की साली घास काटने के लिए आने लगी । आयु में कम होती हुई भी वह देखने में पंडित की पत्नी की तरह सुन्दर नहीं थी । वह भी उसी तरह दोपट्टे को पटके की तरह बांधे हुए गीत गुनगुनाती हुई घास काटा करती । परन्तु उसकी दृष्टि में न वह चंचलता थी और न वह विश्व भर के प्रति अवज्ञा का भाव । पंडित की पत्नी के भाग जाने का किस्सा धीरे-धीरे पुराना पड़ने लगा । दो-चार-छः महीने और इसी तरह एक साल निकल गया । साल भर में पंडित की साली ने पूरी तरह उसकी पत्नी का स्थान ले लिया ।

रविवार का दिन था । मैं खिड़की के पास बैठा कुछ पढ़ने की चेष्टा कर रहा था । बाहर कुल्हाड़ी से एक वृक्ष पर आघात होने का शब्द सुनाई दे रहा था । गुलेरी साहब ने अपने नौकर गुलाबसिंह को आदेश दिया था कि लान के उस वाले भाग में जो छोटा-सा खुरमानी का पेड़ है, उसे काट दिया जाए और उसकी लकड़ी जलाने के काम में लाई जाए, क्योंकि खुरमानियां उससे साल में सेर भर ही उतरती थीं और उसकी लकड़ी चार-छः महीने जलाई जा सकती थी । उस समय खुरमानी का पेड़ कट रहा था और वह ठक् ठक् ध्वनि मुझे अपनी पूरी चेतना पर आघात करती प्रतीत हो रही थी ।

मैं देवदारों में भटकती हुई एक चिड़िया को देखने लगा । वह कभी ऊपर जाती और कभी नीचे और कभी उलझी हुई डालियों में गोल घूम जाती । सहसा वृक्ष के कट कर ज़मीन पर गिरने का शब्द सुनाई दिया । गुलाबसिंह ने पेड़ गिरा लिया था । तभी मैंने स्त्री कण्ठ से ये शब्द सुने—गुलाबसिंह ! ऊपर की पतली टहनियां हमें दे दे ।

मैंने स्वर तुरन्त पहचान लिया । वह स्वर पंडित की पत्नी का था । मैं खिड़की के पास चला गया । लान में गिरे हुए वृक्ष के पास पण्डित की पत्नी और साली दोनों ही खड़ी थीं ।

—तू इन टहनियों का क्या करेगी ?—गुलाब सिंह पूछ रहा था ।

—टहनियां जला लेंगे और पत्ते गाय को खिला देंगे—पंडित की पत्नी ने कहा ।

—तेरी मुन्नी सुना है बीमार थी, अब क्या हाल है उसका ?—गुलाबसिंह ने पूछा ।

—अब तो अच्छी है ।

—इसकी कौन सी मुन्नी है रे ?—गुलेरी साहब ने कमरे से बाहर आते हुए पूछा ।

यही जिज्ञासा मेरे मन में भी उदित हुई थी, क्योंकि पण्डित की पत्नी के मातृत्व की कल्पना कुछ असंगत सी प्रतीत होती थी ।

—मुन्नी इसकी गाय का नाम है—कहता हुआ गुलाबसिंह ज़रा सा हंस दिया ।

—अच्छा, अच्छा !—गुलेरी साहब ने गिलगिली-सी हंसी हंस कर कहा और फिर बोले—दे दे इसे दो-चार टहनियां । तोड़ ले पंडितानी ! —और पंडितानी पर एक रसिकता-पूर्ण दृष्टि डाल कर वे कमरे के अन्दर चले गए ।

पंडित की पत्नी और साली बैठ कर टहनियां तोड़ने लगीं । गुलाबसिंह कुल्हाड़ी से वृक्ष की डालियां काटने लगा । बीच में एक बार उसने सिर उठा कर ऊपर की ओर देखा और कहा—वह लो पंडित भी आ गया।

पंडित अखबारों का बण्डल संभाले ऊपर की सड़क से उतर कर आ रहा था। लान में पहुंच कर वह कुछ देर अपनी पत्नी और साली के कार्य का निरीक्षण कर रहा था । फिर अखबार देने मेरी खिड़की की ओर आया । मैंने हाथ बढ़ा कर उससे अखबार ले लिया। पंडित ने जैसे शेष अखबारों को सहेजते हुए क्षण भर का समय लिया और फिर अर्थपूर्ण दृष्टि से मेरी ओर देख कर बोला— आ गई है।

—अच्छा—मैंने अखबार पर दृष्टि दौड़ाते हुए सरसरी तौर पर कहा । पंडित की पत्नी की उपस्थिति में उस विषय में बातचीत करना मैंने उचित नहीं समझा।

पंडित ने एक बार पीछे अपनी पत्नी और साली की ओर देखा और फिर कमरे के अन्दर आ गया। मेरे बहुत निकट आकर वह ऐसे स्वर में जो उसके विचार में शायद धीमा था, पर वास्तव में इतना ऊंचा अवश्य था कि बाहर सुनाई दे जाए, बोला—परसों थाने वालों ने मुझे शनाख्त के लिए बुलाया था । वो इसे मण्डी से पकड़ कर लाए हैं । इसके यार को भी उन्होंने गिरफ़्तार कर लिया है । मैं तो जी बिल्कुल ही आशा छोड़ बैठा था । इतने दिन हो गए थे । पर जी नहीं, सरकार के घर में देर है अंधेर नहीं ! उन्होंने भी खोज-खबर छोड़ी नहीं, कहां शिमला कहां मण्डी, पकड़ कर ले ही आए ।

मैं उसके शब्द सुन रहा था पर मेरा ध्यान बार-बार बाहर की ओर चला जाता था। पंडित की पत्नी ने घृणापूर्ण दृष्टि से एक बार मेरी ओर देखा और फिर तोड़ी हुई टहनियां ऊपर उठा कर सड़क की ओर चल दी । उसकी बहन भी उसके पीछे-पीछे चली गई। इधर पंडित कह रहा था—कल इसके बाप ने इसे पीटा । पर जी, ऐसी ढीठ औरत है कि चुपचाप मार खा गई । मुंह से बोली तक नहीं । वह तो मैं बीच में पड़ गया । नहीं तो वह तो इतने गुस्से में था, कि इसकी चमड़ी उधेड़ देता । मैंने कहा कि अब मार-पीट से क्या फायदा । जो मुंह काला करना था, सो तो कर ही आई। आगे से अपनी निगरानी में रखेंगे । क्या कहते हैं ?

यद्यपि पंडित की पत्नी कुछ दूर ही चली गई थी, फिर भी मुझे लग रहा था कि पंडित के शब्द अभी तक उसके कानों में जा रहे हैं। पंडित उत्साह और उत्सुकता के साथ मेरे उत्तर की प्रतीक्षा कर रहा था । मैं क्षण भर पंडित की बूढ़ी आंखों को देखता रहा । फिर मैंने कहा—तो अब तुम्हारी साली अपने पिता के घर लौट जाएगी।

—वह अब कहां जाएगी जी—पंडित बोला—बेचारी का बाप गरीब आदमी है । उसके पास खिलाने के लिए पैसा भी नहीं है । उसे इसका सौ-सवा सौ चाहिए, सो मैं ही उसे दे दूंगा । इतने दिनों से घर में रह रही है जी, सो अब छोड़ने को दिल नहीं चाहता। आदमी को आदमी से मोह हो जाता है और कल को क्या पता यह फिर भाग जाए । ऐसी का कोई भरोसा थोड़े ही है।

पंडित की पत्नी और साली सड़क का मोड़ मुड़ रही थीं । गुलाबसिंह अब भी वृक्ष की डालियों पर कुल्हाड़ी चला रहा था । गुलेरी साहब उसे आदेश दे रहे थे कि लकड़ियां बारीक काटे जिससे जलाने में सुविधा रहे।

—पंडित अखबार ज़रा जल्दी दे जाया करो —मैंने कहा—तुम बहुत देर से अखबार लेकर आते हो, आज भी देखो दो बज रहे हैं।

—कल से जल्दी लो जी !—पंडित ने तत्परतापूर्वक कहा और अखबारों को सहेजता हुआ बाहर की ओर चल दिया। कुछ देर बाद उसके गुलेरी साहब से उसी विषय में बात करने का शब्द सुनाई देने लगा।

—दिल्ली से प्रसारित



गप्प

बेढब बनारसी

उत्तर प्रदेश के एक विख्यात नगर की घटना है। एक सज्जन को पेट की पीड़ा हुई। पढ़े-लिखे आदमी थे, डाक्टर को बुलाना आवश्यक समझा। अस्पताल जाना उचित न समझा। डाक्टर को बुलाया। उसने अन्दर जाकर देखा और पांच मिनट बाद आकर कहा—एक छेनी ला दीजिए। उनके पुत्र ने डाक्टर का मुंह निहारा, छेनी लाकर दे दी। पांच मिनट बाद वह फिर आए और बोले—एक हथौड़ा चाहिए। अबकी वह चक्कर में पड़े। मगर सोचा डाक्टरी मामला है, कोई बात होगी। फिर हथौड़ा लाकर दे दिया। पांच मिनट बाद फिर डाक्टर ने कहा—एक आरी चाहिए। तुरन्त लाइए। इस बार न रहा गया, बोले—डाक्टर महोदय, आपने छेनी मांगी, फिर हथौड़ा मांगा, अब आरी मांग रहे हैं। आपरेशन ही करना है तो क्या इस प्रकार आपरेशन होगा? डाक्टर ने ज़ोरदार आवाज़ में कहा—अरे जनाब, आपरेशन को गोली मारिए, मेरा औज़ार का बैग नहीं खुल रहा है। उसी को काटना है।

× × ×

एक सज्जन विलायत से लौट कर आए। उनका एक जगह भाषण था। उन्हें बातें बहुत बढ़ा-चढ़ा कर कहने की आदत थी। उनकी श्रीमती ने कहा, बहुत बढ़ा कर कुछ न कहना। नहीं तो लोग मूर्ख समझेंगे। कितने लोग इंगलैण्ड से लौट कर आ चुके हैं। सब लोग वहां की बातें जानते हैं। उन्होंने पत्नी को समझाया—नहीं, ऐसा क्या कहूंगा। क्या मैं बेवकूफ़ हूं। फिर भी यदि कोई बात हो, तो तुम मेरे पैर पर इशारा कर देना। तुम तो बगल में ही बैठोगी। वह लगे कहने—मैंने वहां पार्लियामेंट भवन देखा। क्या कहना है। दस मील लम्बा और पांच मील चौड़ा है। उसी समय उनकी पत्नी ने पांव में इशारा किया। वह सजग हो गए। बोले—हां, और ऊंचाई पांच इंच है।

—इलाहाबाद से प्रसारित



एक दीवार

फणीश्वरनाथ रेणु

सामने दीवार पर फिर एक नया इश्तहार चिपका दिया गया। टेढ़े-मेढ़े बड़े-बड़े अक्षरों ने मिल कर एक शब्द की सृष्टि की और शब्द ने नई पुकार शुरू कर दी।

सामने की दीवार को पिछले आठ साल से देखता आ रहा हूं। जबसे इस कस्बे में आया, आकर इस कमरे की इधर वाली खिड़की खोली, तभी से इस दीवार को देख रहा हूं। दीवार को देख कर कभी उसके उदार मालिक को जानने-पहचानने की जिज्ञासा नहीं जगी मन में। एकाध बार, मन ही मन, इस भूल-भुलैया में अवश्य पड़ गया कि इश्तहार चिपकाने के लिए ही इस दीवार की रचना तो नहीं हुई? दीवार की रचना, यानी ईंट-ईंट जोड़ कर खड़ी की गई दीवार....... पुख्ता। किसी चप्पे पर कार्य भी कार्यक्रम होने-हवाने की बात तय पाई, और इस दीवार की छाती पर.....गीली-गीली लेई में लिपटा-लिथड़ा छोटा या बड़ा.....रंगीन या सादा कागज का एक इश्तहार चिपक गया।

और, मैंने कहा न, अक्षरों ने मिल कर एक नए शब्द की पुकार शुरू कर दी। मैं, आपको यहां विश्वास दिला देना चाहता हूं कि इश्तहार की बोलियों को मैंने पहले-पहल इसी दीवार की हृत्तंत्री के तारों पर सुना, रनरनित होती बोलियां।

अक्षरों यानी लिपियों की कारीगरी सिर्फ कारीगरी के लिए होती है......यह मैं कैसे मान लूं? मोटे ठिगने पाए वाले और उखड़ी-उखड़ी शीर्ष रेखा वाले अक्षरों की आवाज़ पतली कैसे हो सकती है? टेढ़े-मेढ़े कलापूर्ण अक्षरों की आवाज़ फटी हुई मैंने कभी नहीं सुनी। आठ साल पहले, पहली बार जिस इश्तहार पर निगाह पड़ी और निगाह पड़ते ही जिससे एक किलकिलाती हुई ध्वनि प्रतिध्वनित हुई, वह एक सर्कस कम्पनी की थी। आंखों के आगे साइकिल पर सवार वन्दर, बाघ की पीठ पर जुगाली करता हुआ बकरा, हवा में तैरती हुई औरतें और सर्कस के विदूषक की वह मुखमुद्रा; कान के पास गूंज उठी पुकार, एक अद्भुत पुकार—दि ग्रेट वन्डरफुल सर्कस कम्पनी आफ वर्ल्ड—आखिरी रात, लास्ट नाइट, आखिरी मौका। याद है, कुछ क्षणों तक बस यही सदा आती रही इस दीवार से।

इसके बाद दीवार पर चिपके पुराने, थोड़े पुराने, बहुत पुराने, हाल के, कल तक नए, रंग-बदरंग और दुबके चीरे-फाड़े, उघाड़े दर्जनों इश्तहारों पर निगाह फिरी और अस्पष्ट, दबी हुई आवाजों का एक हल्का कोलाहल कर्णगोचर हो गया।

........नहीं। यह नहीं हो सकता कि मैं इस दीवार को न देखूं। उदारतापूर्वक अनेक सूचनाएं मुफ्त ही...पुकार पुकार कर दे जाने वाली यह दीवार।

इस पर उस दिन फिर एक नया इश्तहार चिपका दिया गया। पागलपन की मशहूर दवा की एक बार परीक्षा करने की चुनौती देने वाला इश्तहार। किसी लिथो प्रिंटिंग प्रेस में छपा था। कातिब ने तर्जनी से संकेत करती हुई कलाई सहित हथेलियां बनाने की चेष्टा

में मय सूंड से हाथी बना दिया था, और जिसके बिंदीदार हरूफों की हार्मनी से इस तर्ज़ की आवाज़ निकलती थी—हथेली पर सरसों जम गई..पागलपन की दवा बन गई..... एक बार आजमा कर देखिए ! और यह इश्तहार एक सार्वजनिक अनुष्ठान के प्रोग्रामों की आवाज़ को दवाती हुई ज़ोर-ज़ोर से पुकार रही थी। उसी के नीचे कोई साहब एक हज़ार रुपये नकद इनाम की घोषणा कर रहे थे, न जाने किस चीज़ को नकली साबित कर देने पर। हालांकि संख्या के दो शून्य किसी दूसरे विज्ञापन के नीचे आ गए थे, जो किसी के आने की सूचना देने के लिए आ चिपका था......आ रहा है, आ रहा है। पता नहीं क्या आ रहा है, कहां आ रहा है ? कहने का तात्पर्य यह है कि इस दीवार पर कभी कोई ऐसा इश्तहार नहीं चिपका जिसकी आवाज़ मैंने नहीं सुनी। किन्तु, उस दिन के इश्तहार की पुकार से सारी देह झनझना उठी। इतने दिनों के बाद आखिर एक ऐसा भी विज्ञापन चिपका जो सिर्फ ध्वनित ही नहीं होता, बल्कि झटके भी दे गया।

नरमुंड यानी खोपड़ी और उसके नीचे क्रास की हुई दो हड्डियां......किसी मशहूर जादूगर का इश्तहार भले ही हो......उसकी रहस्यमयी और डरावनी आवाजों की मुझ पर कभी कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। लाख बार चोरैट-चोरैट चीखता रहे.......तीन दर्जन तमगे लटकाने वाला और नाम के आगे प्रो० लगाने वाला टेढ़ी मूछों वाला मशहूर जादूगर ! किन्तु, सच कहूं.........यह जो, उस दिन इश्तहार टंगा, इसके अक्षर, शब्द और शब्दों की पुकार ने मेरे मन की कोई जकड़ी हुई खिड़की खोल दी। मन को एक नया परस मिला। इसी कस्बे के कुछ कठपुतली वालों की संतान ने मिल कर बड़े पैमाने पर एक प्रयोग किया है। कस्बे में पहली बार दिखला रहा है अपना तमाशा। कठपुतली नाच में किसन-लीला, कस्बे के कलाकारों ने ही एक-दो कठपुतलियों के सफल रेखाचित्र अंकित करके कठ-पुतली अक्षरों में ही लिख दिया....... राधा नाचे, गोपी नाचे, नाचे किसुन कन्हैया। ....क्या जाने क्यों, इस इश्तहार की पुकार को सुन कर मेरा मन भी डोल गया। कठपुतली नाच में किसुन-कन्हैया और राधा को क्या नाचते देखा, वह अलग से कहने की बात है। यहां इतना ही कहूं, देखते समय मुझे लगा ..... मेरी देह के जोड़-जोड़ में तार लगा हुआ है। मेरा चलना-फिरना मेरे बस की बात नहीं। मैं तो कठपुतली नहीं कठपुतला हूं। मन के पर्दे के पार बैठा सूत्रधार मनचाहे मुझे चलाता फिराता है।.......इस कस्बे के दादे-परदादे अपने बचपन में जिस नाच के पीछे पागल रहे होंगे, उस नाच की एक झांकी देखने को मिली। इतने दिनों के बाद, मैं भी पड़ोसी के जवान बेटे की तरह दीवार पर चिपके पोस्टर को पढ़ कर चिल्ला उठा, देख ले, देख ले, देखने वाले देख ले ! पागलपन की मशहूर दवा का लियोग्राफिक इश्तहार किन्तु पुकारता रहता है—हथेली पर सरसों जम गई, पागलपन की दवा बन गई...... एक बार आज़माइश .... ।

मुझे यह बात पहले ही मालूम थी, कि यह दीवार इसी सप्ताह तोड़ी जाने वाली है। चहारदीवारी के अन्दर जो बंगला था..... वह नीलाम हो गया है। नए मालिक ने दीवार गिरा देने का फैसला कर लिया है। किन्तु मुझे दुख नहीं। गिरते-गिरते मेरे मन को फिर से आशा और आस्था से भर गई है यह दीवार।

—पटना से प्रसारित

आखिरी अदालत का मुकदमा

विजयदेव नारायण साही

बहुत दिन पहले, जब मैं बूढ़ा था, तब की बात है। जिस शहर में मैं रहता था, उसी शहर, में, मेरे मकान से दूर एक दूसरी गली में एक शख्स का मकान था। वह बहुत जल्लाद था। उसका मकान बहुत बड़ा था। उसके दरवाज़े पर दरवान बैठता था। दरबान बहुत बदमाश था। गाली बकता था। उस शख्स से मैंने इश्क किया। ऐसा मुझको नहीं करना चाहिए था। लेकिन फिर भी मैंने किया। मेरी देखा-देखी और लोगों ने भी उससे इश्क किया। उन लोगों को भी ऐसा नहीं करना चाहिए था। लेकिन उन लोगों ने भी ऐसा किया। इससे मेरी और दूसरे लोगों की दुश्मनी हो गई। वे लोग उस जल्लाद से मिल गए।

मैंने कई बार उस जल्लाद के घर में जबर्दस्ती घुस जाने की कोशिश की। मगर मैं उसके मकान में घुस नहीं पाया। दरबान ने रोका। इस पर बड़ी गाली-गलौज हुई। मगर मैंने गाली नहीं दी। गाली दरबान न ही दी। मैं सिर्फ़ संजीदा हो गया। क्योंकि मैं शरीफ़ आदमी था। दरबान बदमाश था लेकिन मैं वहां से हटा नहीं। इस पर बड़ी मारपीट हुई लेकिन मैंने नहीं मारा। मारा दरबान ने ही। मैं संजीदा का संजीदा रह गया। इस पर बड़ी धक्कम-धुक्की हुई लेकिन धक्का मैंने नहीं दिया। धक्का दरबान ने ही दिया। उसने धक्के दे कर मुझे गली के बाहर निकालने की कोशिश की। इसमें वह सफल हुआ। क्योंकि मेरा स्वास्थ्य खराब था। दरबान स्वस्थ था।

मैं घर चला आया। मेरे घर में एक चारपाई थी। मैं उस पर लेट गया। उस जल्लाद और मेरे दुश्मनों ने मुझे मार डालने के लिए बहुत-से जाल रचे। लेकिन मैं बचता गया। एक बार उसने मेरे पास खबर भिजवाई कि वह मुझसे मिलने आवेगा। इस पर मुझे बहुत खुशी हुई लेकिन मैं बहुत बीमार था। मारे खुशी के मुझे लगा कि मैं मर जाऊंगा। तब मुझे बहुत डर लगा। क्योंकि मैं मरना नहीं चाहता था। इसलिए मैंने एक चालाकी की। मैंने उसके वादे का एतबार नहीं किया। इससे खुशी में कमी हो गई। मेरी जान बच गई। दुश्मनों की एक न चली।

तब मैंने सोचा कि अब क्या करूं। मैंने धीरज नहीं खोया। और चारपाई पर लेटे-लेटे उस जल्लाद का इन्तज़ार करने लगा। लेकिन वह नहीं आया। इसमें बहुत दिन लग गए। आखिरकार मैं मर गया।

मरने के बाद मेरा जनाज़ा निकला। इस पर मेरी बड़ी बदनामी हुई। मुझे इस बदनामी पर बड़ा अफ़सोस हुआ। मैंने सोचा कि इससे तो अच्छा था कि नदी में ही डूब गया होता। तब न जनाज़ा निकलता, न बदनामी होती। बड़ी ग़लती हुई। लेकिन अब क्या हो सकता था? अब तो मैं मर ही चुका था। इस गलती का मुझे जिन्दगी भर अफ़सोस रहा।

फिर मेरी कब्र बनी। उसमें मैं लिटा दिया गया। कब्र में लेटे-लेटे मैंने शेर कहना शुरू कर दिया। इससे मेरी बड़ी प्रसिद्धि हुई।

मेरे मरने की खबर उस जल्लाद ने सुनी, तो वह दौड़ा-दौड़ा मेरी कब्र पर आया और बहुत अफ़सोस ज़ाहिर करने लगा। कहने लगा कि आपके मरने की खबर सुन कर बहुत गम हुआ। आप बहुत अच्छे आदमी थे। ईश्वर आपकी मृतात्मा को शान्ति प्रदान करे। मैंने कहा—भाई, अपने घर जाओ। अब पछताने से क्या होता है?

इस पर वह शख्स ज़िद करने लगा कि मेरे साथ चलो, लेकिन मैंने चालाकी की। मैं जानता था कि यह शख्स मेरी जान लेने पर तुला हुआ है और इसका अफ़सोस करना सिर्फ अखबार में छपवाने का दिखावा है। अगर मैं इसके साथ गया तो यह मुझे जीता न छोड़ेगा। इसलिए मैंने कब्र में लेटे ही लेटे कहा कि अब मैं जिन्दगी भर तुम्हारे यहां नहीं आऊंगा। मैं गया नहीं। मेरी जान बच गई।

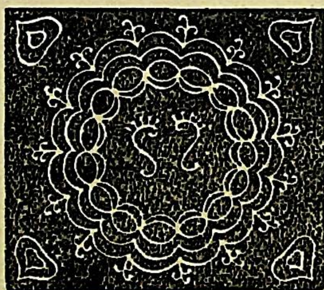
लेकिन उसने ज़िद नहीं छोड़ी। वह अक्सर मेरी कब्र पर आता रहा। आंसू बहाता था और कहता था कि मेरे साथ चलो। आखिरकार मैं एक दिन उसके साथ उसके घर चला गया। हुआ वही जो होना था। वहां उसने मेरी हत्या कर दी। बहुत दर्द हुआ। इस पर मुझे बहुत गुस्सा आया। मैंने कहा कि जीता रहा तो मैं इसका बदला ले कर रहूंगा।

वहां मेरे दुश्मन पहले से ही मौजूद थे। वे लोग मेरी यह बात सुन कर हंसने लगे।

मौका पाकर मैं बाहर निकल आया। बाहर आकर मैंने उस जल्लाद पर अपनी हत्या का मुकदमा चला दिया। अभी वह मुकदमा अपील की अदालत में चल रहा है। लेकिन वह शख्स पहले की कई अदालतों से छूट चुका है। लोग कहते हैं, कब्र से आए हुए आदमी की हत्या करना जुर्म नहीं है। मुझको कब्र से नहीं आना चाहिए था। कानून मैंने ही तोड़ा है। फांसी मरी ही होनी चाहिए। लेकिन मैं छोड़ूंगा नहीं। आखिरी अपील की अदालत तक लड़ूंगा। यह भी कोई बात है। बदतमीज़ी की भी हद होती है।

यह सब गप नहीं है। बिल्कुल सच है। मैंने पूरा हाल लिख कर किताब में छपवा दिया है। किताब शेर में है। मेरा नाम मिर्ज़ा ग़ालिब है। मैं दिल्ली का रहने वाला हूं। पहले मैं बड़े काम का आदमी था। बाद में धीरे-धीरे निकम्मा हो गया। ऐसा मुझको इश्क़ ने किया।

—इलाहाबाद से प्रसारित



उत्तराखण्ड की यात्रा

सेठ गोविन्ददास

उत्तराखण्ड के यमुनोत्तरी, गंगोत्तरी, केदारनाथ और बदरीनाथ की जिस यात्रा के सम्बन्ध में मैं आपसे यहां चर्चा कर रहा हूं, वह यात्रा बड़ी लम्बी और कठिन है। मैं देश में निरन्तर घूमता रहता हूं और विदेशों में भी अनेक बार गया हूं। किन्तु, इतनी लगातार लम्बी पैदल और कठिन यात्रा मैंने कभी नहीं की। अतः अनेक शारीरिक कष्ट इस यात्रा में हुए। किन्तु इन कष्टों के विपरीत जो मानसिक आनन्द हमें यहां के प्राकृतिक दृश्यों के कारण मिला उससे ये कष्ट हमें अधिक दुख न दे सके। यहां के प्राकृतिक सौंदर्य की तुलना में न कश्मीर के दृश्य हैं, न स्विटजरलैण्ड के। कश्मीर के अमरनाथ के कुछ दृश्य अधिक सुन्दर हो सकते हैं किन्तु, जो एक प्रकार की महानता हमें यहां इन दृश्यों में दृष्टिगोचर हुई, वह अन्यत्र कहीं नहीं।

उत्तराखण्ड के चारों धाम चार पवित्र नदियों के तट पर स्थित हैं। यमनोत्तरी का मार्ग यमुना के किनारे-किनारे, गंगोत्तरी का मार्ग गंगा के किनारे-किनारे, केदरनाथ का मार्ग मंदाकिनी के किनारे-किनारे तथा बदरीनाथ का मार्ग अलकनन्दा के किनारे-किनारे गया है। यात्रा के प्रारम्भ में पहले हमें साधारण वृक्षों के जंगल मिले फिर एक खास ऊंचाई पर चीड़ के। चीड़ का वृक्ष बड़ा सुन्दर होता है। इसकी शाखाएं पत्र गुच्छों से लदी रहती हैं। आप इन वृक्षों को दिल्ली में सेक्रेटरियट के समीप देख सकते हैं। इन वृक्षों के वहां घने जंगल हैं। फिर हमें देवदार के वृक्ष मिले। देवदार के वृक्ष चीड़ के वृक्षों से भी सुन्दर होते हैं। इनमें चीड़ के वृक्षों की अपेक्षा अधिक हरे पत्र-गुच्छ रहते हैं। सघन देवदार के वृक्षों से पर्वत की शोभा द्विगुणित हो जाती है। ऊंचे-ऊंचे शिखरों से गिरते अगणित जल-प्रपातों से तथा हिमानी शृंगों से इस वन-प्रदेश की शोभा में चार चांद लग गए हैं। जिस प्रकार के यत्र-तत्र शोभायमान हो रहे हिम शृंग हमें यहां दिखे और विशेषकर केदारनाथ की वह हिमानी जिसकी ऊंचाई तेईस हज़ार फुट है, उस प्रकार की इतनी विशाल, भव्य और ऊंची हिमानी संसार में हमने कहीं नहीं देखी।

फिर चारों नदियों का आप प्रवाह देखिए। यमुना का श्याम, गंगा का श्वेत, मंदाकिनी का हरा और अलकनन्दा का नीला नीर भिन्न-भिन्न उद्गमों से निकल कर भिन्न-भिन्न मार्गों से बह कर, भिन्न-भिन्न धामों को जाने वाले हम लोगों को अत्यन्त सुखदायक लगा। अब जरा इनके प्रवाह की गति देखिए। कल-कल करती कालिन्दी अपना श्याम-वर्ण लिए श्याम पाषाणों पर बहती है, भागीरथी अपने श्वेत नीर से श्वेत और नीले पाषाण खण्ड को चीरती किस शान, किस तूफानी वेग से तुमुलनाद करती चलती, जिसके रूप और गति को देख हम चकित, स्तंभित और भयभीत भी हो जाते। ऐसा प्रवाह मैंने दुनिया की किसी नदी में नहीं देखा। अलकनन्दा भी कहीं वेग से और कहीं शांति से भागीरथी के अनुसरण में किसी विरह बाला की तरह दौड़ी जाती है। फिर

जहां इन नदियों के संगम हैं, वहां के दृश्य और भी मनोहर हैं। इन संगमों से आगे जो प्रवाह बहता है, उसके नामकरण में हमारे ऋषि-मुनियों की अन्तर्दृष्टि का हमें आभास मिलता है। रुद्रप्रयाग में मन्दाकिनी का हरित नीर, अलकनन्दा के नीले नीर में समा गया है। अतः रुद्रप्रयाग के आगे के प्रवाह का नाम अलकनन्दा है। देवप्रयाग में अलकनन्दा का नीला पानी भागीरथी के श्वेत नीर में समा जाता है और भागीरथी का श्वेत प्रवाह आगे बढ़ता है। इसीलिए इसका नाम गंगा ही आगे माना गया। प्रयागराज में ही देखिए, यमुना का श्याम जल परिमाण में अधिक होते हुए भी गंगा में मिलते ही विलीन हो जाता है, अतः आगे गंगा का ही नाम चला।

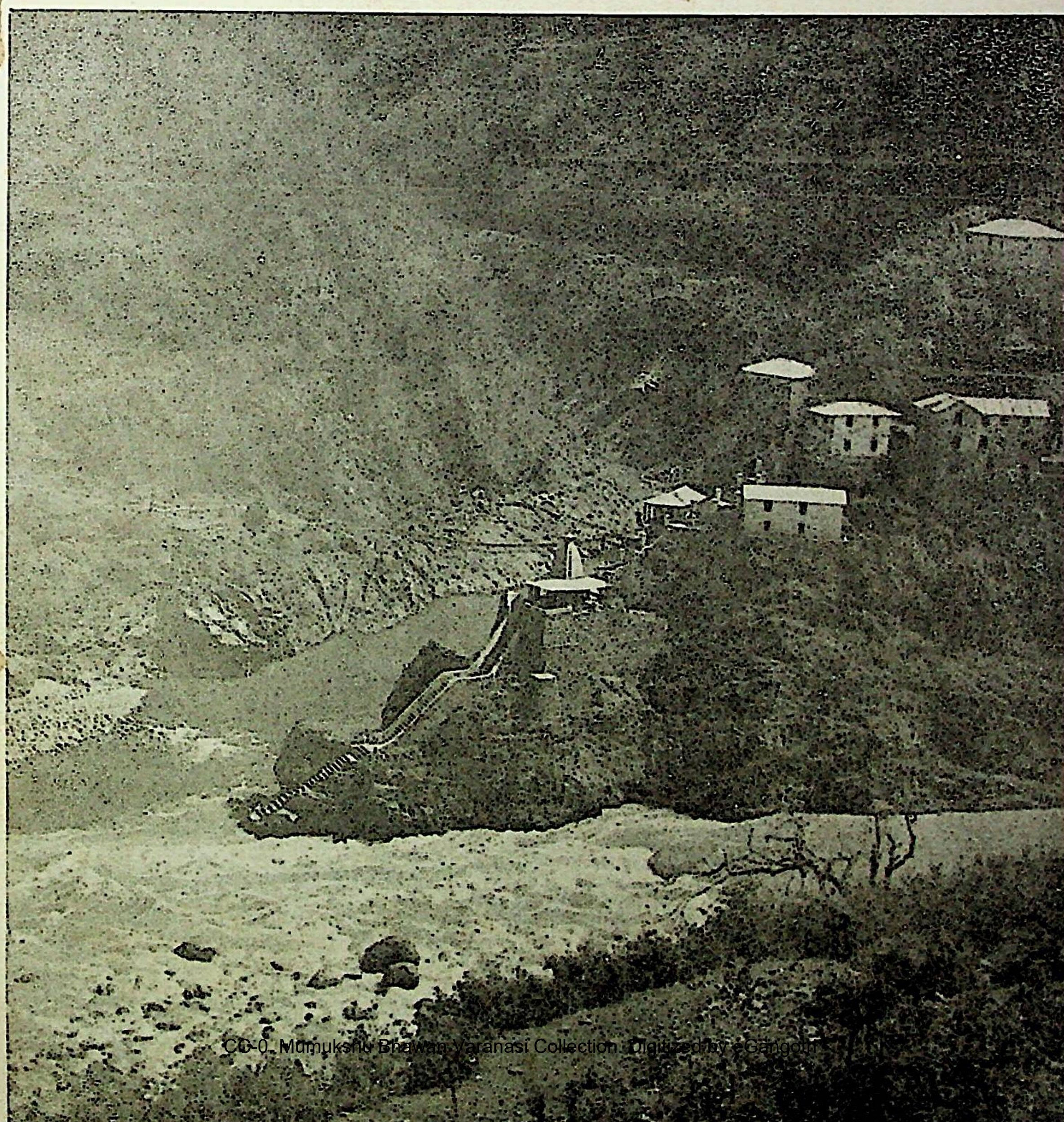
उत्तराखण्ड के चारों धामों में यमुनोत्तरी और गंगोत्तरी का मार्ग जितना बीहड़ और संकीर्ण है, उतना केदारनाथ और बदरीनाथ का नहीं। यमुनोत्तरी और गंगोत्तरी में एकदम सीधी और विकट चढ़ाइयां हैं, और फिर दो-ढाई और तीन फुट तक का संकरा मार्ग, हज़ारों फुट नीचे गहरे भयानक खंदक, और इन सरिताओं का प्रवाह। कहीं-कहीं ऊपर सिर पर कच्चे पहाड़, जिनके टूटने का भय बना रहता है। यमुनोत्तरी के मार्ग में एक जगह तो पहाड़ों में चर रही भेड़ों ने कुछ पत्थरों की वर्षा भी इन कच्चे पहाड़ों के कारण कर दी थी। हां, केदारनाथ और बदरीनाथ का मार्ग अच्छा है। चढ़ाई है, पर एकदम सीधी नहीं। मार्ग चौड़ा है, घुमाव पर मेंड़ें बना दी गई हैं।

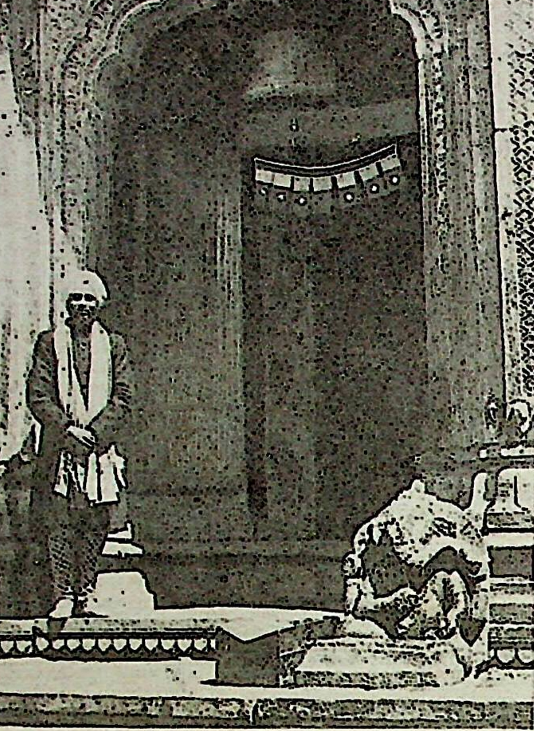
हम लोग यात्रा पर धार्मिक भावना से गए थे। वहां हमने देखा किस प्रकार का पूजन होता है। मैं वल्लभ सम्प्रदाय का हूं और वल्लभ सम्प्रदाय में पूजा न होकर सेवा होती है। प्रसिद्ध सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों के पदों के साथ यह सेवा भी अलौकिक ही है। केदारनाथ और बदरीनाथ में पूजा होती है। यहां की पूजा की जो विधि मैंने देखी, उससे भी मैं अत्यन्त प्रभावित हुआ। रुद्री के महामंत्र के साथ केदारनाथ के रुद्राभिषेक और शुक्ल यजुर्वेद की स्वर सहित ऋचाओं के साथ बदरीनाथ के पंचामृत स्नान ने हमें गद्‌गद कर दिया। इस तरह की विधि-विधान से पूर्ण पूजा जैसी मैंने वहां देखी वैसी कहीं नहीं।

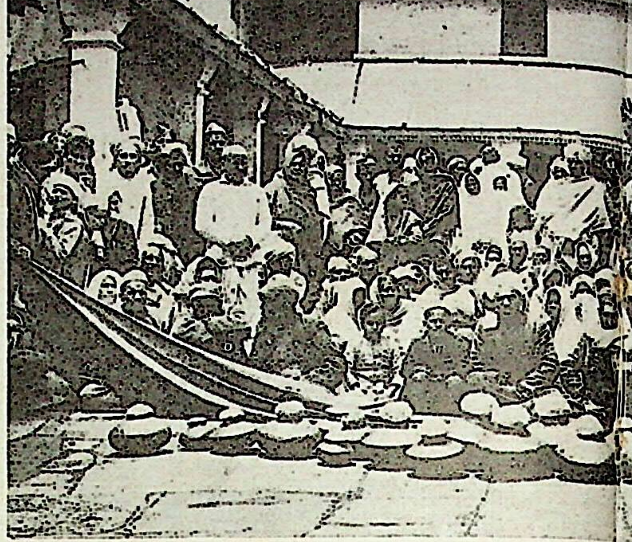
ऐसा सुन्दर धार्मिक और सांस्कृतिक भव्य वायुमण्डल का यह दृश्य केदारनाथ और बदरीनाथ के इन मन्दिरों में देख कर मुझे हमारी सगुण उपासना, मूर्त्ति पूजा का जो रहस्य अनुभव हुआ वह वर्णनातीत है। कुछ लोगों का यह कहना है कि पहले निर्गुण ब्रह्म की उपासना होती थी और मूर्त्ति पूजा नहीं थी, यह तो बाद में आई। यह मैं स्वयं मानता हूं। किन्तु, उन्हीं लोगों द्वारा जब यह कहा जाता है कि हिन्दुओं की मूर्त्ति पूजा अथवा सगुणोपासना एक ढोंग है, तो मुझे उनका यह कथन अत्यन्त हास्यास्पद प्रतीत होता है। मैं ऐसे लोगों से निवेदन करूंगा कि जब मूर्त्ति पूजा नहीं थी और यहां केवल केदारवन और बदरीवन थे, तब कितने लोग यहां इन बीहड़ वनों को देखने आते थे। आज भी कितने लोग प्राकृतिक सौंदर्य के अद्वितीय स्थल कैलास और मानसरोवर को जाते हैं। उत्तर स्पष्ट है, जब हमारे ऋषि-मुनियों ने इन पवित्र तीर्थों की स्थापना की, मूर्त्ति पूजा की सगुण उपासना के महत्व को बढ़ाया, तबसे हमारी आस्तिक धर्म प्राण जनता का यहां हर वर्ष मेला लगा रहा है और आज भी मार्ग की अनन्त असुविधाओं और पहाड़ों की भीषण दुर्गमताओं के होते हुए भी यात्रियों की यह संख्या दिनों दिन बढ़ती ही जाती है। कदाचित कोई यह कहे कि अब पहले की अपेक्षा मार्ग अच्छे हो गए हैं, इसलिए लोग आते हैं। किन्तु, मैं उनसे फिर निवेदन करूंगा कि अमरनाथ के अत्यन्त दुर्गम मार्ग में आज भी जो लोग जाते हैं, क्या वे वहां के प्राकृतिक दृश्यों को देखने जाते हैं? बात

उत्तराखण्ड की यात्रा

अलकनन्दा और मन्दाकिनी का संगम, रुद्रप्रयाग







बदरीनाथ मन्दिर के केरल से आए रावल भोग ल

केदारनाथ मन्दिर का द्वार और उसके मैसूर से आए रावल



ागा रहे हैं



बदरीनाथ मन्दिर का मुख्य द्वार

केदारनाथ मन्दिर

गगोतरी मन्दिर

यमनोत्तरी मन्दिर

ऐसी नहीं है। यदि वहां भी कैलास और मानसरोवर के सदृश ही केवल प्राकृतिक सौंदर्य मात्र होता तो कोई कदापि नहीं जाता। लोगों को जहां उनकी धार्मिक भावनाओं के साकार दर्शन इन पवित्र देवालयों में होते हैं, वे भले ही कितने ही ऊंचे शिखर और कितने ही दुर्गम मार्ग द्वारा उन्हें प्राप्त हों, श्रद्धा और भक्ति के आसरे अनन्त कठिनाइयों को झेलते लोग आतुरभाव से दौड़े जाएंगे। तपोवनों का समय अब बीत गया है और निर्गुण उपासना का भी। अब तो हमारी धार्मिक भावनाओं के उद्गम इन तीर्थ स्थलों, देवालयों का यह समय है, जहां से हमारे धर्म और संस्कृति में प्राणों का संचार होता है।

मैं सगुणोपासना और मन्दिरों की मूर्त्तियों को हिन्दू धर्म के विकास का एक बहुत बड़ा साधन मानता हूं। बदरीनाथ की मूर्त्ति को लीजिए। इस मूर्त्ति में 'जा की रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी' के अनुसार दर्शन होते हैं। यह मूर्त्ति डेढ़ फुट ऊंचे श्याम संगमर्मर की है। हम वैष्णवों को इस मूर्त्ति में भगवान विष्णु के दर्शन हुए। शैवों को शिव के होते हैं, जैनियों को तीर्थंकर के और बौद्धों को भगवान बुद्ध के। अत्यन्त हर्ष का विषय है कि कम-से-कम एक मूर्त्ति तो ऐसी है ही जिसमें भारत के विभिन्न वर्गों, क्षेत्रों और सम्प्रदायों के लोगों के इष्टदेव प्रतिभासित होते हैं। यह भारत की समन्वयकारी संस्कृति की प्रतीक बन गई है। किन्तु, इसका दूसरा पहलू भी है, वह है झगड़े का। यदि कोई बौद्ध, कोई जैन अथवा अन्य कोई मतावलम्बी मन्दिर पर अधिकार का दावा करे, तो यह एक अनिष्टकारक घटना होगी।

महर्षि वेदव्यास और शंकराचार्य आदि के कार्यों में उनके निवास स्थान के हमें आज भी यहां प्रत्यक्ष दर्शन हुए। वेदव्यास ने यहीं महाभारत की रचना की थी। इसके प्रमाण में महाभारत में उनके द्वारा की गई इस स्थल की वंदना में लिखा गया महाभारत का पहला श्लोक यहां देना पर्याप्त होगा—

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं चैव ततोजयमुदीरयेत्॥

यहीं निकट जो व्यास गुफा है, उसके समीप नर और नारायण पर्वत तथा सरस्वती का पावन प्रवाह है। गुफा से तीनों के सुन्दर दर्शन होते हैं। इस श्लोक में एक ओर व्यास जी ने नर, नारायण और सरस्वती की वंदना की और दूसरी ओर नर नारायण, पर्वत तथा सरस्वती नदी की।

ज्योतिर्मठ में हमने शहतूत का वह वृक्ष भी देखा, जिसके नीचे तपोभूत शंकराचार्य को ज्योति के दर्शन हुए और उसके निकट ही उनकी वह शंकर गुफा भी देखी जिसमें वह निवास किया करते थे। इसी वृक्ष के नीचे भगवान शंकराचार्य ने तत्वज्ञान के उस महान ग्रन्थ शांकरभाष्य की रचना की थी। ज्योतिर्मठ का सेब, नासपाती, अखरोट आदि फलों से लदे पौधों का बगीचा, संस्कृत का विद्यालय आज भी जगतगुरु शंकराचार्य के पवित्र प्रयत्नों और संकल्पों को दुहरा रहा है जिसके दर्शन मात्र से हमने महान् प्रेरणा पाई।

हमारे ऋषि-मुनियों ने दूर तपोवनों में एकान्त साधना द्वारा सदैव भारत की जो एकता तथा हित की चिन्तना की है, वह उनके कार्यों द्वारा सिद्ध हो जाती है। यहां उनकी इस भारतीय एकता की भावना की पुष्टि में एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। भारत के उत्तर में स्थित इन दो देव मन्दिरों, केदारनाथ और बदरीनाथ के पुजारी जिन्हें रावल कहा

जाता है, उत्तर के न होकर केदारनाथ के कर्नाटक से और बदरीनाथ के केरल से आते हैं। आज पर्यन्त उनके द्वारा निर्धारित की गई पद्धति और नियम का पूर्णतया पालन हो रहा है। भारत को एकसूत्रता में बांध रखने की जिस भावना का दर्शन हमारे इन ऋषि-मुनियों में हमें होता है, उसे इन मन्दिरों के पूजन नियम में अनुभव कर किस भारतीय का मस्तक श्रद्धा से इन ऋषि चरणों में न झुक जाएगा।

हम यद्यपि इस यात्रा के लिए प्रधानतया धार्मिक भावना से ही गए थे, तथापि जब तक आधिभौतिक शरीर है, जिसके लिए कहा गया है ·······'शरीर माद्यं खलु धर्म साधनं' तब तक मानव किस प्रकार रहता है और क्या-क्या सहता है, इससे भी आंखें नहीं मूंदी जा सकती हैं। अत: आध्यात्मिक प्रेरणा से इन सात सप्ताहों का जीवन ओत-प्रोत रहने पर भी हम यहां की गरीबी को देख दुखी हुए बिना न रह सके। यों, तो सारा भारत देश ही गरीब है, किन्तु, जहां प्रकृति ने विपुल सम्पत्ति बिखेरी है, वहां मानव के कुछ न करने के कारण गरीबी और उत्कट स्थिति में है। यहां इतना पानी है, जितना अन्यत्र कहीं नहीं। उसका सिंचाई में कम-से-कम उपयोग होता है। इस सिंचाई से केवल अधिक अन्न ही नहीं उपजाया जा सकता परन्तु लम्बे-चौड़े फलों के उद्यान भी लगाए जा सकते हैं। खनिज पदार्थों की खोज करके उन खनिज पदार्थों को पर्वतराज के पेट से निकाल जन-उपयोग में लाया जा सकता है, जंगली वृक्षों और बांस से कागज की उत्पत्ति की जा सकती ह। भेड़ों की नस्लों का सुधार कर उनसे ऊन की उत्पत्ति बढ़ा ऊन के गृह-उद्योग जारी किए जा सकते हैं। न जाने क्या-क्या किया जा सकता है। इस प्रकार यह प्रदेश जितनी आध्यात्मिक प्रेरणा प्रदान करता है, उतना ही आधिभौतिक दृष्टि से सम्पन्न वनाया जा सकता है।

—दिल्ली से प्रसारित

होनहार

हरिशंकर परसाई

एक स्त्री अपने छोटे से पुत्र को ले कर एक ज्योतिषी के पास गई और कहा—पंडित जी, इस लड़के का कुछ भविष्य बतलाओ।

ज्योतिषी ने कहा—माता, तू इसके कुछ लक्षण बता। इसमें तूने कोई विलक्षण बात देखी?

स्त्री ने कहा—यह लड़का रात को सोते-सोते बड़े ज़ोर से चिल्लाता है 'जागो, जागो! ······'आगे बढ़ो, आगे बढ़ो!'

ज्योतिषी ने पूछा—माता, जब यह 'जागो' और 'आगे बढ़ो' चिल्लाता है, तब यह क्या करता है?

—यह तो ऐसा रहता है पत्थर सरीखा! पर चिल्लाता है 'जागो! आगे बढ़ो!'

ज्योतिषी ने कहा—माता, तेरे लड़के का भविष्य उज्ज्वल है। यह नेता बनेगा।

—इलाहाबाद से प्रसारित

टेलीविज़न

पी० एल० देशपाण्डे

अपने अनुभव की बातों को दूसरों के सामने व्यक्त करने का मनुष्य का विलक्षण स्वभाव है। चाहे बाज़ार में दो पैसे का नीबू ही क्यों न खरीदने जाए, यह स्वाभाविक है कि घर आने पर बाज़ार की भीड़ के बारे में, या जाते समय बस किस प्रकार छूट गई थी, उसके बारे में, या पहले जैसे नीबू अब नहीं मिलते उस बारे में, कुछ न कुछ चर्चा करने की इच्छा होती ही है। उसके बगैर मन को एक प्रकार से संतोष भी नहीं मिल पाता। सभी कलाओं का आधार इस अनुभव का आदान-प्रदान है। चाहे साहित्य हो या शिल्प हो, चित्र हो अथवा संगीत हो, सभी की अभिव्यक्ति इसी आधार शिला द्वारा होती है। नाट्य शास्त्र, अभिव्यक्ति के प्रगट करने का अत्यन्त प्रभावशाली माध्यम है। वास्तव में प्राचीनकाल में गद्य अथवा पद्य के द्वारा कथाओं की अभिव्यक्ति हुआ करती थी। महाकाव्य गाकर सुनाए जाते थे और कथाएं श्रोताओं के आमने-सामने बैठ कर सुनाई जाती थीं। इस परम्परा के पंथ पर पहला प्रहार मुद्रणकला के द्वारा हुआ। जिन लोककथाओं और काव्यों को पहले सुना जाता था, अब उनका वाचन आरम्भ हो गया। नाटक भी छपने लगे थे। जनता पहले जिन नाटकों को केवल देखा करती थी, अब पढ़ने लगी थी। सौभाग्य से, पुस्तकों के प्रकाशन ने नाट्यकला पर ऐसा भयंकर प्रहार नहीं किया। जिस प्रकार से मोदक का आनन्द खा कर मिलता है, उसी प्रकार से नाटक का रसास्वादन देख कर ही हो पाता है। शताब्दियों तक यह कला और इसका व्यवसाय भली भांति टिका रहा और जब, उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में रजतपट पर चित्रों का नर्तन आरम्भ हो गया, तब अवश्य इस व्यवसाय को एक हलका-सा झटका लगा। अब जनता नाट्यगृहों को छोड़ कर मूक चित्र देखने के लिए जाने लगी थी। परन्तु वहां जनता को पूर्णरूप से संतोष प्राप्त नहीं होता था। आंखों की प्यास अवश्य बुझ सकी, परन्तु कानों के द्वारा मिलने वाला रस प्राप्त न होने से यह अभिव्यक्ति अपूर्ण रह गई। यह सत्य है कि चित्र देख कर ध्वनि के संस्कार जागरूक होते हैं, परन्तु नाट्य जगत में ध्वनि का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। मूक चित्रपट के ज़माने में रजतपट के सामने तबला पेटी वाले और निवेदक बैठा करते थे और जहां चित्रपट में आवश्यकता होती थी संगीत दिया करते थे। निवेदक, जहां-तहां चित्र के सम्बन्ध में कुछ वाक्य बोला करता था। परन्तु, समय बीत जाने पर मूक चित्रपट को वाणी प्राप्त हुई, और फिर नाट्यगृहों को छोड़ कर चित्रशालाओं में भीड़ होने लगी। परन्तु, रंगमंच की मर्यादा है, जब कि बोलते हुए चित्रों में कोई प्रतिबंध नहीं था। समुद्र के घन जैसे गम्भीर गर्जन से ले कर नायिका की मंजुल निःश्वास तक ऐसी कोई भी ध्वनि नहीं है, जिसकी चित्रपट के द्वारा अभिव्यक्ति सम्भव न हो। छाया चित्रण करने वालों ने अपनी समग्र यंत्र सामग्री के द्वारा पृथ्वी का पर्यटन कराया और ध्वनि लेखक ने फिल्म के एक टुकड़े पर ध्वनि का मुद्रण करके सिनेमा घर में बैठने-वाले दर्शकों को बैठे-बैठे पृथ्वी की प्रदक्षिणा करा दी। क्योंकि इस माध्यम में इतनी शक्ति थी। नाट्यशालाओं में यह जादू सम्भव नहीं था। शत-प्रति-शत

नाचती, गाती फिल्मों के आने के बाद नर्तकों, गायकों, लेखकों, कवियों के लिए एक नए जगत का द्वार खुल गया और जिस प्रकार अमेरिका में कंचन प्राप्ति का समाचार सुन कर दौड़ आरम्भ हुई थी, उसी प्रकार सिनेमा जगत में प्रवेश पाने के लिए कलाकार और यंत्रमर्मज्ञ दौड़ने लगे और रंगभूमि के कुछ गिने-चुने सेवकों ने नाट्यशालाओं के खाली रहने पर भी, रात-रात भर भूखे पेट रहते हुए भी अपनी मर्यादा के आसन को नहीं छोड़ा। यह शोर मचा कि नाट्यकला मर गई। लेकिन देखा जाए तो नाट्यकला नहीं मरी। हां नाट्यव्यवसाय अवश्य समाप्त हुआ। क्योंकि चित्रपट में, नाट्यकला ने ही एक नवीन स्वरूप धारण किया था। रंगमंच के नाटकों का समावेश ही चित्रजगत की छाया कथाओं में हुआ। तंत्र नया था, लेकिन उसकी आत्मा तो वही थी। चाहे वह चित्रपट की कथा हो या रंगमंच के नाटक की, कथावस्तु वही रही। दोनों ही जगह कथानक के प्रवाह में संघर्ष की चिनगारी के द्वारा ही बल मिला। परन्तु यह मानना ही पड़ेगा कि बोलपट की शक्ति अधिक थी और आज भी है। चित्रजगत में कला को विज्ञान का बहुत बड़ा अवलम्ब मिला, जबकि नाटक का प्रभाव एक खेल के साथ समाप्त हो जाता था। नाट्यगृहके अन्दर वहां के पांच या सात सौ दर्शकों और रंगमंच पर अभिनय करने वाले कुछ कलाकारों की एक सीमा थी। एक बार फिर उसी नाटक का खेल करने का अर्थ होता था, एक बार फिर आरम्भ से ले कर अन्त तक कलाकारों के साथ वही परिश्रम और दर्शकों की फिर वही जमावट जबकि सिनेमा-जगत में यह बात नहीं है। एक बार जो मेहनत करनी होती है, उसके समाप्त होते ही फिर पुस्तकों के छापे खाने की तरह उस खेल की छपाई आरम्भ हो जाती है और उसे दुनिया भर में कहीं भी भेजा जा सकता है। कलाकार अपनी कला का जो चमत्कार एक बार दिखा देते हैं, वह भी एक प्रकार से मुद्रित हो जाता है। संकलन कर्ता, यदि अपनी उसमें कुछ बुद्धिमानी दिखाता है, तभी कुछ बदलने की सम्भावना होती है, अन्यथा नहीं।

दूसरा चमत्कार संसार की किसी भी भाषा में चित्र के भाषांतर की यांत्रिक सुविधा है। नाटक करने वाले कलाकार अधिक से अधिक एक या दो भाषाओं के द्वारा अपने नाटक खेल सकते हैं। परन्तु, चित्रपट के संसार में किसी भी काल और किसी भी भाषा के शब्दों का सम्बन्ध, फिल्म की पट्टी के साथ, भाषांतर वाणी द्वारा जोड़ा जा सकता है। इस प्रकार इन सभी साधनों के द्वारा चित्रपट को ही मनोरंजन का बड़ा साधन माना जा सकता है। कुछ समय तक, चित्रपट ने अन्य सभी कलाओं को कुचल कर अपना राज्य प्रस्थापित कर लिया था, उन्हीं के द्वारा चित्रपट का एक अनोखा प्रतिद्वंद्वी रेडियो के रूप में उत्पन्न किया गया। नाटक और चित्रपट देखने के लिए लोगों को घर छोड़ कर बाहर जाना पड़ता था। अब जनता को यह नन्हीं-मुन्नी जादू की पिटारी रेडियो के रूप में घर बैठे ही नाटक और गीत सुनाने लगी। पहले लोग संगीत सुना करते थे, नाटक देखा करते थे। अब वे नाटकों का दर्शन भी सुन कर करने लगे। यह जानते हुए भी कि यह केवल ध्वनिमाध्यम का चमत्कार है, कला के इस बालक रेडियो को नाटक और चित्रपट से अधिक यश मिला। साथ ही इस माध्यम को यह शक्ति प्राप्त है, कि ध्वनि निरूपण के द्वारा यह अपने घरों तक देश-देश की कलाकृतियों को पहुंचा पाता है। चित्रपटों ने नाट्यगृहों को सूना किया और रेडियो ने महफिलों की भीड़ कम कर डाली। नाटकों में रंगमंच की सीमा थी, चित्रपटों में सजीव दृश्यों की सीमा थी, और रेडियो को श्रवण शक्ति के द्वारा आनन्द प्रदान करने की शक्ति थी। परन्तु बीसवीं शताब्दी की चालीसवीं सीढ़ी को पार करने वाले शास्त्रज्ञानियों ने इस कला क्षेत्र में एक और नूतन क्रान्ति का दर्शन कराया, मनोरंजन का एक नया साधन प्रस्तुत किया। रेडियो से कान लगा कर हम सारे

संसार की बातें सुन सकते थे। परन्तु, पुराणों के त्रिकालदर्शी दर्पण के समान नूतन आविष्कार टेलीविज़न अथवा 'दूर दर्शन' नाम का यह दर्पण अब हमें विश्व के दर्शन कराने लगा। रेडियो के द्वारा ध्वनि-नाट्य घरों में आए थे, और टेलीविज़न द्वारा रंगमंच और नाटक ही नहीं, बल्कि विशाल क्रीणांगणों की क्रीणा तक को टेलीविज़न के द्वारा हम अपने दीवानखाने में रखी हुई मेज़ पर देखने लगे। टेलीविज़न केवल नाटकों के लिए ही नहीं, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के लिए एक चुनौती है। अब हमको सिनेमा के दरवाज़े पर लाइन लगा कर खड़ा नहीं होना पड़ता। भीड़ का डर नहीं है। केवल बटन दबा कर, मनोरंजक या शैक्षणिक जो भी कार्यक्रम चाहते हैं, टेलीविज़न के द्वारा घर बैठे उसका दर्शन हो जाता है। संसार के विचारक इस विचार में खोए हुए हैं, कि शास्त्रज्ञानियों ने मोहिनी का निर्माण किया है, या भस्मासुर का। अभी इस यंत्र का इतना अधिक प्रचार नहीं हुआ है। परन्तु जिस देश में इसका प्रचार हुआ है, वहां के सामाजिक जीवन पर टेलीविज़न ने अपना अद्‌भुत प्रभाव दिखाया है। सुबह हो, या दोपहर, या शाम घर के छोटे, बड़े-बूढ़े इस छोटे से परदे पर टकटकी लगाए देखते रहते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि घर में किसी मेहमान के आने पर उससे बातें करने का समय भी नहीं मिल पाता। वैसे ही सिनेमा का प्रभाव बहुत काफ़ी है, उसके साथ ध्वनिनिरूपण की सहायता से इस कार्यक्रम के निर्माता उत्कृष्ट कार्यक्रम प्रस्तुत करते हैं, तो दर्शक घंटों बैठे-बैठे उसे देखते ही रहते हैं। टेलीविज़न देख कर ऐसा लगता है जैसे हम चित्रपट और नाटक के सम्मिलित रूप को घर बैठे देख रहे हैं। यह मेरा आत्मविश्वास है कि सजीव कलाकारों के द्वारा किए गए नाटक, चित्रपट पर दिखाए गए चित्र, लेखकों के द्वारा सुनाई गई कथा और रेडियो पर गाए हुए गीत का अलग ही महत्व है। परन्तु सजीव कलाकारों की कला के दर्शन की बात कुछ और ही है। और जिस देश में नाटकों की परम्परा है, वहां रेडियो अथवा टेलीविज़न द्वारा उससे समाप्त करने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। यह सत्य है कि मनोरंजन के साम्राज्य में नाट्यकला का एकाधिपत्य हो चुका है। दोनों के बीच में स्पर्धा अवश्य उत्पन्न हुई, परन्तु रंगमंच के सजीव मनुष्यों की कला के उत्तम प्रयोग की झलक न रुपहरी परदे पर आई, न दूरदर्शन यंत्र के द्वारा प्राप्त हुई। और इसीलिए इस बात को मैं स्वीकार नहीं करता कि टेलीविज़न दीवानखाने का रंगमंच है। वह एक प्रभावशाली शिक्षक हो सकता है, उत्कृष्ट मार्गदर्शक हो सकता है, संवाददाता हो सकता है, घर बैठे दुनिया भर की सैर करा सकता है परन्तु नाटकों के समान प्रत्यक्ष प्रमाण देने वाली कला के जिस सजीव अंग को चित्रपट नहीं छीन सका, उसे टेलीविज़न भी नहीं छीन सकेगा। देखा जाए तो टेलीविज़न का प्रभाव सिनेमागृहों के दर्शकों की संख्या पर पड़ा है, नाट्यशाला के स्नेहियों पर नहीं। आज विदेश में भी रेडियो, चित्रपट और टेलीविज़न की शक्तिशाली स्पर्धा में, एक विशाल वृक्ष के समान नाट्यकला अपने सजीव रूप में सुसज्जित खड़ी है। उसे चैतन्य शक्ति का आधार प्राप्त है। रंगमंच पर कला को वास्तविक आकार देने वाले कलाकार और दर्शक दोनों का जीवन पर्यन्त अटूट सम्बन्ध है। वे दूध और पानी की तरह घुल-मिल गए हैं। मनुष्य-मनुष्य से एकरूप हो सकता है। परन्तु यंत्र के द्वारा परदे पर दिखाए हुए मनुष्य के साथ वह एकरूप नहीं हो सकता। नाटकों को देख कर हम भूल जाते हैं, लेकिन चित्र इतने जल्दी नहीं भूल सकते। इसीलिए आज भी मुझे ऐसा ही लगता है, कि टेलीविज़न सजीव नाटकों को नहीं मिटा सकेगा। दोनों की अपनी अलग-अलग शक्ति है। टेलीविज़न में हम घर में बैठाने की शक्ति है, और नाटक में घर से बाहर निकाल कर नाट्यगृह में बैठाने की।

—बम्बई से प्रसारित

आज का दिन

जी० एन० फिराक

दुखी-दिलों को दाग जिगर के फिर हो आए याद,
शालिमार से 'न्याय-न्याय' का फिर उठता है नाद,
विरही के अंतर में गूंजा फिर प्रिय का संवाद।
आज दिवस आया, खुशियों का, हास का,
आज दिवस आया उत्सव-उल्लास का,
गिरा रहे हैं सरफ़रोश अब सम्राटों का ताज,
सूली पर मंसूर चढ़ा कल, गरज रहा है आज,
आज ज़ालिमों पर विजयी है कल का दलित समाज।
दिन है आज कसाला करने वालों का,
दिन है आज उजाला करने वालों का।
आज ज़िंदगी की हलचल से मौत हुई बदरंग,
आज सत्य के लिए छिड़ा मानव-मानव में जंग,
लगी गगन में आग, कांपता है धरती का अंग।
आज दिवस है वीरों के संकल्प का,
आज दिवस है जग के कायाकल्प का।
आज मुहब्बत के सपनों में आई फिर से जान,
आज ज़िंदगी के उपवन पर छाई है मुसकान,
आज सुनाओ अरमानों को फिर वसंत का गान।
आज दिवस है इन्कलाबी नाद का,
आज दिवस है दलितों के आह्लाद का।
आज करो प्रण, वतन करेंगे हम फिर से आबाद,
कभी न होने देंगे अपने सपनों को बर्बाद,
सदा करेंगे अमर शहीदों की गाथाएं याद।
निकलेंगे हम आज नए अंदाज़ से,
मांग संवारेंगे नव युग की, नाज़ से।

[रूपान्तरकार : डा० हरिवंशराय बच्चन]

—दिल्ली से प्रसारित

चेरी की डाल वाला इंसान

डा० धर्मवीर भारती

चीड़ के लम्बे नाजुक पेड़, ढलानों पर खिले सफेद नीले फूल, एक पर एक छाई हुई हरी-नीली पहाड़ियों की कटी-फटी शिख रेखाएं, घुमावदार पहाड़ी रास्तों और चढ़ते-उतरते आवारा बादलों की पृष्ठभूमि में वह अजब-सा लग रहा था। गोया वह वहां है नहीं, किसी सचित्र पत्रिका में से काट कर चिपका दिया गया है। सर पर पुलिस की पुरानी लाल पगड़ी, चिथड़ी खाकी पोशाक, घुटनों तक फटी जुर्राबें, चटका हुआ खुरदरा जूता, कमर में पेटी और कंधे पर सूखी पत्तियों और पुराने कागजों का बोरा—कमर की पेटी में डंडे की जगह एक चेरी की फूल-लदी डाल, काला झुर्रियों पड़ा बूढ़ा चेहरा!

टेढ़े-मेढ़े पहाड़ी रास्ते पर चक्कर खाती हुई बस उतर रही थी। सामने सुन्दर घाटी थी, चीड़ के जंगल थे। बादलों की परतें थीं। पहाड़ी फूल के यह सब पीछे थे। उनके ऊपर थी यह रंग-विरंगी विचित्र मूर्त्ति जो स्थिर नहीं खड़ी थी, चल भी नहीं रही थी। बीच रास्ते में खड़ी हाथ कभी ऊपर गिरा कर कभी दाएं उठा कर, कभी बाएं फैला कर इशारे दे रही थी। मानो चौराहे पर ट्राफिक कन्ट्रोल कर रहा हो। वस अपनी गति से चलती हुई ज़रा आगे बढ़ कर अड्डे पर खड़ी हो गई। वहां मुसाफिरों के परमिट देखे जाते हैं। सवारियों की गिनती होती है और फिर बस चल देती है। बस के रुकते ही वह हांफता और भागता हुआ पीछे-पीछे आया और ठीक बस के आगे जाकर इंजन के सामने खड़े होकर उसने अटेन्शन की मुद्रा में पांव मिलाए, बदन ताना और खटाक से एक सैल्यूट दिया!

—पगला है।—किसी मुसाफिर ने दबी जबान कहा। बाकी अपनी-अपनी सीट पर चुपचाप बैठ रहे। वह चक्कर काट कर बस के बगल में आया और एक खिड़की के सामने खड़ा हो गया। बोला—हाथ को अन्दर करना बस चलने पर, नहीं खतरा होना, चोट लगना, पत्थर गिरना।........खिड़की पर भद्र महिला बांह रखे बैठी थीं। उन्होंने बांह अन्दर कर ली। उसके चेहरे पर सफलता और अधिकार का कृतज्ञता-भरा भाव आया और उसने अटेन्शन होकर खटाक से सैल्यूट दिया। एक-एक कर उसने सभी की ओर देखा........कुछ इस भाव से कि पहाड़ी रास्तों का जिम्मा उस पर है, वह न हो तो बसें खड्ड में जा गिरें, मुसाफिर जान-माल से जाएं।......कुछ इस भाव से कि अगर आप आना-दो आना उसे दे दें, तो वह मना नहीं करेगा।.......मुसाफिर सब चुपचाप बैठे रहे। जिससे उसकी नज़र मिली उसने मुंह अन्दर कर लिया।

उसने अपनी कमर से चेरी की फूल लदी डाल निकाली और उससे बस का रास्ता झाड़ने लगा और फिर सहसा खड़ा हो गया और ज़ोर से बोला—हमारे मुलुक का आज़ादी खुसी का बात है, परसनता का बात है। पहाड़ का सीज़न जाता है, दीवाली आता है।

आना-दो आना बखसीस सिपाही फूलासिंह की खातिर।......सब चुप ! मुसाफिरों पर कोई असर नहीं।

—अरे भाई ! तुम्हें कप्तान साहब पूछ रहे थे। तुम्हारे साथी लोग पूछ रहे थे, कभी शहर हो आओ न —ड्राइवर ने उसे छेड़ते हुए कहा।

वह बोलते-बोलते रुक गया। उसके चेहरे पर अजब ममता भरी याद छा गई क्षण भर को। और फिर गर्व से बिना ड्राइवर की ओर देखे बोला—जाएगा, जरूर जाएगा। अभी हमारा तनखाह नहीं बांटा है। तनखाह आएगा, फूलासिंह जाएगा।

कुछ मुसाफिरों को रस आने लगा। उनके चेहरे की मुसकान देख कर ड्राइवर बोला—इसने शाब एक चोर को भगा दिया। उसका औरत बच्चा इसका पांव पड़के रोता था। साहब डिसमिज़ बोल दिया इसको।

उसे जैसे चोट लगी। बस से दूर हट गया। बोला उसी मशीनी स्वर में—आज़ादी चोर का, आज़ादी साहब का। आज़ादी गुण्डा का, आज़ादी साहब का ....

—चुपबे।—उसकी बात काट कर क्लीनर बोला और इंजन ठंडा करने के लिए जो कवर खुला था, उसे गिरा दिया। अब बस चलेगी।

उसके मुंह पर निराशा छा गई। किसी ने कुछ भी तो नहीं दिया। आना-दो आना तो दूर, पैसा-दो पैसा भी नहीं। अब अगली बस चौबीस घण्टे बाद आएगी।......उसने एक बार फिर आवाज़ दी—सीज़न जाता है, दीवाली आता है। आज़ादी का दीवाली खुशी से मनाता है। बच्चा लोग को खिलौना देता है—सिपाही लोग को बखसीस देता है।

मुसाफिर सीट पर संभल कर बैठ गए। अब बस स्टार्ट होगी। किसी ने एक सिगरेट की डब्बी फेंकी। उसने उठाई, खोली, खाली थी। उसकी पन्नी फेंक दी, दफ्ती बोरे में डाल दी।

इंजन घरघराया। बस चल दी। उसके मुख की निराशा आहत अभिमान में बदल गई। नहीं कोई कड़वाहट नहीं, कोई शिकायत नहीं। वह बैठ गया और बोरे में हाथ डाला। एक मुट्ठी कागज़ बिखेर दिए— फरमान पर फरमान ! कागज़ आएगा, कागज़ जाएगा। वह फिर बोला—फूलासिंह का तनखाह आएगा; कागज़ इधर से, कागज़ उधर से। कागज़ का आज़ादी, कागज़ का चोर।

बस ने घुमाव ले लिया था। एक फर्लांग निकल गया था कि फूलासिंह ने ज़ोर से बोरे को ठोकर मारी। हज़ारों कागज़ बिखर गए और प्राणपण से ज़ोर लगा कर फूलासिंह बोला—फूलासिंह का कागज़ ऊपर से आएगा, ऊपर से।—और उसने अटेन्शन खड़े होकर एक बांह नीचे गिरा कर एक सीधी ऊपर की ओर उठा दी ......

कितनी देर तक वह ऐसे खड़ा रहा, नहीं मालूम। चीड़ के लम्बे नाज़ुक पेड़, घुमावदार पहाड़ी रास्ते। हरे-भरे ढलानों पर कागज़ से काट कर चिपकाई गई तस्वीर की तरह। धीरे-धीरे बस आगे बढ़ी। पहाड़ियां उस पर छा गईं। जंगलों ने उसे समेट लिया। एक विराट हरियाली की भंवर में डूब गया वो, ओझल हो गया।

—इलाहाबाद से प्रसारित



रमेशचन्द्र दत्त

मन्मथनाथ गुप्त

रमेशचन्द्र दत्त एक योग्य प्रशासक, देशभक्त और उच्च कोटि के साहित्यकार थे। इतने सद्गुणों का एकत्र समावेश वहुत कम लोगों में होता है। साहित्यकार के रूप में उनकी गिनती बंगाल के युगप्रवर्तक साहित्यकारों में है। प्रशासक के रूप में उनकी स्थिति यह थी कि १९वीं शताब्दी में कमिश्नर के उच्च पद तक पहुंचने वाले एकमात्र भारतीय वही थे। रही उनकी देशभक्ति सो उसका परिचय उनके प्रशासन और साहित्य दोनों में हम पाते हैं। एक प्रशासक के रूप में उन्होंने हमेशा जनता का पक्ष लिया और नौकरशाही का विरोध किया।

वह एक प्रख्यात कुल में पैदा हुए थे। उनके प्रपितामह नीलमणि दत्त कलकत्ता के एक मशहूर हिन्दू नेता थे। उनके चाचा रसमय दत्त कलकत्ता के संस्कृत कालेज के प्रिंसिपल थे और फिर इसके वाद जज हुए। श्री रसमय दत्त में भी हम प्रतिभा की वही विविधता देखते हैं, जो हम रमेशचन्द्र दत्त में देखते हैं। रमेशचन्द्र के पिता ईशानचन्द्र दत्त बंगाल के सर्वप्रथम डिप्टी कलेक्टरों में से थे। यह वह युग था जब भारतीयों को डिप्टी कलेक्टर वहुत कम बनाया जाता था। कुमारी तरुदत्त का नाम एक अंग्रेज़ कवयित्री के रूप में प्रसिद्ध है। वह रमेशचन्द्र दत्त की नजदीकी बहन लगती थीं।

रमेशचन्द्र दत्त का जन्म इसी वातावरण में कलकत्ते में १८४८ के १३ अगस्त को हुआ। उनके पिता डिप्टी कलेक्टरी के सिलसिले में सारे बंगाल में घूमते रहते थे। इस प्रकार वालक रमेशचन्द्र को बंगाल के ज़िलों का अच्छा ज्ञान हुआ। यह स्मरण रहे कि उन दिनों रेलें नहीं थीं और सारी यात्रा नाव, घोड़ा गाड़ी आदि से ही करनी पड़ती थी।

वह कम उम्र में ही मातृ-पितृहीन हो गए और अपने चाचा शशिचन्द्र की देखरेख में शिक्षा प्राप्त करने लगे। शशिचन्द्र स्वयं साहित्य प्रेमी थे और उनके घर में साहित्य की चर्चा बराबर हुआ करती थी।

रमेशचन्द्र १८६४ में मैट्रिकुलेशन परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। अपने स्कूल से परीक्षा देने वाले छात्रों में उनका नम्बर सवसे ऊपर रहा। १८६६ में उन्होंने एफ० ए० की परीक्षा दी और उसमें वह विश्वविद्यालय में द्वितीय हुए। इसके बाद उनके जीवन में एक अजीब छलांग आती है। अब तक वह एक साधारण मेधावी छात्र की तरह चल रहे थे, पर अब उनमें जो प्रतिभा थी, उसने जोर मारा और वह एकदम असाधारण मार्ग पर चल निकले।

सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, बिहारी लाल गुप्त और रमेशचन्द्र दत्त इन तीन युवकों ने षड्यन्त्र किया और ३ मार्च, १८६८ को वे इंगलैंड रवाना हो गए। इनमें से केवल सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने अपने पिता की सम्मति से यात्रा की थी। बाकी दोनों घर से भाग गए थे। इसीलिए स्टीमर में जो तीन आसन लिए गए थे, उनमें तीनों का नाम नहीं था बल्कि वे सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और उनके दो मित्रों के नाम से लिए गए थे। स्मरण रहे कि उन दिनों विलायत जाना,

यहां तक कि घर से भाग कर जाना केवल एक साहसिक कार्य ही नहीं था, बल्कि उसमें और भी तरह-तरह की बातें थीं, जिन पर उन्हें सोचना पड़ा था। अभी हिन्दू समाज में समुद्र यात्रा निषिद्ध समझी जाती थी और जो लोग समाज के बाधा-निषेध को बिना माने हुए समुद्र यात्रा करते थे, उन्हें समाज निकाला दे दिया जाता था, पर इन तीनों नौजवानों ने इन बातों की परवा नहीं की।

उन्हें भविष्य की चिन्ता नहीं थी और यदि थी तो वे यह सोचते थे कि जब कोई बुरा काम नहीं किया है, तो समाज से क्यों डरना। इन भागने वालों में से सुरेन्द्रनाथ बनर्जी बाद को बंगाल के बहुत बड़े नेता हुए, यहां तक कि उन्हें बंगाल का मुकुटहीन राजा कहा जाता था। बिहारीलाल गुप्त आई० सी० एस० के एक प्रसिद्ध सदस्य रहे और बहुत सालों तक प्रशासक के रूप में कार्य करने के बाद वह कलकत्ता हाई कोर्ट के जज के पद से निवृत्त हुए।

ये भागे हुए युवक इंग्लैंड पहुंचे और उन्होंने वहां पढ़ना शुरू किया। १८६६ की आई० सी० एस० परीक्षा में तीन सौ अंग्रेज परीक्षार्थी थे, पर रमेश चन्द्र दत्त को तीसरा स्थान मिला। अंग्रेज़ी साहित्य में उनका स्थान दूसरा था। संस्कृत में उनका स्थान प्रथम रहा, सो उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं।

रमेशचन्द्र दत्त जब छात्र के रूप में इंग्लैंड में रहे, तो वह केवल पठन-पाठन में ही लगे रहे, ऐसी बात नहीं। वह बड़ी सावधानी से वहां के सारे आन्दोलनों का निरीक्षण करते रहे। वह अक्सर ब्रिटिश संसद में जा कर बैठते और ग्लैडस्टन तथा डिजराइली के भाषण सुनते थे। उन दिनों भारत के विशेष मित्रों में जान ब्राइट और हेनरी फाकेट प्रसिद्ध थे। रमेशचन्द्र दत्त इन लोगों से मिले।

इस प्रकार ब्रिटिश राजनीति के साथ चाक्षुष परिचय प्राप्त करने के अलावा वह वहां के साहित्यकारों तथा विद्वानों के सम्पर्क में भी आने का प्रयास करते रहे। हितवाद के प्रतिपादक जान स्टुअर्ट मिल जिन सभाओं में भाषण देते थे, वह उनमें भी जाते थे। कई बार वह प्रसिद्ध उपन्यासकार चार्ल्स डिकेन्स की सभाओं में भी गए, जहां चार्ल्स डिकेन्स अपने उपन्यास का कुछ अंश पढ़ कर सुनाते थे। लन्दन विश्वविद्यालय कालेज में उन्होंने हेनरी मार्ले और थियोडोर गोल्डस्ट्रकर नामक उस समय के दो प्रसिद्ध अध्यापकों के साथ अन्तरंग परिचय प्राप्त किया।

इस प्रकार जब तक वह इंग्लैंड में रहे, तब तक वहां की सर्वोत्कृष्ट प्रतिभाओं के सम्पर्क में आते रहे और अपने मन को ऐश्वर्यशाली और विस्तृत बनाते रहे।

जब वह आई० सी० एस० हो कर लौटे तो उन्हें बंगाल के विभिन्न ज़िलों में प्रशासक के रूप में काम करना पड़ा। १८७४ में नदिया जिले में भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा, वहां उनकी नियुक्ति की गई और उन्हें लोगों को सहायता पहुंचाने के कार्य में दिल खोल कर भाग लेने का मौका मिला। इसी प्रकार जब १८७६ में दक्षिण पूर्व बंगाल में भयंकर तूफान आया और हज़ारों लोग बेघरबार हो गए तो उन्हीं को इस कार्य के लिए भी भेजा गया। गंगा के मुहाने के पास दक्षिण सहबाज़पुर नामक द्वीप में प्रशासन बिल्कुल खतम हो गया था। वहां उसे पुनः संगठित करने के लिए उन्हें ही भेजा गया। इसी प्रकार उन्हें कहीं हैजे के रोगियों की मदद और कहीं अव्यवस्था दूर करने के लिए भेजा गया। उन दिनों बंगाल के साहित्य-संसार में बंकिमचन्द्र बहुत ज़ोर से चमक रहे थे, वह भी सरकारी नौकर थे। इन दोनों महारथियों का परिचय हुआ और यह संयोग बंगला साहित्य के लिए बहुत फलप्रद

प्रमाणित हुआ। रमेशचन्द्र दत्त का यह खयाल था कि क्योंकि उन्होंने अंग्रेज़ी में शिक्षा पाई है और इंग्लैंड में ही उनका बहुत सा समय गया है, इसलिए वह अंग्रेज़ी में ही लिख सकते हैं, पर बंकिमचन्द्र ने उनसे कहा नहीं आप बंगला में लिखिए, आपको अवश्य सफलता मिलेगी। रमेशचन्द्र दत्त को शंका थी कि मुझे तो बंगला की साहित्यिक शैलियों का परिचय नहीं है, इसलिए मैं कैसे बंगला में लिख पाऊंगा।

बंकिमचन्द्र ने कहा कि आपके जैसा विद्वान और अपनी संस्कृति में पगा हुआ व्यक्ति जैसे भी लिखेगा वही अच्छी शैली होगी। इस पर रमेशचन्द्र ने बंगला में लिखना शुरू किया और बंकिमचन्द्र ने यह भविष्यवाणी की कि बंगला साहित्य में उनका स्थान बहुत ऊंचा होगा।

रमेशचन्द्र दत्त ने हिन्दू शास्त्रों का बहुत अच्छी तरह अध्ययन किया था और चाहते थे कि इस सम्बन्ध में एक ऐसी पुस्तक लिखें जिसमें सारे हिन्दू शास्त्रों का निचोड़ आ जाए और जो घर-घर में पहुंच सके। इस दिशा में भी उन्हें बंकिमचन्द्र से अनु-प्रेरणा मिली। बाद को चल कर उन्होंने दो खण्डों में प्रकाशित हिन्दू शास्त्र नामक अपनी पुस्तक की भूमिका में लिखा—"आज से तीन साल पहले एक दिन प्रातः स्मरणीय बंकिमचन्द्र के साथ भेंट हुई, तो मैंने बातों-बातों में उनसे यह ज़िक्र किया कि विपुल हिन्दू शास्त्रों का सार-संग्रह करके एक पुस्तक में पेश करना सम्भव है कि नहीं? मैंने यह पूछा था कि यह ऐसी पुस्तक हो जिससे हिन्दू अपनी नीति के सम्बन्ध में शिक्षा प्राप्त कर सकें। बंकिमचन्द्र उदारचेता, उत्साही और स्वदेश हितैषी व्यक्ति थे। जिस प्रस्ताव को सुन कर दूसरे लोग सिमट जाते थे, वह उसी को सुन कर प्रफुल्लित होते थे। दूसरे लोग जिस कार्य से पनाह मांगते थे, वह उसी में उत्साह का प्रदर्शन करते थे। उन्होंने मेरे प्रस्ताव का समर्थन किया। यदि वह आज जीवित होते तो यह पुस्तक गौरव मंडित हो कर प्रकाशित होती।"

रमेशचन्द्र ने बंगला लिपि में सारी ऋग्वेद संहिता प्रकाशित की, साथ ही उसका बंगला अनुवाद भी किया। उन्होंने ऋग्वेद का अंग्रेज़ी अनुवाद भी प्रकाशित किया। हमारे देश की अवस्था उस समय ऐसी थी कि उन कामों पर खुश होने की बजाय बहुत से लोगों ने रोड़े अटकाए और उन लोगों ने इस पर दुख और आश्चर्य प्रकट किया कि ऋग्वेद की पवित्र वाणी अब एक अब्राह्मण के द्वारा अनूदित हो कर साधारण जनता के सामने आ रही है। बंगला भाषा के पत्रों में इस पर बहुत से लेख निकले और रमेशचन्द्र दत्त को अनधिकारी और जाने क्या-क्या कहा गया। अजीब बात तो यह है कि अनुवाद प्रकाशित होने के पहले से ही लोगों ने यह प्रचार किया कि अनुवाद ठीक नहीं है। पर इस अपप्रचार का परिणाम विपरीत ही रहा। यदि एक तबका ऐसा मौजूद था जो ऋग्वेद का भाषानुवाद करने पर नाराज हो रहा था, तो दूसरा तबका ऐसा था जो इस पर बहुत खुश था। इन सारी बातों का नतीजा यह हुआ कि पुस्तक का प्रचार बहुत तेज़ी के साथ हुआ। १८८६ तक यह अनुवाद पूरा हो गया। इस प्रकार रमेशचन्द्र दत्त को बंगला में ऋग्वेद का अनुवादक होने का भी श्रेय प्राप्त है।

इस महान कृति के अतिरिक्त उन्होंने कुल मिला कर छः बंगला उपन्यास लिखे, जिनमें 'महाराष्ट्र जीवन प्रभात' (१८७८) 'राजपूत जीवन सन्ध्या' (१८७९) सबसे प्रसिद्ध हैं। इन उपन्यासों से यह प्रमाणित होता है कि रमेशचन्द्र दत्त सकीर्ण प्रादेशिकता के दायरे में मातृ-भूमि की कल्पना नहीं करते थे। महाराष्ट्र और राजस्थान ने जो वीर पैदा किए उन्हीं को आधार बना कर इन उपन्यासों की रचना हुई। जो लोग बिना जाने बूझे और

सोचे-समझे यह कह सकते हैं कि बंगाल में प्रादेशिकता का ही बोलबाला रहा, उन्हें यह भूलना नहीं चाहिए कि बंगला के उपन्यासकारों ने, विशेषकर बंकिमचन्द्र और रमेशचन्द्र ने अखिल भारतीय देशभक्ति को ही अपने उपन्यासों की भूमि बनाई।

इस सम्बन्ध में मैं वैयक्तिक जानकारी से यह भी बता दूं, कि रमेशचन्द्र दत्त और बंकिमचन्द्र के इन देशभक्तिमूलक ऐतिहासिक उपन्यासों का प्रयोग क्रांतिकारी दल में क्रांतिकारी साहित्य के रूप में होता था। उनसे वह वातावरण बनता था जिसमें क्रांतिकारी विचार पनप सकते थे। यहां यह बता दिया जाए कि एक बंगला उपन्यास से ही भारत को वन्देमातरम् मिला। अस्तु !

उक्त दो उपन्यासों के अतिरिक्त रमेशचन्द्र ने बंगविजेता (१८७४), माधवी कंकण (१८७७), संसार (१८९३) और समाज (१८९४) भी लिखे। बंगविजेता और माधवी कंकण भी ऐतिहासिक उपन्यास हैं। बंगविजेता का समय १६ वीं शताब्दी का मध्य भाग है तथा राजपूत जीवन सन्ध्या, माधवी कंकण और महाराष्ट्र जीवन प्रभात का काल १७वीं शताब्दी है। ये चारों उपन्यास बाद को चल कर 'शतवर्ष' नाम से भी प्रकाशित हुए थे, क्योंकि इनमें अकबर, जहांगीर, शाहजहान और औरंगजेब, इन चार बादशाहों के सौ वर्ष व्यापी राज्यकाल का विवरण दिया गया था।

इन उपन्यासों में देश-प्रेम के अलावा लेखक की अद्भुत सृजन शक्ति का भी परिचय मिलता है। डाक्टर सुकुमार सेन के अनुसार ऐतिहासिक उपन्यासों में ऐतिहासिक वातावरण की सृष्टि सुन्दर रूप से होने के साथ ही सामाजिक उपन्यासों में यानी 'संसार' और 'समाज' में गांव का जो चित्रण हुआ है, वह बहुत ही अभूतपूर्व है। गांव के शांत, कोमल, मधुर जीवन के चित्रण में भी रमेशचन्द्र अग्रगामी थे। इनके पहले लालबिहारी दे ने वर्द्धमान के ग्रामीण इलाकों का चित्रण किया था, पर उन्होंने ऐसा अंग्रेज़ी में ही किया था। बंगाल में इस प्रकार के चित्रण का प्रारम्भ करने का श्रेय रमेशचन्द्र को ही है।

रमेशचन्द्र प्रशासक के रूप में काम करते रहे और साथ ही अत्यन्त महत्वपूर्ण साहित्यिक तथा सांस्कृतिक कार्य भी करते रहे। १८८३ के आसपास उन्होंने बंगीय साहित्य परिषद् की स्थापना की। इस परिषद् ने बाद को चल कर बहुत बड़े काम किए और बंगला साहित्य के इतिहास के सम्बन्ध में बहुत से शोध भी इसी के तत्वावधान में हुए।

ग्यारह साल सेवा करने के बाद वह जिला मजिस्ट्रेट हो गए, यह एक बहुत बड़ी घटना थी और अंग्रेज़ों ने इसका बहुत विरोध किया था। जब उनकी सेवा २२ साल की हो चुकी तब यह समझा गया कि अब उन्हें कमिश्नर बनने से किसी भी तरह रोका नहीं जा सकता। अंग्रेज़ अधिकारी यह नहीं चाहते थे कि रमेशचन्द्र किसी भी हालत में कमिश्नर बनाए जाएं, पर उनका कार्य इतना अच्छा रहा और सारे कार्य उन्होंने इतनी योग्यता से किए थे कि १८९४ के अप्रैल में वह वर्द्धमान डिवीज़न के कमिश्नर बना दिए गए। १८९७ के अक्तूबर में २६ साल की सेवा के बाद उन्होंने आई० सी० एस० से छुट्टी ले ली।

वह चाहते थे कि अब और भी स्वतन्त्रता पूर्वक साहित्य सेवा करें तथा राजनीति में भाग लें, पर यह द्रष्टव्य है कि उन्होंने सारी साहित्यिक रचनाएं, जिनके कारण उनकी आज विशेष ख्याति है, सेवा के ज़माने में ही प्रस्तुत की थीं। १८९९ में वह लखनऊ कांग्रेस में गए। इस प्रकार वह डबल्यू० सी० बनर्जी आदि नेताओं के साथ कार्य करते रहे। उन दिनों कांग्रेस न तो जन-संस्था थी और न कोई संग्राम-शक्ति

संगठन। उन दिनों वह आवेदन-निवेदन का एक संगठन था और रमेशचन्द्र दत्त इसमें बहुत सफल रहे। उन्होंने इंग्लैंड में जाकर भारतीयों की अवस्था पर भाषण भी दिए और अंग्रेज़ों को यह समझाया कि भारतीयों को अधिकार सौंप देना चाहिए। इस सिलसिले में उन्हें एक बार लार्ड कर्जन से भी लोहा लेना पड़ा। लार्ड कर्जन इस मत के प्रतिपादक थे कि भारतीय ज़िम्मेदार शासन करने के योग्य नहीं हैं। रमेशचन्द्र दत्त ने इसका विरोध किया।

हमने रमेशचन्द्र दत्त के सम्बन्ध में अब तक जो कुछ कहा, उससे यही लगता है कि वह उच्च कोटि के साहित्यकार और प्रशासक थे, पर उन्होंने 'ब्रिटिश भारत का आर्थिक इतिहास' नामक एक पुस्तक लिखी जिससे यह ज्ञात होता है कि वह अर्थशास्त्र के भी बहुत बड़े विद्वान थे। उन्होंने भूमि के बन्दोबस्त सम्बन्धी रिकार्डों और कागज़ों का अच्छी तरह अध्ययन किया, न जाने कितनी फाइलें देख डालीं और तब यह पुस्तक लिखी।

उन दिनों गायकवाड़ एक प्रगतिशील राजा समझे जाते थे। उन्होंने रमेशचन्द्र को अपने यहां प्रशासन में भाग लेने के लिए बुलाया और रमेशचन्द्र ने यह देखा कि ब्रिटिश भारत में जो सुविधा नहीं है, वह यहां है। तदनुसार उन्होंने बड़ौदा का राजस्व मन्त्री होना स्वीकार किया। उन्होंने इन दिनों भगिनी निवेदिता को जो पत्र लिखा, वह यहां उद्धृत किया जाता है—मैं यह कोशिश कर रहा हूं कि खेतिहरों की ज़मीन पर जो अत्यधिक टैक्स है, उससे उन्हें बचाऊं। मैं यह चेष्टा कर रहा हूं कि पूंजीपतियों को समझाऊं कि वे नई मिलें खोलें और उद्योग चालू करें। यदि मैं व्यवस्थापिका परिषद् का ढंग से निर्माण कर सकूं और राज्य का कार्य जनता के हित में और जनता के सम्पर्क में चलवा सकूं तो अपना श्रम सार्थक समझूंगा। सब कुछ खुला होगा। कोई भी बात पीठ पीछे गुप्त तरीके से कष्ट देने के ढंग से या तानाशाही ढंग से नहीं होगी। कुछ लोग ज़रूर कहेंगे कि यह तो स्वप्न द्रष्टा है, पर कुछ भी हो, निष्क्रियता और अवरुद्धता में जागते रहने की अपेक्षा कार्य और प्रगति के विषय में स्वप्न देखना भी अच्छा है। मैं तो प्रथम ढंग ही अपना सकता हूं, शेष मेरी प्रकृति के विरुद्ध है।

रमेशचन्द्र दत्त ने केवल स्वप्न ही नहीं देखे बल्कि उन्होंने गायकवाड़ से बहुत से काम करवाए। किसानों का लाखों का लगान माफ करवाया, धनियों पर टैक्स लगवाया। पहले धनी टैक्स नहीं देते थे, बल्कि गरीब ही टैक्स देते थे। यह उस युग में बहुत बड़ा कार्य था।

बाद को रमेशचन्द्र दत्त इसी राज्य में उच्चतर पद पर नियुक्त हुए और उनके हुक्म से सारे राज्य में निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का प्रवर्त्तन हुआ। आगे चल कर वह विकेन्द्री-करण कमीशन के सदस्य बनाए गए। वहां भी वह कमिश्नरों और कलेक्टरों की तानाशाही और गैरजिम्मेदाराना अधिकारों के विरुद्ध लड़ते रहे।

सुदीर्घ कर्ममय जीवन के बाद १९०९ के ३० नवम्बर को उनकी मृत्यु हुई। प्रशासन सम्बन्धी उनका कार्य शायद भुला दिया जाए क्योंकि उन्होंने विदेशी शासन की ओर से कार्य किया, पर एक साहित्यकार और देशभक्त के रूप में उनका नाम अमर रहेगा।

—दिल्ली से प्रसारित

तिल कन्या

शेख गुलाब

अंधियारी और उजियारी दो सगी बहनें थीं। अंधियारी बड़ी और उजियारी छोटी थी। अंधियारी का रूप काली रात जैसा और उजियारी का रूप चन्दा जैसा था। सब लोग उजियारी के रूप की सराहना करते थे पर अंधियारी के नाम से मुंह बिचकाते थे। इससे अंधियारी के मन में अपनी छोटी बहन के लिए बड़ी जलन होती थी। वह मनौती मनाती कि कोई ऐसी बीमारी आ जाए, जिससे उजियारी या तो कुरूप हो जाए अथवा मर जाए। जब बहुत दिनों तक उसकी यह इच्छा पूरी नहीं हुई, तब एक दिन खुद ही अपनी बहन की हत्या करने के लिए तैयार हो गई।

एक दिन जब वे दोनों पानी लाने कुएं पर गई थीं, अंधियारी ने मौका पाकर उजियारी को कुएं में ढकेल दिया। उजियारी कुएं में तो गिर गई पर डूबी नहीं। कुएं में एक जड़ लटक रही थी, वह उसी को पकड़ कर लटक गई। कुएं के पास पीपल का एक वृक्ष था। उसकी डाल पर एक कबूतर बैठा था जो यह सब तमाशा देख रहा था। वह अपनी गुटर-गूं आवाज में अंधियारी से बोला—ए लड़की! तूने अपनी बहन को कुएं में तो ढकेल दिया पर तू क्या यह समझती है कि इससे तेरा रास्ता साफ हो गया है। देख कहीं तेरी दशा भी तिल कन्या जैसी न हो जाए, क्योंकि संसार की सदा से यही रीति है कि जो जैसा व्यवहार दूसरे के साथ करता है, उसके साथ भी वैसा ही व्यवहार होता है। भले का बदला भला और बुरे का बदला बुरा मिलता है।

अंधियारी ने कहा—भला बता तो ऐसा किस तरह होता है।

कबूतर ने कहा—तू बैठ जा, मैं तुझे तिल कन्या की कहानी सुनाता हूं।

अंधियारी कुएं की जगत पर बैठ गई और कबूतर ने कहानी कहनी आरम्भ की। कबूतर बोला—बहुत पुरानी बात है, किसी गांव में एक ठाकुर रहता था। वह गरीब था। दिन भर मेहनत-मज़दूरी करना और रात को चैन से सोना, यही उसका काम था। उसके कोई सन्तान नहीं थी, इसका दुख उसकी स्त्री को अधिक था। वह रोज नहा-धो कर पीपल के वृक्ष में जल चढ़ाती और आंचल फैला कर सन्तान का वरदान मांगती थी। एक दिन जब वह आंचल फैला कर मनौती मान रही थी, उसके आंचल में पीपल के दो फूलों में तिली भरी थी, एक में काली और दूसरी में सफेद तिली। एक-एक फूल इन्हीं कोठियों में उसने रख दिया।

बात पुरानी हो गई। एक रात जब ठाकुर-ठकुराइन सो रहे थे तो तिल की कोठी में से एक आवाज उन्हें सुनाई दी। ऐसा जान पड़ा जैसे कोई लड़की मधुर-सुर में गा रही हैं। आवाज इस तरह की थी—

ऐ री मेरी मातु लढ़ंती, मत होवे दुखियारी।
तेरी कोठी में तो खेले, तिल कन्या ये प्यारी॥

भाग जगा ले, गोद खिला ले, हो जा री सुखियारी।
मेरी मातु लढ़ैंती ।।

ऐसी मीठी धुन को सुन कर ठकुराइन के मन में माता की ममता जाग उठी। उसने झपट कर कोठी का मुंह खोल डाला। कोठी का मुंह खुलते ही क्या देखती है कि कोठी के भीतर एक सुन्दर कन्या खेल रही है। रंग उसका सांवला है। ठकुराइन ने झट से कन्या को गोद में उठा लिया और छाती से चिपका कर प्यार करने लगी। ठाकुर भी प्रसन्न हो गया। भगवान ने कोठी फोड़ कर मनमानी मुराद दे दी थी। अब दोनों कन्या के प्यार में मग्न हो गए।

थोड़ी देर के बाद दूसरी कोठी से जिसमें सफेद तिली भरी थी, वैसी ही गाने की आवाज़ आने लगी—

ऐ री मेरी मातु लढ़ैंती, मत होवे दुखियारी।
तेरी कोठी में तो खेले, तिल कन्या ये प्यारी ।।
भाग जगा ले, गोद खिला ले, हो जा री सुखियारी।
मेरी मातु लढ़ैंती ।।

आवाज़ सुन कर दोनों कोठी के पास गए और जैसे ही कोठी का मुंह खोला, चन्दा के समान सुन्दर एक कन्या उन्हें खेलती हुई दिखाई दी। ठकुराइन ने फिर लपक कर कन्या को उठा लिया और सीने से लगाकर चूमने लगी।

अब ठाकुर और ठकुराइन दोनों बड़े सुखी थे। उनकी दो लड़कियां थीं। एक काली और दूसरी गोरी। काली का नाम उन्होंने श्यामकली रखा, गोरी का नाम चन्द्रकली रखा। मां-बाप का प्यार पा कर दोनों लड़कियां बड़ी हुईं। अब दोनों के विवाह की चर्चा चलने लगी। होते-होते चन्द्रकली की सुन्दरता की चर्चा राजा के कान तक पहुंची। राजा ने ठाकुर के पास चन्द्रकली के विवाह का प्रस्ताव भेजा। भला राजा का प्रस्ताव कौन टाल सकता था? चन्द्रकली की बात पक्की हो गई। इस पर श्यामकली को बुरा लगा और उसी रोज से चन्द्रकली से ईर्ष्या रखने लगी।

अन्त में शादी का दिन आ पहुंचा। खूब धूम-धाम से राजा के साथ चन्द्रकली की शादी हुई। माता-पिता ने खूब रो-धो कर बेटी को विदा किया। श्यामकली भी बहन के साथ उसकी ससुराल चली। बारात राजधानी के पास आ गई, तो राजा ने शहर के बाहर बगीचे में डेरा डलवा दिया। रात के समय सब लोग नाच-रंग में मस्त हो गए। इधर चन्द्रकली को साथ लेकर श्यामकली बगीचे की बहार देखने डेरे से निकल पड़ी। चांदनी रात थी। दोनों घूमत-घूमते कुएं के पास पहुंच गईं। कुएं को देख कर श्यामकली के मन का सोया हुआ पाप जाग पड़ा। उसने चन्द्रकली से कहा—बहन अपने गहने-कपड़े थोड़ी देर के लिए मुझे दे दे। मैं पहन कर कुएं में ज़रा अपना रूप तो निहारूं। भला देखूं तो मैं कसी लगती हूं।

चन्द्रकली ने अपने सारे गहने-कपड़े उसे दे दिए और उसके खुद पहन लिए। अब श्यामकली गहने-कपड़े पहन कर तैयार हो गई और कुएं में झांक कर अपना रूप देखने लगी। चन्द्रकली भी उसके साथ कुएं में झुक गई। बस इसी समय मौका पाकर श्यामकली ने चन्द्रकली को कुएं में ढकेल दिया। चन्द्रकली कुएं में डूब गई। श्यामकली अपने डेरे में वापस आ गई। दूसरे दिन बारात राजमहल पहुंची, अब श्यामकली नई बहू थी। सबने नई रानी का स्वागत किया। राजा ने इसके पहले कभी चन्द्रकली को नहीं देखा था अतः

उसने श्यामकली को ही अपनी विवाहिता पत्नी समझा। श्यामकली राजा के साथ आनन्द से महलों में रहने लगी।

कुछ दिन बाद, एक दिन राजा अपने मित्रों के साथ उसी बाग में घूमने के लिए आ गया। घूमते-घूमते राजा को प्यास लगी। नौकर पानी लेने कुएं पर दौड़ा। जैसे ही नौकर ने पानी खींचने के लिए बाल्टी कुएं में डाली, एक सुन्दर फूल खिच आया, पर जैसे ही उसने उसे पकड़ने के लिए हाथ बढ़ाया फूल झट से कुएं में उतर गया। नौकर को बड़ा अचम्भा हुआ। उसने दो-चार बार फिर कोशिश की पर फूल हर बार बाल्टी में ऊपर तक आकर नीचे कुएं में उतर जाता था। नौकर भागा-भागा गया और उसने राजा को फूल का चमत्कार बताया। बात सुनते ही राजा कुएं पर आया। सब मित्र लोग भी साथ आए। सबने पारी-पारी से फूल तोड़ने का प्रयत्न किया पर बार-बार फूल उन्हें धोखा दे गया। किसी के हाथ में वह नहीं आया। अन्त में राजा ने बाल्टी खींची और फूल तोड़ने के लिए हाथ बढ़ाया। हाथ बढ़ाते ही फूल राजा के हाथ में आ गया। राजा बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने फूल को तोड़ कर अपने कोट के कालर में लगा दिया। फूल की खुशबू से सारा बगीचा महकने लगा। राजा के सब साथी भी प्रसन्न हुए। खुशी-खुशी राजा घर आया और आज की सारी घटना बड़ी बड़ाई के साथ रानी को सुनाई। फूल का किस्सा सुन कर श्यामकली का माथा ठनका। उसने मन में सोचा कि हो न हो चन्द्रकली ने ही फूल के रूप में जन्म लिया है। अब वह फूल बन कर अपने पति के सीने से लगी रहेगी, उनके हाथों में खेलेगी और उनका प्यार पाएगी। ऐसा विचार आते ही श्यामकली मन ही मन जल उठी। वह चन्द्र-कली की छाया को भी अपने पति के पास फटकने नहीं देना चाहती थी। रात का समय हुआ। राजा ने फूल को निकाल कर गुलदस्ते में सजा दिया और सो गए। आधी रात को श्यामकली उठी। उसने गुलदस्ते में से वही फूल निकाला और उसे संभाल कर खिड़की के बाहर फेंक दिया। श्यामकली ने देखा कि फूल के बाहर फेंकते ही एक चिड़िया वहीं से फुर्र से उड़ गई। उसने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया और बगीचे से उसी रंग का फूल लाकर गुलदस्ते में सजा दिया। बड़े सवेरे राजा ने फूल मुरझाया देखा। राजा ने कोई खयाल नहीं किया और उसे बाहर फेंकवा दिया।

राजा के आंगन में कदंब का एक वृक्ष था। दूसरी रात एक चिड़िया वहां आई और डालियों पर फुदक-फुदक कर यह गीत गाने लगी :

चन्द्रकली तो बन बन डोले, श्यामकली सुख पाए।
ऐसे राजा मोरे! संग सारी कौरा सोए।
राजा रे निर्मोही, तैंने सूरतिया बिसराई।
रंग चूं चूं, रंग चूं चूं!

गीत गाने के बाद चिड़िया हंसी, तो हंसी के साथ इतने फूल झरे कि सारा आंगन फूलों से पट गया। हंसने के बाद चिड़िया रोई। उसके रोते ही आंसू की बूंदें मोती बन कर जमीन पर गिरने लगीं। इतने मोती गिरे कि सारा आंगन उनसे भर गया। महल का दरबान जो पहरे पर था, यह सब तमाशा देख रहा था। रोने के बाद भिनसार हुए चिड़िया न जाने कहां उड़ गई।

आंगन में फूल और मोतियों का ढेर देख कर सब चकित हो गए। राजा भी रंग महल से आ गए। उन्होंने दरबान से इस बारे में पूछा। दरबान ने रात में जो कुछ देखा-सुना था सब हाल ज्यों का त्यों राजा को कह सुनाया। श्यामकली को चिड़िया पर शक हो

गया। उसे विश्वास हो गया कि चन्द्रकली ही चिड़िया के रूप में यहां आती है। अब उसने राजा से उस चिड़िया को पकड़वाने का हठ किया। राजा उसकी बात मान गए, उसी रात वृक्ष में चिड़िया को फंसाने का फन्दा लगा दिया गया। आधी रात को चिड़िया आई और वृक्ष पर बैठते ही फन्दे में फंस गई।

सबेरे चिड़िया राजा के सामने लाई गई। राजा ने जैसे ही हाथ बढ़ाया चिड़िया उड़ कर उनकी गोद में बैठ गई। राजा प्यार से उसके सिर पर हाथ फेरने लगे। प्यार पाते ही चिड़िया ने गीत आरम्भ किया।

चन्द्र कली तो बन बन डोले, श्यामकली सुख पाए।
ऐसे राजा मोरे! संग सारी कौरा सोए।
राजा रे निर्मोही तैंने सूरतिया बिसराई।
रंग चूं चूं, रंग चूं चूं!

गीत के बाद चिड़िया हंसी तो फूल झरने लगे और उसके बाद रोई तो मोती गिरने लगे। फूल और मोती से राजा की गोद भर गई। सब दरबारी जमा हो गए। गीत का अर्थ समझने की बड़ी कोशिश की गई पर अर्थ किसी की समझ में नहीं आया। गीत का अर्थ श्यामकली समझ गई थी। वह ईर्ष्या और डर के मारे वहां से अपने महल में भाग गई थी। जब कोई भी आदमी बात की तह तक नहीं पहुंचा, तो राजा ने चिड़िया ही से उसकी कहानी पूछी।

राजा की बात सुन कर चिड़िया बोली :

सुन ले राजा मेरे, है यही कहानी मेरी।
श्यामकली और चन्द्रकली हम दो बहनें थी प्यारी।
काली रात सी श्यामकली मैं चन्दा सी उजियारी।
श्यामकली मन में जलती थी, देख बड़ाई मेरी।
एक समय राजा के संग में हुई सगाई मेरी।
श्यामकली संग मेरे आई, मुझको कुआं ढकेला।
मेरा साज-सिंगार पहन कर किया महल में डेरा।
फूल बनी मैं तुमको पाने, उसे मसल कर फेंक दिया।
चिड़िया बन कर वन बन डोलूं, यही मेरा है हाल किया॥

अब राजा को सच्चा हाल मालूम हो गया कि श्यामकली ने धोखा दिया है। वह मेरी विवाहित रानी नहीं है। यह जान कर राजा को श्यामकली पर बड़ा क्रोध आया और उसने श्यामकली को उसी कुएं में फेंकने की सजा दे दी। हुक्म की देर थी। श्यामकली तुरन्त कुएं में फेंक दी गई।

अब राजा चिड़िया को लेकर रंग महल में आ गया। चिड़िया के लिए तुरन्त सोने का पिंजरा बनवाया गया। राजा अपने हाथ से चिड़िया को दाना चुगाता, पानी पिलाता और नहलाता-धुलाता था। चिड़िया राजा को गीत सुनाती और तरह-तरह की कहानी सुना कर उसका मन बहलाती थी। बहुत दिनों बाद एक दिन राजा दरबार गया। यहां सूना पाकर चिड़िया पिंजरे से बाहर निकली और चिड़िया का भेष उतार कर पिंजरे पर टांग अब वह वही रूपमती चन्द्रकली थी। उसने रंग महल का सारा काम किया और राजा की वापसी का वक्त जान चिड़िया बन कर फिर पिंजरे में आ गई। संध्या को राजा आया। वह अपने कमरे की सफाई और सामान की व्यवस्था देख कर बड़ा चकित हुआ। उसे चिड़िया पर सन्देह हुआ।

दूसरे दिन उसने कचहरी जाने का बहाना किया और महल के एक कोने में छिप गया। ठीक समय पर चिड़िया पिंजरे से निकली। उसने चिड़िया का भेष उतार कर पिंजरे पर टांग दिया। अब वह सुन्दर कन्या बन गई। इसके बाद वह घर के काम-धाम में जुट गई। राजा झरोखे से यह सब चमत्कार देख रहा था। जैसे ही वह किसी काम से दूसरे कमरे में गई राजा चुपके से पिंजरे के पास गया और उस पर टंगी हुई चिड़िया की खाल को लेकर वहां से चल दिया। उसे बगीचे में ले जाकर जला डाला। अब फिर राजा महल में आया। राजा को आता जान कर चन्द्रकली पिंजरे के पास भागी और वहां चिड़िया की खाल न पाकर असमंजस में पड़ गई। राजा पास आ गया, उसने रानी को अपनी बाहों में जकड़ लिया और बोला—अब चिड़िया नहीं बन पाओगी। मैंने तुम्हारे भेष को जला कर सदा के लिए खतम कर दिया है।

चन्द्रकली राजा को पाकर प्रसन्न हुई। राजा-रानी दोनों मिले, उनकी गृहस्थी सुखी हुई और धोखा देने वाली श्यामकली उस कुएं में कांटे की झाड़ी बनी। जो भी पानी पीने आता वह उसी से उलझती और उसके पैर में चुभती और उसके द्वारा मारी काटी जाती। इस तरह बुरे काम का फल बुरा होता है। जो दूसरों के लिए गड्ढा खोदता है, उसके लिए पहले से कुआं तैयार रहता है।

कबूतर की बात सुन कर अंधियारी की आंख खुली। उसने तुरन्त रस्सी डाल कर अपनी बहन को कुएं से निकाला। वह बहुत पछताई। बहन से क्षमा मांगी और उस दिन से उसने सदा के लिए दूसरों से ईर्ष्या रखना छोड़ दिया। अब दोनों बहनें प्यार से हिल-मिल कर रहने लगीं। तिल कन्या की कथा ने वास्तव में अंधियारी के मन में उजियारी पैदा कर दी।

—भोपाल से प्रसारित

संतुलन

लक्ष्मीकान्त वर्मा

सजल-नयन हो गया दीन कहते ही कहते,
सुनते-सुनते भर आईं दानी की आंखें
तृषा न उसके रुद्ध कंठ से व्यक्त हो सकी,
भरे हृदय से उसके करुणा छलक न पाई।

छोड़ दीर्घ निःश्वास, मौन रह गए देखते,
बंधे हुए सादृश्य-सूत्र में निष्क्रियता के—
फैला ही रह गया हाथ याचक अभाव का,
उद्यत ही रह गया दान बनने को वैभव।

—इलाहाबाद से प्रसारित

(१) अमेरिका का स्वतन्त्रता संग्राम

डा० बैजनाथ पुरी

सुरेन्द्र नाथ बनर्जी ने अपने एक भाषण में कहा था.......राजनीतिक परतन्त्रता नैतिक और आध्यात्मिक पतन का प्रतीक है। स्वतन्त्र और परतन्त्र की विचारधाराएं एक समान नहीं हैं। वास्तव में स्वतन्त्र रहने की भावना तो प्रत्येक व्यक्ति में रहती है, पर जो देश किसी बड़ी शक्ति के अधीन है, उसे अपनी स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए बहुत बड़ा बलिदान देना पड़ता है। कोई भी शक्ति खुशी से आज़ादी नहीं देती है। अमेरिका का स्वतन्त्रता-संग्राम ब्रिटिश उपनिवेश स्थापना के कोई १५० वर्ष के अन्दर हुआ। सत्रहवीं शताब्दी में और अठारहवीं के आरम्भ में, सौ वर्ष तक यूरोप से अमेरिका में जाकर बसने वालों का एक प्रवाह सा चलता रहा। उन्होंने एक अज्ञात महाद्वीप में जाकर अपनी छोटी-छोटी बस्तियां बनाईं, जिन्हें राज्यों का रूप दिया गया और आगे चल कर ये संयुक्त राज्य का अंग बनीं। अन्य यूरोपियन देशों की औपनिवेशिक नीति के विपरीत, इंग्लैंड की सरकार ने आरम्भ से ही इस दिशा में उपेक्षा दिखाई। उपनिवेशों की स्थापना में सरकार का कोई हाथ न था, और राज्य से पट्टा या चार्टर प्राप्त कम्पनियां अनेक प्रकार के प्रलोभन देकर साहसिक और धन प्राप्ति की इच्छा वाले पुरुषार्थी व्यक्तियों को वहां ले जाकर बसाती थीं। वर्जीनिया और मैसेच्युसैट्स इसी प्रकार से कम्पनियों द्वारा बसाए गए थे। कुछ उपनिवेश दूसरी बस्तियों की शाखा के रूप में बसे। १७वीं शताब्दी के प्रथम तीन-चौथाई भाग में जो यूरोपियन अमेरिका आए, उनमें अंग्रेज़ों की संख्या सबसे अधिक थी। पर बाद में इंग्लैंड प्रधान स्रोत नहीं रहा। अमेरिका की आबादी धीरे-धीरे बढ़ने लगी और ११११५ तक यह २५ लाख हो गई। वहां के बसने वालों ने अंग्रेज़ी भाषा, कानून, रीति-रिवाज और विचारधारा को अपना लिया पर पीछे से आने वाले औपनिवेशकों के संतुलन से अमेरिकन संस्कृति में परिवर्तन हुआ। इन औपनिवेशिकों ने अपनी मेहनत से अमेरिका में औद्योगिक क्रान्ति पैदा कर दी। वर्जीनिया की तम्बाकू ने यूरोप में अपना स्थान बना लिया। इस औद्योगिक विकास ने ब्रिटेन के राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों में संशय उत्पन्न कर दिया। उपनिवेशों की स्थापना में सरकार का कोई हाथ न था। सम्राट ने धनी व्यक्तियों को पट्टे या चार्टर दिए थे, अत: ब्रिटिश पार्लियामेंट का इन पर किसी प्रकार का नियंत्रण न था। उपनिवेशों की पैदावार और उनके व्यापार ने ब्रिटिश व्यापारिक क्षेत्र में यह भावना डाल दी कि आगे चल कर ब्रिटेन के व्यापार को धक्का पहुंचेगा, क्योंकि वहां के व्यापारी यूरोप के दूसरे देशों में अच्छे दामों पर अपना कच्चा माल बेच सकेंगे और वहां से सस्ते दामों पर चीज़ें खरीद सकेंगे। अमेरिकन स्वतन्त्रता संग्राम का बीज इन्हीं राजनीतिक और व्यापारिक भावनाओं को लेकर बोया गया। इसने ५० वर्ष के अन्दर एक विशाल संघर्ष के वृक्ष का रूप धारण कर लिया, जिसके फलस्वरूप ब्रिटेन को अपने अमेरिकी उपनिवेशों से हाथ धोना पड़ा।

१७६३ तक ग्रेट ब्रिटेन ने इन उपनिवेशों के विषय में कोई सुसम्बद्ध नीति निर्धारित नहीं की थी। इंग्लैंड का सिद्धान्त केवल इनसे कच्चा माल लेना और वहां पर अपना तैयार

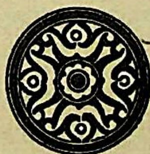
किया सामान भेजना था। उपनिवेशों ने अपन आपको इंग्लैंड का अंग नहीं समझा। वे पूर्णतया स्वतन्त्र थे, पर धीरे-धीरे उनको पार्लियामेंट के नियंत्रण में रखने का प्रयास किया गया और इसका वहां पर विरोध होना स्वाभाविक था। नियंत्रण पार्लियामेंट द्वारा कर लगा कर, तथा इन उपनिवेशों में सम्राट की ओर से स्थानीय शासन में हस्तक्षेप के रूप में था। ब्रिटिश सम्राट द्वारा नियुक्त उपनिवेशों के गवर्नर शक्तिशाली न थे। वे निर्वाचित सभाएं जो स्थानीय स्वतन्त्रता और लोकतांत्रिक सिद्धान्त के आधार पर बनी थीं, गवंनरों के अधीन न थी। ब्रिटेन ने साम्राज्यवादी नीति अपनानी चाही। सप्तवर्षीय इंग्लैंड और फ्रांस के बीच युद्ध की समाप्ति पर १७६३ में केनेडा और ओहियो की घाटी ब्रिटेन को मिली। उसने वहां के फ्रांसीसी और रेड इंडियन निवासियों के विरोध को शांत करने के लिए, यह प्रान्त केवल उन्हीं के लिए निर्धारित करना चाहा। औपनिवेशिकों की संख्या बराबर बढ़ती जा रही थी और वे भी पूर्वी तट से पश्चिम की ओर बढ़ना चाहते थे। १७६३ में एक राजकीय घोषणा के द्वारा उलीगिनी, फ्लोरिडा, मिसिसिपी और क्यूबेक के मध्य का समस्त पश्चिमी भाग रेड इंडियनों के लिए सुरक्षित रखा गया। नीति का पालन न हुआ पर औपनिवेशिकों ने इसको अपने भौगोलिक अधिकारों की पूर्ण रूप से अवहेलना समझा।

गम्भीर परिस्थिति १७६४ के शुगर ऐक्ट से हुई। १७३३ के मोलेसिज ऐक्ट द्वारा शीरे के आयात पर भारी कर लगा हुआ था। नए ऐक्ट के अनुसार रेशम, काफी, शराब, और अन्य वस्तुओं पर भी कर लगने लगा। कस्टम अधिकारियों को अधिक दृढ़ता और तत्परता से कर वसूल करने का आदेश दिया गया और सम्राट के कर्मचारी बिना नाम के वारंट द्वारा लोगों को पकड़ सकते थे। इसी तरह १७६४ के रेवेन्यू ऐक्ट, तथा १७६५ के विलेटिंग ऐक्ट भी औपनिवेशिक दृष्टि से आपत्तिजनक थे। इसके द्वारा सम्राट की सेनाओं के लिए स्थानीय व्यक्तियों को वस्तुएं देने के लिए वाध्य किया गया। अंतिम कानून स्टाम्प ऐक्ट था, जिसके अंतंगत कागजों और दस्तावेजों पर स्टाम्प लगाना आवश्यक हो गया। इन कानूनों का बड़ा विरोध हुआ और वैय्यूसैट्स के सैम्यूएल एडेन्स के नेतृत्व में क्रान्तिकारी प्रतिरोध की भावना भड़क उठी। १७६५ के अक्टूबर में सब उपनिवेशों के प्रतिनिधियों की एक कांग्रेस बुलाई गई। नौ उपनिवेशों के २७ प्रतिनिधियों ने दृढ़तापूर्वक यह प्रस्ताव पास किया कि स्थानीय धारासभाओं के अतिरिक्त किसी अन्य संस्था को उपनिवेशों के लिए कानून बनाने या कर लगाने का कोई अधिकार नहीं है। उनका सम्बन्ध चार्टरों के अनुसार केवल ब्रिटिश सम्राट से है। पार्लियामेंट का हस्तक्षेप अवैध है। इस आंदोलन के फलस्वरूप स्टाम्प ऐक्ट वापस ले लिया गया। व्यापार पुनः आरम्भ हो गया पर शान्ति केवल थोड़े समय तक रही।

१७६७ में इंग्लैंड के वित्त मंत्री टाउन शेड ने नई वित्त नीति निर्धारित की और ब्रिटेन से अमेरिका जाने वाले कागज, सीसे और चाय पर नए कर लगा दिए। कर वसूली के कठोर तरीकों से इन उपनिवेशों में पुनः ब्रिटेन के विरुद्ध भावना जागृत हो उठी। ५ मार्च १७७० में वोस्टन में ब्रिटिश सैनिकों और नागरिकों में दंगा हो गया। पार्लियामेंट ने शांति के लिए चाय को छोड़ कर अन्य सब कर वापस ले लिए। १७७० के पश्चात चाय का कानून-विरुद्ध व्यापार बहुत बढ़ गया था। टाउन शेड द्वारा निर्धारित चाय कर के कारण उपनिवेशी व्यापारी अन्य देशों से चाय लेते थे। इधर १७७३ म ईस्ट इंडिया कम्पनी ने उपनिवेशों को चाय भेजने का एक मात्र अधिकार ले लिया। वे अपनी चाय को सस्ते मूल्य पर बेचने लगे, जिससे स्थानीय व्यापारियों को धक्का पहुंचा। १६ दिसम्बर की रात को वोस्टन में एक गिरोह इंडियनों का वेश धारण करके चाय के तीन जहाजों पर चढ़ गया और ब्रिटिश चाय के बक्सों को समुद्र में फेंक

दिया। बोस्टन का बन्दरगाह व्यापार के लिए तब तक वन्द कर दिया गया, जब तक चाय का मूल्य न चुके। राजनीतिक क्षेत्र में भी सम्राट की ओर से मैसेच्युसैट्स के कौन्सिलर अब निर्वाचित किए गए। नगर सभाओं के निर्माण में गवर्नरों की अनुमति आवश्यक थी। अन्य कानूनों द्वारा मसेच्युसैट्स को दवाने का प्रयास किया गया पर इससे प्रतिशोध की भावना भड़क उठी। ५ सितम्बर १७७४ को किलौड लकिया में उपनिवेशों के प्रतिनिधियों की एक सभा हुई। अधिकारों और शिकायतों की घोषणा का प्रार्थनापत्र तैयार किया गया। ब्रिटिश सरकार इसके लिए तैयार न थी। बोस्टन नगर राजनीतिक केन्द्र बन चुका था और वहां ब्रिटेन की ओर से जनरल गेज नियुक्त था। उसने सैम्युएल ऐडम्स और जौन हैनकाक को पकड़ने के लिए २५०० जवानों की एक सेना भेजी। अमेरिकी स्वतन्त्रता युद्ध का प्रथम बलिदान ८ अमेरिकी देश-भक्तों ने दिया। जो वाशिंगटन अमेरिकी सेनाओं का कमांडर-इन-चीफ नियुक्त हुआ। अभी युद्ध की घोषणा नहीं हुई थी। ४ जुलाई १७७६ की स्वतन्त्रता की घोषणा फिलाडेलफिया में हुई। इस घोषणा के पश्चात युद्ध छिड़ गया। कुछ महीनों तक अमेरिकनों को असफलता मिली। वाशिंगटन को न्यूयार्क छोड़ कर पीछे हटना पड़ा पर ट्रेन्डन और प्रिंस्टन की जीतों से अमेरिकनों को प्रोत्साहन मिला। ब्रिटिश जनरल हाव ने सितम्बर १७७७ में फिला-डेलफिया पर अधिकार कर लिया था, पर १७७७ की शरद में अमेरिकनों की युद्ध में बड़ी जीत हुई और इसने क्रांति का रुख मोड़ दिया। ११ अक्तूबर १७७७ को बरगौइन न अपनी ५ हज़ार सेना सहित इसे सम्पूर्ण कर दिया। अमेरिकनों को फ्रांस से बराबर गोला-बारूद मिल रही थी, क्योंकि वे अपनी पराजय अभी भूले नहीं थे। जनरल रोशाम्बो की अध्यक्षता में ६०० जवानों की एक फ्रांसीसी सेना भी सहायता के लिए आई। स्पेन और नीदरलैण्डस भी ब्रिटेन के विरुद्ध युद्ध में कूद पड़े। अंग्रेज़ों को १७७८ में फिलाडेलफिया खाली कर देना पड़ा और ओहियो की घाटी में भी युद्ध का पांसा उनके विरुद्ध पड़ा। दक्षिण में चार्लंनटन पर उनका अधिकार हो गया और कैरोलाइना भी कुछ समय के लिए उनके पास रहा। १७८१ में उन्होंने वर्जीनिया जीतना चाहा पर १९ अक्तूबर १७८१ को कार्नवालिस ने यार्क टाउन में ८ हज़ार सेना सहित वाशिंगटन और रोशाम्बो के सामने आत्म समर्पण कर दिया। ब्रिटिश हाउस आफ कामन्स ने युद्ध की समाप्ति की घोषणा कर दी और अप्रैल १७८२ में शांति का वातावरण स्थापित हुआ। १७८३ में अन्तिम रूप से संधि-पत्र पर हस्ताक्षर हुए और १३ स्टेटों की स्वतन्त्रता मान ली गई तथा मिसिसिपी नदी तक उनकी उत्तर की सीमा निर्धारित हुई। इस प्रकार अमेरिकन स्वतन्त्रता का युद्ध समाप्त हुआ।

— लखनऊ से प्रसारित



(२) १९१७ की रूसी जनक्रांति

ए० डी० पन्त

आधुनिक काल में योरोप में दो महत्वपूर्ण क्रान्तियां हुई हैं, जिन्होंने न केवल योरोप के समाज तथा राज्यों के विकास को ही प्रभावित किया परन्तु जिनका प्रभाव वास्तव में विश्वव्यापी हुआ है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने सामन्तशाही व्यवस्था पर कठोर प्रहार किया तथा योरोप में राष्ट्रवाद की धारा प्रवाहित की। 'समता, स्वतन्त्रता, तथा बन्धुत्व,' का नारा, जो इस क्रान्ति के स्रष्टाओं के द्वारा घोषित किया गया था, आधुनिक प्रजातंत्रवाद का मूल आधार हो गया है। १९१७ की रूसी जनक्रांति का आदर्शात्मक आधार इस पूर्ववर्ती क्रान्ति से भिन्न था। इसका उद्देश्य समाज में आर्थिक-शोषण को समाप्त कर एक वर्गविहीन समाज की स्थापना करना था, जिसमें कि उत्पादन के साधन किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति न हो कर समाज के स्वामित्व में हों। इस क्रान्ति का आधार मार्क्स के क्रान्तिकारी विचार थे, जिन्हें साधारणतः साम्यवाद कहा जाता है। इसीलिए रूसी क्रान्ति साम्यवादी क्रान्ति कहलाती है।

आधुनिक काल में रूस का अभ्युदय एक विशाल साम्राज्य के रूप में सत्रहवीं शताब्दी के मध्य से होता है। अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दियों में रूस के शासकों ने अपने साम्राज्य का विस्तार किया, पश्चिम में तथा पूर्व में भी। परन्तु सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनीतिक दृष्टियों से रूस योरोप का सब से पिछड़ा देश बना रहा। जब कि पश्चिम योरोप में विद्या तथा ज्ञान का नव जागरण हो रहा था, विज्ञान उन्नति कर रहा था, औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप औद्योगिक विकास तथा संगठित मध्यम वर्ग का जन्म हो रहा था और प्रजातंत्रीय विचारों के प्रसारण के कारण शासन से अधिकाधिक जनता का सम्पर्क बढ़ रहा था तथा निर्वाचित विधान-मण्डलों के हाथों में सत्ता हस्तांतरित हो रही थी, रूस उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में भी लगभग वहीं था जहां वह एक शताब्दी पूर्व था।

रूस मुख्यतः कृषिप्रधान देश बना रहा। वहां के किसानों की वास्तविक अवस्था अर्ध-दासों से अच्छी नहीं थी। रूस महान आर्थिक विषमताओं का देश था। एक ओर धन-वैभव का नग्न प्रदर्शन तथा दूसरी ओर निर्धनता का नग्न नृत्य, दोनों ही उस समय रूस में दिखलाई देते थे। कुछ नगरों में, जैसे पीटर्सबर्ग तथा मास्को में उद्योग-धंधों की स्थापना हुई थी। इन क्षेत्रों में पूंजीवाद के बढ़ने के साथ ही साथ श्रमिकवर्ग भी शीघ्रता से बढ़ा था तथा इस वर्ग में साम्यवादी विचार फैलने लगे थे। राजनीतिक क्षेत्र में सम्पूर्ण सत्ता रूस के सम्राट के हाथ में केन्द्रित थी, जो निरंकुश रूप से शासन करता था और अपने को ईश्वर का प्रतिनिधि मानता था। जनता का शासन से कोई सम्पर्क नहीं था और न उनकी इच्छाओं तथा संकल्पों का शासन की नीति निश्चित करने में कोई प्रभाव था।

परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी से ही रूस में इस निरंकुश शासन-व्यवस्था तथा आर्थिक कष्टों के विरुद्ध भावनाएं उगने लगी थीं। प्रारम्भ में यह केवल कुछ उच्चवर्गीय व्यक्तियों तक ही

सीमित थीं परन्तु शनैः शनैः यह आम जनता में उतरने लगीं तथा असंतोष व्यापक रूप से फैलने लगा। रूस में कुछ आतंकवादी संगठनों का निर्माण हुआ। परन्तु आतंकवादी कुछ अधिक कर सकने में सफल नहीं हुए। इसका प्रमुख कारण यह था कि ये संगठन स्वभावतः ही गुप्त रूप से कार्य करते थे और इस कारण इनका जनता से कोई प्रत्यक्ष सम्पर्क नहीं था। श्रमिक वर्ग की वृद्धि के साथ ही साथ मार्क्सवादी विचार बढ़ने लगे तथा इन मार्क्सवादियों ने आतंकवादियों तथा उनकी क्रियाशैली का विरोध किया। मार्क्सवादियों ने अपने दल का नाम 'सामाजिक लोकतंत्रीय श्रमिक दल' रखा था। इसका उद्देश्य श्रमिकवर्ग का संगठन, उसमें सामूहिक चेतना का विकास तथा इसके द्वारा रूस में ज़ार की निरंकुशता का अंत करके एक वर्गहीन श्रमिक-तंत्र की स्थापना करना था। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में इस दल का नेतृत्व लेनिन के हाथों में आ गया और लेनिन के विचारों के अनुसार ही इस दल ने क्रान्ति की योजना का निर्माण किया।

जैसे-जैसे रूस में निरंकुशता तथा अन्याय के विरुद्ध असंतोष बढ़ता गया तथा क्रान्तिकारी दल संगठित होते गए वैसे-वैसे ही शासन का अत्याचार भी बढ़ता गया। वहां राजनीतिक असन्तोष बढ़ता गया। अनेक राजनीतिक हड़तालें हुईं तथा एक बहुत बड़ा जन-आन्दोलन हुआ। १९०५ में समस्त रूस में एक व्यापक हड़ताल हुई तथा पीटर्सबर्ग और मास्को में एक नवीन प्रकार के श्रमिक-संगठन की स्थापना हुई, जिसका उद्देश्य राजनीतिक सत्ता को हस्तगत करना था। इसे 'सोवियत' कहा गया। ज़ार की सरकार इस आन्दोलन से कुछ घबड़ाई और उसने मताधिकार तथा विधानमण्डल की स्थापना करने का वचन दिया। इस आश्वासन से वैधानिक दृष्टिकोण वाले तो संतुष्ट हो गए और ज़ार की सरकार ने क्रान्तिकारियों को अपनी सैनिक शक्ति से कुचल दिया। इस क्रान्ति में अनुमान है कि लगभग चौदह हज़ार व्यक्ति मरे।

यद्यपि १९०५ की क्रान्ति असफल रही, तथापि इससे एक बात स्पष्ट हो गई कि संगठित श्रमिकवर्ग जिसमें राजनीतिक चेतना व्याप्त है, क्रान्ति का सफलतापूर्वक नेतृत्व कर सकता है। १९०५ की क्रान्ति की असफलता क्रान्ति के ठीक प्रकार से संगठित न होने के कारण भी थी। इसलिए लेनिन और उसके अनुयायियों ने इस असफलता से हतोत्साहित होने के स्थान पर यह निष्कर्ष निकाला कि रूस में ज़ार और प्राचीन व्यवस्था के केवल कुछ ही दिन शेष रह गए हैं।

रूस की सरकार ने इस क्रान्ति से कुछ भी नहीं सीखा और न अपने व्यवहार अथवा दृष्टिकोण में ही कुछ परिवर्तन किया। रूसी सम्राट की शक्ति का मुख्य आधार सेना थी और उसे उच्चवर्गीय सामन्तों तथा उद्योगपतियों का समर्थन प्राप्त था। परन्तु मध्य-वर्ग भी राजनीतिक सुधार चाहता था क्रान्तिकारी सुधार नहीं। ज़ार किसी भी प्रकार अपनी सत्ता पर नियन्त्रण लगाने के लिए प्रस्तुत नहीं था। लेनिन तथा उसके दल का काम रूस में पर्याप्त रूप से चल रहा था। राजनीतिक हड़तालें बढ़ रही थीं, देश की आर्थिक स्थिति बिगड़ रही थी, भूमिहीन कृषकों की संख्या बढ़ती पर थी, देश में भुखमरी तथा बेकारी भी चारों ओर दिखाई देती थी, शासन भ्रष्ट होने के साथ ही दिन पर दिन अशक्त हो रहा था, शासक अयोग्य था तथा कुछ स्वार्थी व्यक्तियों के कहने पर था और इनके साथ ही साथ सुधार के लिए मांग बढ़ती जा रही थी।

इसी समय योरोप का वातावरण अशान्त होता जा रहा था। इंग्लैंड तथा जर्मनी के मध्य विरोध बढ़ता जा रहा था और अन्त में एक छोटी सी बात को लेकर १९१४ का महायुद्ध

प्रारम्भ हो गया। रूस ने इस युद्ध में इंग्लैंड का साथ दिया। रणक्षेत्र में रूसी सेना को भयंकर क्षति उठानी पड़ी। उसकी हार पर हार होती चली गई। देश की आर्थिक अवस्था इतनी बिगड़ गई कि अकाल की स्थिति उत्पन्न हो गई। लेनिन तथा उसके दल ने युद्ध का प्रारम्भ से ही विरोध किया तथा इसे साम्राज्यवादी कुचक्र बतलाया।

मार्च १९१७ में इन परिस्थितियों के कारण क्रान्ति अपने आप पैदा हो गई, और एक सप्ताह के अन्दर ही यह सफल भी हो गई। इस क्रान्ति में श्रमिकवर्ग तथा सेना के सिपाहियों के मध्य एकता पैदा हुई और यही इस क्रान्ति की सफलता का मुख्य कारण भी था। यह क्रान्ति पैट्रोग्राड में, जो कि पीटर्सबर्ग का नया नाम था, शुरू हुई थी। यह क्रान्ति नीचे से उठी थी और इसमें सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि इतिहास में यह सर्वप्रथम उदाहरण था कि जब क्रान्ति का नेतृत्व संगठित श्रमिकवर्ग द्वारा किया गया था। इस समय लेनिन तथा उसके मुख्य सहयोगी या तो निर्वासित थे या बन्दी थे। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे श्रमिक जिन्होंने यह क्रान्ति की थी, साम्यवादी विचारों से प्रभावित थे। पैट्रोग्राड के पश्चात मास्को में भी क्रान्ति फैली तथा सफल हुई। इस क्रान्ति का फल यह हुआ कि ज़ार ने राजगद्दी त्याग दी। इस समय की परिस्थिति में क्रान्तिकारियों के सम्मुख कोई निश्चित कार्यक्रम नहीं था और न वे राज्य-शासन का भार लेने के लिए प्रस्तुत थे। इसलिए उन लोगों ने शासन-भार ज़मींदार वर्ग तथा उच्च मध्य वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाली एक सभा को, जिसे 'डूमा' कहते थे, सौंप दिया। परन्तु यह जो सरकार बनी वह रूढ़िवादी थी, तथा उसका प्रधानमंत्री एक राजवंशी था। इसलिए इस सरकार द्वारा क्रान्ति के उद्देश्य सफल होंगे, यह आशा नहीं थी। इसी समय १७ अप्रैल १९१७ को लेनिन ने रूस में प्रवेश किया। उसके प्रवेश करते ही रूसी परिस्थिति में एक महान परिवर्तन हो गया और क्रान्ति को अपना नेता मिल गया। श्री नेहरू ने अपनी विश्वविख्यात पुस्तक 'विश्व इतिहास की झलक' में इन शब्दों में इस परिवर्तन को व्यक्त किया है :

> लेनिन के दिमाग़ में न तो कोई शंका थी, और न अस्पष्टता। . .जो क्रान्ति अभी तक नेतृत्व-विहीन और बिना मार्गदर्शक के अनिश्चित दिशा में चली जा रही थी, उसे आख़िर अपना नेता प्राप्त हो गया। उपयुक्त अवसर ने उपयुक्त व्यक्ति पैदा कर दिया था।

रूस में श्रमिक वर्ग के उद्देश्यों तथा इस नई सरकार के उद्देश्यों के मध्य खाई बढ़ती चली गई। इस सरकार ने लेनिन तथा उसके दल के लोगों को बन्दी बनाना चाहा परन्तु लेनिन छिप गया। इस समय उसके दल की शक्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। श्रमिकों के प्रतिनिधि एक क्रान्तिकारी पग उठाना चाहते थे और अन्त में ७ नवम्बर, १९१७ को उन्होंने सरकारी सत्ता हस्तगत कर ली। लेनिन उस नई सरकार का अध्यक्ष निर्वाचित हुआ। उसके सम्मुख कई जटिल प्रश्न थे। बाह्य नीति उसकी शान्ति की थी, क्योंकि यह क्रान्ति को बचाने के लिए आवश्यक थी और आन्तरिक नीति उसकी यह थी कि क्रान्ति का कार्य पूरा हो और पुनः व्यवस्था स्थापित की जाए। उसके सम्मुख अनेक कठिनाइयां थीं। लेकिन वह अपने निश्चित मार्ग से विचलित नहीं हुआ। अन्त में उसका उद्देश्य पूरा हुआ।

रूस की जनक्रान्ति का विश्व-इतिहास में अत्यन्त महत्व है। इसके द्वारा एक नवीन प्रकार की समाज-प्रणाली तथा शासन-व्यवस्था की स्थापना हुई। यह इतिहास में अपने प्रकार की पहली क्रान्ति थी, और इसने न केवल बाह्य जगत में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए, परन्तु मनुष्य के सोचने के ढंग को भी इस प्रकार बदल दिया कि आज यह सम्भव नहीं है कि हम उस प्रकार फिर सोचना प्रारम्भ कर दें, जैसा कि लोग १९१७ की क्रान्ति के पूर्व करते थे।

—इलाहाबाद से प्रसारित

दूरानुभूति या टेलीपैथी

इलाचन्द्र जोशी

मनुष्य की यह अकांक्षा जन्मजात है कि दूसरे के मन तक अपने मन की बात सीधे बिना किसी प्रकट संकेत के पहुंचा सके। स्त्री-पुरुष के पारस्परिक आकर्षण के क्षेत्र में मानव मन की यह प्रवृत्ति पूरे ज़ोरों से काम करती है। मानवीय विकास के प्रारम्भिक काल से ले कर आज तक इस प्रवृत्ति के मूल रूप में कोई अन्तर नहीं आया।

इसलिए इस प्रवृत्ति के अस्तित्व के सम्बन्ध में विवाद की विशेष गुंजाइश नहीं है। विवाद तब उठता है जब कुछ खोजी लोग इस बात का दावा करते हैं कि मनुष्य के भीतर अपनी इस प्रवृत्ति या इच्छा की पूर्ति की क्षमता भी वर्तमान है। मानवीय उप-चेतना के रहस्यों के सम्बन्ध में खोज करने वाले इन विशेषज्ञों का यह दावा है कि अभ्यास द्वारा मनुष्य अपनी इस विस्मयकारी क्षमता को बढ़ा सकता है। इस शक्ति का विकास इस सीमा तक किया जा सकता है कि सैकड़ों मील दूर स्थित दो व्यक्ति एक निर्दिष्ट समय पर एक दूसरे के मन तक अपना-अपना संदेश ठीक उसी प्रकार पहुंचा सकते हैं, जिस तरह दो तारघरों के बाबू।

पर इस दावे को प्रमाणित करना कोई आसान काम नहीं है। आज के यंत्र युग के मनुष्य का मन इस हद तक यांत्रिक और कृत्रिम हो गया है कि सूक्ष्म चेतना तरंगों को वह सहज में पकड़ ही नहीं पाता। वर्बर मनुष्य का मन अत्यन्त चेतनाशील होता था और उसके मन के तार असाधारण रूप से अनुभूतिशील होते थे। आज भी संसार में जंगली जातियों के जो अवशिष्ट रूप वर्तमान हैं, उनमें ऐसे व्यक्ति मिलते हैं जो एक-दूसरे से बहुत दूर होने पर भी केवल मानसिक तरंगों के घात-प्रतिघात द्वारा परस्पर विचार विनिमय या भावों का आदान-प्रदान करने में समर्थ हैं।

सभ्य मनुष्यों के भीतर यह क्षमता सहज रूप में नहीं पाई जाती, पर कभी-कभी आकस्मिक रूप से जगती हुई दिखाई देती है। प्रति दिन के जीवन के कुछ साधारण दृष्टान्तों से यह बात समझाई जा सकती है। मान लीजिए कि आप कुछ मित्रों के साथ एक कमरे में बैठे हुए गपशप कर रहे हैं। दुनिया भर के विषयों की चर्चा के बाद एक स्थिति ऐसी आती है, जब आप और आपके साथियों का जोश कुछ ठंडा पड़ जाता है और आपेक्षिक सन्नाटा सा छा जाता है। सहसा एक व्यक्ति एक ऐसे सहमित्र की चर्चा छेड़ देता है जिसकी कोई चर्चा पहले नहीं चली थी। मान लिया जाए उस सहमित्र का नाम दीपक है। उसी कमरे में बैठा हुआ कोई दूसरा व्यक्ति तत्काल बोल उठता है—मैं भी अभी-अभी दीपक की ही बात सोच रहा था। बहुत दिनों से उससे भेंट नहीं हुई, पता नहीं आजकल वह कहां है और क्या कर रहा है।

मित्रों के आश्चर्य और प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहता जब उसी क्षण दीपक सशरीर उसी कमरे में आ पहुंचता है। तब सभी लोग बोल उठते हैं—आओ भाई आओ! तुम्हारी बड़ी उम्र है, अभी तुम्हारी ही चर्चा हो रही थी।

स्वभावत: इस तरह की घटना को आप एक काकताली मानेंगे, जिसे अंग्रेजी में कहते हैं 'कोइन्सिडेन्स'। और मैं आपकी इस धारणा का खंडन करने में असमर्थ हूं। पर आपसे मैं केवल एक निवेदन करूंगा। वह यह कि आप ठीक इसी तरह की काकतालियों की एक सूची तैयार करें और फिर मनोयोग से उनका विश्लेषण करते हुए उन पर बारीकी से विचार करें। बहुत सम्भव है कि इस प्रकार के विचार और विश्लेषण के बाद आपको ऐसी काकतालियों के अंतराल में कोई निश्चित नियम निहित दिखाई दे।

जो लोग दूरानुभूति या टेलीपैथी पर विश्वास करते हैं, वे इस प्रकार की काकतालियों की व्याख्या इस प्रकार करते हैं। अपने जिस मित्र की याद आपको तथा आपके एक दूसरे बंधु को एक साथ ही, सहसा बिना किसी पूर्व चर्चा के आई, उसका कारण यह था कि आपका वह बहुत दिनों से बिछुड़ा हुआ मित्र आप लोगों से मिलने के लिए अत्यन्त उत्सुक था और आपके घर की ओर आता हुआ एकांत मन से आप ही लोगों की बात सोच रहा था। इस प्रकार उसकी मूलगत चेतना से निकली हुई सूक्ष्म भाव तरंगें आपकी तथा आपके दूसरे मित्रों की उपचेतना पर बार-बार आघात कर रही थीं। ज्यों-ज्यों वह व्यक्ति आपके मकान के निकट पहुंचता जाता था, त्यों-त्यों ये चेतना तरंगें अधिकाधिक तीव्र होती जाती थीं।

मैंने व्यक्तिगत रूप से इस सम्बन्ध में कुछ साधारण-सी खोजें की हैं। जब-जब किसी व्यक्ति की याद आते ही वही व्यक्ति सामने उपस्थित हो गया तब-तब मैंने उस व्यक्ति से पूछा कि क्या वह रास्ते में केवल मेरे ही सम्बन्ध में सोच रहा था। पता लगा कि वह केवल मेरे विषय में सोच ही नहीं रहा था, वरन उसकी चेतना पूरी तन्मयता से मुझमें विलीन सी हो गई थी।

दिन में कितने ही व्यक्ति आपको याद करते रहते हैं, पर सभी आपकी चेतना को छू नहीं लेते। केवल वही व्यक्ति टेलीपैथिक माध्यम से आपकी चेतना के सूक्ष्म तारों को झंकृत करते हैं, जो तद्गत और तन्मय भाव से किन्हीं विशेष क्षणों में आपको याद करते हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि ऐसा क्यों होता है, और इस चमत्कार के पीछे कौन से नियम काम करते हैं। कुछ वर्ष पूर्व प्रसिद्ध अमेरिकी लेखक अपटन सिंक्लेयर ने एक पुस्तक इसी विषय पर लिखी थी, जिसका नाम रखा गया था 'मेन्टल रेडियो' या 'मानसिक रेडियो'। इस पुस्तक में लेखक ने अपने कुछ प्रयोगों के आधार पर यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया था कि जिस प्रकार रेडियो द्वारा, बिना किसी तार के माध्यम के, एक प्रेषक यंत्र की सहायता से किसी दूर स्थित रिसीविंग सेन्टर तक वार्ताएं प्रसारित की जा सकती हैं, उसी प्रकार किसी एक मनुष्य की उप-चेतना से किसी दूर स्थित मनुष्य की उपचेतना तक भाव-तरंगें प्रेषित की जा सकती हैं। पर क्यों ऐसा सम्भव होता है, और विशेष तथा असाधारण परिस्थितियों में ही ऐसे प्रयोग क्यों सफल होते हैं, इसका निश्चित कारण इस सम्बन्ध में प्रयोग करने वाला कोई भी विशेषज्ञ अभी तक नहीं बता पाया।

हम केवल इतना ही बता सकते हैं, कि टेलीपैथी या दूरानुभूति अब केवल मनुष्य का आकांक्षित स्वप्न मात्र नहीं रह गया। विभिन्न देशों के कुछ लब्धप्रतिष्ठ वैज्ञानिक जो केवल कोरी भावना या आकांक्षा को महत्व देने वाले कल्पना-प्रिय कवि नहीं हैं; बल्कि ठोस यथार्थ को ही अपने अनुसंधानों का आधार मानने वाले मनीषी हैं, टेलीपैथी की वास्तविकता का पता लगाने के उद्देश्य से नियमित रूप से प्रयोग कर रहे हैं। अपने प्रयोगों से वे कुछ निश्चत परिणामों पर भी पहुंच चुके हैं।

उदाहरण के लिए, नार्थ केरोलाइना के ड्यूक विश्वविद्यालय में स्वनामधन्य डा० राइन ने इस सम्बन्ध में अनेक प्रयोग वैज्ञानिक विधि से किए हैं। इन प्रयोगों का ढंग यह है कि कुछ कार्डों में विविध प्रकार के चित्र अंकित किए जाते हैं। परीक्षक पर्दे के इस पार बैठता है और जिस व्यक्ति की दूरानुभूतिशीलता की जांच होती है, उसे उस पार बिठाया जाता है। दोनों एक-दूसरे को देख नहीं सकते और न परस्पर किसी प्रकार के संकेत के अदान-प्रदान की कोई संभावना रहती है। परीक्षक एक-एक कार्ड उठा कर उस पर अंकित चित्र पर अपना ध्यान केन्द्रित करता जाता है, तब अपनी तत्कालीन-चेतना तरंग को उस पार बैठे व्यक्ति की ओर प्रेषित करने का प्रयत्न करता है। परीक्षित व्यक्ति एकाग्र मन से परीक्षक की उस चेतना तरंग को ग्रहण करने का प्रयत्न करता हुआ उस अदृश्य चित्र की प्रतिलिपि बनाता जाता है। डा० राइन ऐसे हजारों प्रयोग कर चुके हैं और उन सबके आधार पर वह इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि २५ प्रतिशत से भी अधिक व्यक्तियों के अनुमान इस सम्बन्ध में यथार्थ सिद्ध हुए हैं। प्रतिशत की यह संख्या ऐसी है, जो दैवयोग या काकताली की संभावित परिधि से बहुत आगे निकल जाती है, और यह सिद्ध करती है कि दूरानुभूति या टेलीपैथीक अनुभूति आकांक्षित कल्पना की चीज़ न हो कर वास्तविक अस्तित्व रखती है।

लंदन के प्रसिद्ध गणितज्ञ डा० एस० जी० सोल ने भी कुछ इसी तरह के प्रयोग किए हैं। अपने निरंतर प्रयोगों द्वारा डा० सोल एक नए परिणाम पर पहुंचे हैं। उनके प्रयोगों का ढंग यद्यपि डा० राइन के चित्रित कार्ड वाले प्रयोगों से मिलता-जुलता है, पर उनका ध्यान एक नए तथ्य की ओर गया। उन्होंने देखा कि जिन व्यक्तियों को उन्होंने कार्डों में अंकित चित्रों का सही सही अनुमान लगाने के लिए माध्यम बनाया था, उनमें से अधिकांश माध्यम निर्दिष्ट कार्ड का ठीक अंदाजा न लगा कर उसके ठीक बाद या ठीक पहले वाले कार्ड का सटीक अनुमान लगाने में समर्थ हुए। इससे डा० सोल इस परिणाम पर पहुंचे कि दूरानुभूति या टेलीपैथी द्वारा केवल वर्तमान की घटनाओं का ही नहीं, बल्कि भूत में घटी या भविष्य में घटने वाली घटनाओं का भी आभास मिल सकता है।

पाश्चात्य देशों में तो अपराधों का पता लगाने के लिए भी टेलीपैथी का प्रयोग किया जाने लगा है। कुछ वर्ष पूर्व कनेडा के एक कसबे में एक महिला की हत्या अत्यन्त रहस्यपूर्ण परिस्थितियों में हुई। अपराधी का पता ही नहीं लग पाता था। हत्यारा शिनाख्त के लिए कोई चिह्न नहीं छोड़ गया था। बहुत खोज-बीन के बाद पुलिस को घर के ही एक व्यक्ति पर सन्देह हुआ। पर इस बात के कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिल रहे थे कि उसने कैसे और किस उद्देश्य से वह हत्या की थी। उसे सन्देह पर हवालात में रखा गया और एक ऐसे व्यक्ति को उसके साथ बिठा दिया गया, जिसकी सूक्ष्म अनुभूतिशील चेतना दूसरों के मस्तिष्क से उठने वाली चेतना-तरंगों को रेडियो रिसीवर की तरह ठीक-ठीक पकड़ लेती थी। और इस प्रकार सारे रहस्य का पता आदि से अंत तक सही सही लग गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दूरानुभूति या टेलीपैथी सम्बन्धी तथ्य आज केवल एक अनुमानित कल्पना भर नहीं रह गए हैं, ठोस वैज्ञानिक परीक्षणों से भी उनकी वास्तविकता सिद्ध की जा रही है।

—लखनऊ से प्रसारित



हास्य के मूल स्रोत

भगवतीचरण वर्मा

अनायास ही मेरे सामने एक प्रश्न उठ खड़ा होता है...जीवन की उपलब्धि क्या है?

मनुष्य जन्म लेता है, मनुष्य मर जाता है। जन्म और मरण की अवधि के भीतर वह कर्म करता है। न जन्म लेने के पहले उसके पास कुछ होता है, न मरने के बाद वह अपने साथ कुछ ले जाता है। ऐसा लगता है कि इस सृष्टि का क्रम ही कुछ अजीब तरह से चलता है। कार्य जीवन का प्रतीक है, मृत्यु निष्क्रियता है। इस कर्म की उपलब्धियां हैं.....यश-अपयश, वैभव-दरिद्रता। लेकिन यश-अपयश, वैभव-दरिद्रता..यह सब तो हमारे शरीर की उपलब्धि हैं। शरीर से परे जो है, मनुष्य की आत्मा या उसका चेतन तत्व, उसकी उपलब्धि ही वास्तव में जीवन की उपलब्धि मानी जा सकती है।

मुझे तो कुछ ऐसा लगता है, कि जीवन की केवल दो उपलब्धियां हैं...सुख और दुख। इन दो उपलब्धियों की दो अभिव्यक्तियां हैं...हंसना और रोना।

हरेक आदमी हंसता है और रोता है। स्वाभाविक उत्फुल्लता से लेकर खिलखिला कर हंस पड़ने की अवस्था के बीच की जितनी अवस्थाएं हैं, वे सब हास्य की हैं....बौद्धिक मानव ने इन अवस्थाओं का वर्गीकरण करके इन्हें अलग-अलग नाम भी दे दिए हैं, लेकिन इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि हास्य सुख की अभिव्यक्ति । आंखों की चमक, हाथ-पैर का थिरकना, ओंठों पर की स्मिति, मन्द हास्य और अट्टहास—यह सब सुख की अभिव्यक्ति ही तो हैं।

पर यहां मेरे सामने ऐसी अवस्थाएं भी आ जाती हैं, जहां घोर दुख की हालत में एक हलकी-सी मुसकान मुख पर आ जाती है, यद्यपि इस प्रकार की मुसकान में एक भयानक कटुता रहती है, जहां क्रोध के पागलपन में मनुष्य जोर से हंस पड़ता है, यद्यपि उस अट्टहास में भयानक हिंसा निहित रहती है जिसे हम उपहास कहते हैं, अथवा जिसे हम व्यंग्य की संज्ञा दे सकते हैं।....उसे हम सुख की अभिव्यक्ति कैसे कह सकते हैं ?

इस स्थान पर हमें सुख के रूप को समझ लेना पड़ेगा। मनुष्य की आंतरिक प्रवृत्ति और बाहरी परिस्थितियों के सामंजस्य को मैं सुख की स्थिति मानता हूं। यह कोई आवश्यक नहीं कि मनुष्य की आन्तरिक प्रवृत्ति कल्याणकारिणी ही हो। हिंसा, घृणा, असत्य, यह सब व्यक्ति विशेष की आन्तरिक प्रवृत्तियां हो सकती हैं। जिस मनुष्य की आन्तरिक, प्रवृत्ति अविश्वास है, जब वह दुनिया की आस्थाओं और मान्यताओं को टूटता हुआ देखता है, तब उसकी आन्तरिक प्रवृत्ति में और बाहरी परिस्थिति में सामंजस्य स्थापित हो जाता है। उस समय उसका हंस पड़ना स्वाभाविक है। यद्यपि इस हंसी को हम कुरूप व्यंग्य के रूप में देखते हैं। हिंसा की प्रवृत्ति के बाहरी परिस्थितियों से अनुप्राणित विस्फोट में अट्टहास का रूप स्पष्ट हो जाता है। घोर दुख के समय हम जिससे सहानुभूति और संवेदना की आशा करते हैं, जब उसके व्यवहार से हमें क्लेश होता है, तब हमारे अन्दर के उत्सुकताजनित ज्ञान की बाहरी परिस्थितियों से वृद्धि ही होती है।

जीवन की दो मूल भावनाएं हैं, जिनसे समस्त जीवन प्रेरित और अनुशासित है, जिनमें मनुष्य का चरम विकास है, जो बुद्धि और ज्ञान से एक रस और एक प्राण हैं—उत्सुकता और कौतूहल। शुद्ध हास्य इस कौतूहल द्वारा जनित होता है,..ऐसा मेरा मत है। साहित्य में यह हास्य ही सर्व प्रथम आता है। हमारी नैतिक परिभाषा में भी यही हास्य सर्वोत्कृष्ट समझा जाता है। यह भी सत्य है कि जीवन में इस प्रकार का हास्य बहुत कम दीखता है। संघर्षों की तीव्रता में, प्रतिक्रियात्मक विकृतियों के आवेग में हम जीवन की इस महान उपलब्धि को खो बैठते हैं। इस प्रकार का शुद्ध हास्य हम केवल बच्चों में ही देख पाते हैं।

बच्चों के हास्य को जो हम पवित्र और भोला हास्य कहते हैं, वह केवल इसलिए कि बच्चों का हास्य शुद्ध उत्सुकता और कौतूहल की आन्तरिक प्रवृत्ति द्वारा जनित है। एक नया खिलौना बच्चे के हाथ में आया और वह खिलखिला कर हंस पड़ा, एक नई बात का उसे पता लगा और असीम आनन्द मिला उसको। आषाढ़ के प्रथम मेघ आकाश पर छाए और बच्चों के झुंड के झुंड उत्सव मनाने के लिए निकल पड़े।

० ० ०

साहित्य में अद्भुत हास्य से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध माना गया है। जो हास्य अद्भुत से उत्पन्न होता है, वही सात्विक और शुद्ध हास्य कहलाता है। वैसे यह अद्भुत हमारे जीवन के हर कदम पर मौजूद है, लेकिन अपनी विकृतियों से ग्रस्त, संघर्षों में रत, अपनेपन में डूबे हुए हम इस अद्भुत को देख नहीं पाते। इस अद्भुत में मूर्खता सबसे प्रधान तत्व है।

दुनिया में जितनी भी विचित्र परिस्थितियां पैदा होती हैं, वह सब लोगों की मूर्खता के कारण। मूर्खता को दुर्भावना समझने के कारण हम उत्तेजित होकर लड़ पड़ते हैं, मूर्खता को मूर्खता समझ कर हम हंस देते हैं। साहित्य वाला शुद्ध हास्य रस इस प्रकार मूर्खता से उत्पन्न हास्य के निरूपण से मनुष्य में भावना का उदात्तीकरण कर सकता है। लेकिन यह केवल उस समय जब कि लेखक में दुर्भावना न हो। वह मूर्खता परिस्थिति-जनित होनी चाहिए, वैयक्तिक न होनी चाहिए। किसी भी व्यक्ति को मूर्ख व्यक्त करने में लेखक के अन्दर काली हिंसात्मक प्रवृत्ति को सहारा मिलता है, और इसी लिए इस प्रकार का हास्य शुद्ध हास्य न बन कर व्यंग्यात्मक बन जाता है। मूर्खता तीन कोटियों में विभक्त की जा सकती है—मेरी मूर्खता, आप की मूर्खता, दुनिया की मूर्खता। इसमें दुनिया की मूर्खता परिस्थिति की विचित्रता उत्पन्न करने वाली होती है, और इसलिए यह सर्वश्रेष्ठ हास्य कहलाता है। दुनिया की मूर्खता का प्रतिपादन करना भी आसान कला नहीं है। यहां हास्य-लेखक के दृष्टिकोण का बहुत बड़ा महत्व है। लेखक अपने को अतिशय बुद्धिमान मान कर अगर दूसरों की मूर्खता पर लिखता है, तो उस हास्य के व्यंग्य बन जाने का खतरा रहता है। दुनिया की मूर्खता का रूप सामूहिक होना चाहिए, जिससे लेखक स्वयं अपने को अलग रख सकने का दावा न कर सके, और यह सामूहिक मूर्खता परिस्थिति की विचित्रता का रूप धारण कर लेती है।

यहां यह भी ध्यान में रखना होगा कि मूर्खता स्वयं में अज्ञान की प्रतीक है। इसलिए मूर्खता सहानुभूति की चीज़ होनी चाहिए, उसके प्रति क्रोध अथवा कटुता उत्पन्न करने से हास्य का रूप ही विकृत हो जाता है।

इस अद्भुत के हास्य के बाद साहित्य में हाज़िर जवाबी, या जिसे हम अंग्रेज़ी में 'विट' कहते हैं, उसका हास्य आता है। यह हास्य केवल शाब्दिक होता है, और इसलिए हम उसका स्रोत मनुष्य की बुद्धि में पाते हैं। अति साधारण बातचीत को एक ऐसा मोड़ दे देना कि लोग हंस पड़ें, एक विशेष प्रकार की बौद्धिक प्रक्रिया है। गम्भीर से गम्भीर विषय पर बातचीत के

समय इस प्रकार के हास्य से बड़ा मनोरंजन हो जाता है और गम्भीरता में जो कटुता आ जाती है, वह दूर हो जाती है। लेकिन इस प्रकार का हास्य केवल एक बहुत बड़े बौद्धिक प्राणी द्वारा ही सफल हो सकता है। यह शब्दों के उलट-फेर का हास्य एक विशिष्ट बौद्धिक समाज में ी सीमित हो जाता है।

आज की दुनिया में सबसे अधिक प्रचलित हास्य व्यंगात्मक हास्य हैं। व्यंग्यात्मक हास्य शुद्ध रूप से बौद्धिक हास्य है और इसलिए इस हास्य में निरन्तर विकास होता जा रहा है। इस व्यंग्य में शुद्ध हास्य और बौद्धिक हास्य के साथ एक प्रकार का भावनात्मक व्यक्तीकरण भी होता है, जो इसे प्रभावशाली और प्राणवान बना देता है। इस प्रकार के हास्य में सामर्थ्य होने के कारण ही इस हास्य की सामाजिक क्रिया-प्रतिक्रिया पर ध्यान रखना नितान्त आवश्यक हो जाता है।

इस व्यंग्यात्मक हास्य में व्यक्ति विशेष की मूर्खता की हंसी उड़ाई जाती है, इसमें व्यक्ति पर आघात होता है। हंसी उड़ाने के समय हंसी उड़ाने वाले का हिंसात्मक दृष्टिकोण बराबर मिलता है। वैसे हिंसा को मानव अपने जीवन से पूर्ण रूपेण तो लोप नहीं कर सकता, पर हिंसा का परिष्कार तो मानव विकास में आवश्यक माना ही जा सकता है। हम उस हास्य को सफल कहते हैं, जिसमें जिस मनुष्य पर हंसा जाए, वह भी अपने ऊपर हंसे। व्यंग्यात्मक हास्य इतना परिष्कृत हो यह हास्य लेखक की साधना और उसके विकास पर निर्भर है।

—लखनऊ से प्रसारित

अपेक्षित और अनपेक्षित

रमा सिंह

मुझे न दो
समय की लम्बी अवधि
अकेला एक क्षण दो—
एक ज्योतिर्मय क्षण,
वही क्षण—
जिसमें सब घटाटोप तिमिर चीर—
ज्योतिर्मयी रेखा कौंध जाती है।
मुझे न दो
ऊंचे से महल दुमहले ये,
केवल एक बिन्दु दो—
पर्वत के शिखर का,
वही बिन्दु—
जहां पहुंच आंखों में धरती की, नभ की
सब माप सिमट जाती है।
मुझे न दो,
छोटी बड़ी विविध परिधियां ये,
केवल एक केन्द्र दो—
सूक्ष्म-सा एक केन्द्र,
वही केन्द्र
जिस पर टिक इन अनेक वृत्तों की
धारी विस्तार पा जाती है।

—इन्दौर से प्रसारित

चेखोव के तपोवन में

बनारसीदास चतुर्वेदी

कोई अट्ठाईस वर्ष पहले मुझे काशी में स्वर्गीय प्रेमचन्द जी के साथ दो दिन रहने का मौका मिला था। बातचीत के सिलसिले में मैंने उनसे पूछा—संसार का सबसे बढ़िया कहानी लेखक आप किसे मानते हैं? उन्होंने बिना किसी हिचकिचाहट के फौरन जवाब दिया—चेखोव को।

चूंकि मैं भी चेखोव का अनन्य भक्त था, इसलिए प्रेमचन्द जी के उत्तर से मुझे बहुत संतोष हुआ।

अपनी पिछली रूस यात्रा में जब मुझसे मेरे रूसी दुभाषिए मि० डिमिट्री ने कहा—आज हम लोग मास्को से पचास मील दूर चेखोव के ग्राम्य निवास स्थान मैलीखोव को चलेंगे, तो मुझे बड़ी खुशी हुई। गोर्की इंस्टीट्यूट के सुविख्यात लेखक मि० बालीशोव भी, जो बर्नर्ड शा की रचनाओं के विशेषज्ञ हैं, हमारे साथ हो लिए। मैलीखोव में चेखोव का एक संग्रहालय है। उसके निर्देशक महोदय को हम लोगों के पहुंचने की सूचना पहले से दे दी गई थी।

मैलीखोव में हमारे जो ५–६ घण्टे बीते, वे हमें जिन्दगी भर याद रहेंगे।

मैलीखोव बड़ा रमणीक स्थल है। चेखोव ने एक बार कहा था कि अगर हर आदमी ज़मीन के उस टुकड़े को, जो उसे मिला हुआ है, सुन्दर बनाने की कोशिश करे, तो यह सारी दुनिया कितनी मनोहर बन सकती है। एक जगह उन्होंने लिखा था—चार सौ वर्ष में यह समस्त संसार उपवन का रूप धारण कर लेगा, बगीचा ही बन जाएगा। चेखोव तथा उनके माता-पिता और भाई-बहनों ने मैलीखोव आश्रम के निर्माण के लिए बहुत परिश्रम किया। उनका छोटा भाई हल चलाने लगा और बहन तरकारी लगाने में व्यस्त हो गई। थोड़े ही दिनों में वहां मूली, गोभी, आलू इत्यादि उगने लगे और वहां खुद चेखोव ने तरह-तरह के वृक्षों को लगाया। चैरी वृक्ष के तो बहुत से पौधे उन्होंने आरोपित किए। उनके हाथ के लगाए कितने ही पेड़ वहां मौजूद थे।

उन दिनों रूसी किसानों की हालत बहुत ही खराब थी। ग्रामों की दुर्दशा का क्या कहना। बीमारियों की भरमार थी। १९४४ में जब मैलीखोव में चेखोव प्रदर्शनी का उद्घाटन हुआ था तो एक किसान ने, जो चेखोव का समकालीन था, कहा था—दरअसल हमीं लोगों ने चेखोव की उम्र कम कर दी और हमीं उनकी बीमारी और अकाल मृत्यु के लिए जिम्मेवार हैं। हम लोगों ने चेखोव को अपनी बीमारी, मुकदमेबाज़ी, अर्जी-पुरजा इत्यादि से बहुत तंग किया था। जब आस-पास के गांवों में हैज़ा फैला हुआ था, तो पच्चीस ग्रामों की देखभाल उनके सिपुर्द कर दी गई थी। उनके कई महीने तो गाड़ी में घूमते-फिरते ही बीते। चेखोव बिल्कुल हारे-थके मैलीखोव लौटते थे, पर यहां पहुंचते ही उनकी सारी थकान दूर हो जाती थी और वे पुनः प्रफुल्लित हो जाते थे।

मैलीखोव को देख कर मुझे कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शान्ति निकेतन की याद आ गई। गुरुदेव ने भी अपने श्रीनिकेतन द्वारा आस-पास के ग्रामीण समाज की बड़ी सेवा की

थी पर दोनों की परिस्थितियों में बहुत फर्क था। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर साधन-सम्पन्न व्यक्ति थे और चेखोव साधनहीन।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि इन दोनों महान लेखकों की सर्वोत्तम रचनाएं प्रकृति के निकट रहते हुए ही लिखी गईं। चेखोव ने हंसिनी नामक नाटक और अपनी बढ़िया से बढ़िया कहानियां मैलीखोव में ही लिखीं।

चेखोव के लगाए हुए वृक्ष पर, जो अब भी वहां विद्यमान है, उनका एक वाक्य टंगा हुआ है—मुझे खेतों, वृक्षों और साधारण जनता से प्रेम है और उन्हीं के बीच रहना मैं पसन्द करता हूं।

जिस प्रकार इस वर्ष चेखोव की जन्म-शताब्दी सारे विश्व में मनाई जा रही है, उसी प्रकार गुरुदेव की भी शताब्दो अगले वर्ष सम्पूर्ण संसार के मुख्य-मुख्य स्थानों में मनाई जाएगी।

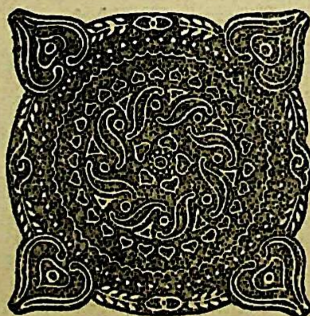
मैलीखोव में जो चेखोव संग्रहालय है, उसमें चेखोव के ग्रन्थ तथा भिन्न-भिन्न भाषाओं में किए गए उनके अनुवाद सुरक्षित हैं। संग्रहालय बहुत आकर्षक है। निर्देशक महोदय ने मुझसे पूछा—क्या आपकी मातृभाषा में चेखोव के ग्रन्थों का अनुवाद हुआ है?

मैंने उन्हें बतला दिया कि उनकी बहुत-सी कहानियों और कई नाटकों का हिन्दी में तर्जुमा हो चुका है। भारत को अन्य सभी भाषाओं में चेखोव के अनेक ग्रन्थों के अनुवाद हो चुके हैं। इस पर उन्होंने यह इच्छा प्रकट की कि वे अनुवाद मैलीखोव संग्रहालय को मिल जाने चाहिए।

रूस में चेखोव के चार संग्रहालय हैं। मास्को स्थित चेखोव संग्रहालय के भी दर्शन करने का सौभाग्य मुझे मिला। वह भी शिक्षाप्रद है। वहां की महिला निर्देशिका ने संग्रहालय को बड़े प्रेमपूर्वक दिखला कर अन्त में कहा—भारत पहुंच कर 'गंग' को मेरा नमस्ते कहना।

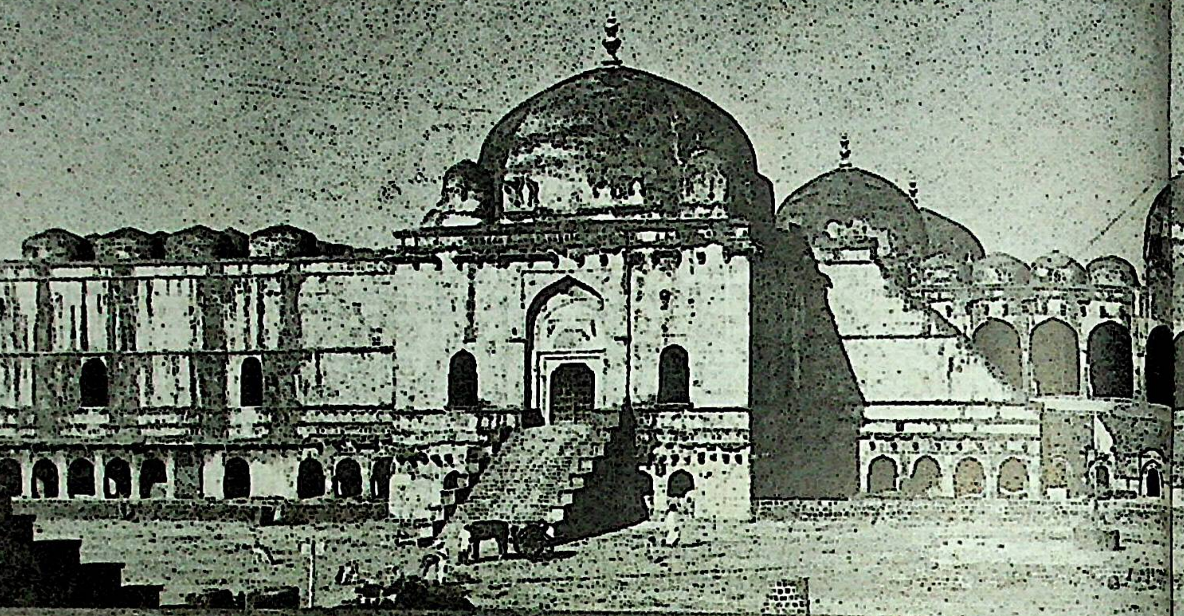
पहले तो मैं समझ नहीं सका कि उनका क्या अभिप्राय है, फिर पूछने पर पता चला कि उनका मतलब गंगा मैया से है। वह रवीन्द्रनाथ ठाकुर और गंगा मैया दोनों की ही भक्त हैं।

—इन्दौर से प्रसारित





महान कथाकार चेखोव



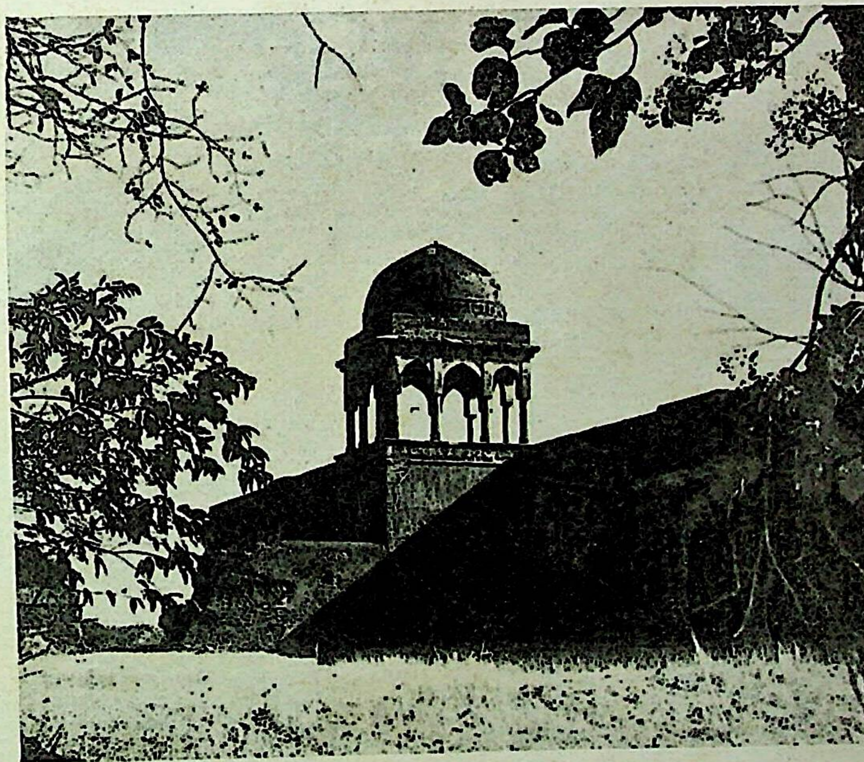
जामी मस्जिद



...ज़ महल

उल्लास नगर मांडू





रानी रूपमती का क्रीड़ा-स्थल



दाई का महल

हिंडोला महल

उल्लास नगर मांडू

डा० रघवीर सिंह

कराल काल के प्रलयकारी प्रवाह में जब पृथ्वीवल्लभ की प्यारपूर्ण प्रेरणा एवं राजा भोज की तन्मयतापूर्ण अनन्य साहित्य साधना विलीन होने लगी और निरालम्बा सरस्वती धारा नगरी से उदासीन हो गई, तब तो राज्यश्री ने भी उनकी ओर से मुख मोड़ कर अन्यत्र अपनी कृपा दृष्टि डाली। अब तो उसका रूप अधिकाधिक निखरता ही गया और वस्तुतः शादियाबाद अर्थात उल्लास नगर बन गया।

इस उल्लास नगर का वह अकाट्य मोह एवं अबाध आकर्षण कि मालवा के सुलतान तो वहां बरबस खिंचे चले आते थे। उन्होंने अपनी सारी समृद्धि, कला, ऐश्वर्य-विलास, जीवन का सब कुछ उस पर न्योछावर कर दिया। संसार में सर्वथा अद्वितीय अमर ताज के निर्माता उस्ताद अहमद के पुत्र लुत्फुल्ला और उसके साथी शिल्पियों ने भी मालवा के इन प्रेरक स्वप्न दृष्टाओं एवं अनुपम कलाकारों के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित कर स्वयं को धन्य समझा। ऐश्वर्य और विलास का प्रचण्ड ज्वार बड़ी शीघ्रता के साथ उठ रहा था। तब विलास-वासना तथा राग-रंग की अतृप्त प्यास और अनन्त यौवन की अक्षय आस लिए गयासुद्दीन खिलजी, रसिकराज पृथ्वीवल्लभ के मुंज तालाब के किनारे पहुंचा और अपनी इस नई जीवन-नैया को जीवन रस से भरपूर उस तालाब में वहा दिया। जरा और व्याधि की छाया तक से दूर रहने के लिए उसने जहाज़ महल का आसरा लिया, और इस जहाज़ महल के साथ ही मुंज तालाब के उत्तरी तीर पर बने हुए उन वैभवपूर्ण सुन्दर शाही महलों में भी तब बारहों मास दिन-रात आमोद-प्रमोद और राग-रंग, सुरा-सुन्दरी और संगीत का युगों तक निरन्तर यह उन्मत्तकारी संयोग, और वह भी मालवा के उन सौरभपूर्ण सरस मदभरे वातावरण में जहां प्रकृति भी नित नया उन्मादक शृंगार करती है, तथा वहां की वे सुविख्यात मतवाली रातें.... इस सब के भुलावे में पड़ कर कुछ समय के लिए तो काल भी अचल हो गया था।

किन्तु वैभव, ऐश्वर्य-विलास और राज्य सत्ता से परिपूर्ण दिनों में भी यह नगर सदैव अपने पांवों तले हज़ारों हाथ नीचे फैले हुए मैदान में कोसों दूर दक्षिण में बहती हुई रेवा नदी की उस उज्ज्वल पवित्र धारा को तरसती आंखों से देखता था और उसके पावन जल को सिर पर चढ़ा कर उसका पुनीत अभिसिंचन पाने को सदैव बहुत ही लालायित रहता था। और अब तो भाग्य के साथ ही राज्यश्री के भी विमुख हो जाने पर, उसकी यह उत्कण्ठा और भी अधिक उत्कट हो गई थी। किन्तु....हज़ारों हाथ नीचे बहती हुई नदी का सीधी-ऊंची कगार वाले पहाड़ पर पहुंचना, असीम विलास-वासना में सराबोर उस नगरी में ऐसे तीर्थ जल का समावर्जन.... कभी कहीं सम्भव हो सकता था?....तथापि मालव-पुत्री रूपमती के एकनिष्ठ निश्छल पवित्र प्रेम ने रेवा नदी को उस उल्लास नगर में प्रकट होने के लिए विवश किया। वहां उस ऊंचे, अगम मण्डप के उन लम्बे-चौड़े कठोर पत्थरों में से रेवा नदी की स्फटिक पवित्र धारा फूट निकली, वहां का रेवा कुण्ड भर गया।....तब तो साथ ही उस उल्लास नगर के विगत वैभव

और खोए हुए महत्व पुनः लौटते से जान पड़े। वहां निवास करने को मालवा का सुलतान बाज़ बहादुर बरबस खिंचा चला आया।

उस पुनीत रेवा-कुण्ड के पूर्वी तीर पर बाज़ बहादुर का वह सुसज्जित महल, एवं उससे भी कहीं आगे ऊपर ऊंची कगार पर से सुदूर मैदान में नीचे बहने वाली अपनी आराध्या नर्मदा नदी को निरन्तर ताकता हुआ रूपमती का वह अनोखा मनमोहक निवास —अब तो उनमें गूंजने लगा सुमधुर उन्मादक प्रेम-संगीत और वहां सुनाई पड़ने लगीं रूपमती के कोकिल कंठ से निकली भूप-कल्याण रागिनी की वे मदिर मीठी तानें। कितने उन्मत्तकारी, उल्लासपूर्ण और अविस्म-रणीय थे वे गान। बाज़ बहादुर का आत्म-परिणय और रूपमती की वह अतृप्त प्रेम पिपासा। ...मेरे जीवन के इस प्याले में अथाह प्रेम पयोधि ढाल दें।.....परन्तु क्या वह मेरे प्रियतम के लिए किसी प्रकार अपर्याप्त तो नहीं होगा? और मेरे इस छोटे शरीर में मेरा वह अगाध स्नेह सागर कब तक समाया रह सकेगा? स्नेह-सरिता की वह अटूट धार, जीवन-रस की वह मतवाली मदिरा....प्यार और संगीत....उनकी उपेक्षा कर संसार की सोचना.... दुनिया तो यों ही चलती जाएगी, उसका रहस्य कभी कोई जान सकेगा, जो उसकी चिंता तुझे सताती रहती है?

किन्तु नियति की गति को कौन जान पाया है? अनन्य प्रेम साधना करने वाली प्रेयसी का कभी कहीं भाग्य ने यत्किंचित भी साथ दिया है....तब उसका वह मानव प्रियतम... अदृष्ट के हाथों में खेलने वाला मिट्टी का वह गुड्डा!...प्रियतम ने एक दिन कोसों दूर सारंगपुर की राह ली और वे प्यार भरे संयोग के दिन भूली हुई बात हो गए। विरह के सूने दिन और वियोग की वे दुखभरी लम्बी रातें....रूपमती के तप्त आंसू और उत्तप्त उसासें:

तुम बिन जियरा रहत हत, भागत है सुखराज।
रूपमती दुखिया भई बिना बहादुर बाज॥

तुम्हारा साथ न छोड़ने को व्यग्र मेरे ये प्राण ओंठों तक आ गए हैं। अभी तो तुम्हारे विगत प्यार के स्मृति सौरभ के भुलावे में पड़ कर वहीं बेसुध अटके हैं। तुम्हारे आदेश की भी प्रतीक्षा है।....ऐ नियति! सौत की सी यह सारी दुष्टता और परिद्वेष क्यों?....बहुत दूर जा कर वह मेरे दिल में ही बसा हुआ है, तब कहो मैं क्योंकर अपनी प्रेमपाती भेजूं?....प्रेम पाती ....और मेरी वह असीम विरह वेदना....इस छोटे से कागद पर मेरी वह लम्बी प्रेम कहानी ....इस नन्हें से प्याले में वह अगाध प्रेम-सागर....एक असीम आह के सिवा मेरे पास लिख भेजने को रह ही क्या गया है?

'पिया दरस की आस' जब मृत प्रेयसी को भी अधीर बनाए रहती है, तब यहां तो पिया-मिलन की सुनिश्चित सुखमय आशा उसे बहुत ही लुभा रही थी....प्रणय अभिसारिणी रूपमती तब उस उल्लास नगर से भी मुख मोड़ कर सारंगपुर पहुंची। किन्तु विधि की विडम्बना! कुछ ही समय बाद अहमद खां के हाथों पराजित हो कर बाज़ बहादुर को वहां से भी भागना पड़ा। तथापि आहत बेबस रूपमती के दिल और प्यार ने बाज़ बहादुर का संग नहीं छोड़ा। अपने प्रियतम के विजेता के प्रेम प्रणय को तिरस्कारपूर्वक ठुकरा कर प्रेम की अपार पीड़ा और स्नेह की अक्षय साध लिए रूपमती ने सहर्ष चिरवियोग का हलाहल पी कर गाते-गाते ही प्राण त्याग दिए।

रूपमती को यों सदैव के लिए खो कर बाज़ बहादुर और उल्लास नगर सर्वथा हतश्री हो गए और जब मुगल साम्राज्य के ऐश्वर्य-विलास और राग-रंग का अंत हुआ, तब उस उल्लास नगर में सर्वनाश का ताण्डव प्रारम्भ हुआ। उन राजमहलों में वनराज निवास करने लगे।

परन्तु उल्लास नगर के उन रहे सहे ध्वस्त खण्डहरों का वह अनोखा अबूझ आकर्षण ....वह तो निरन्तर अधिकाधिक बढ़ता ही जा रहा है। इन शृंगारविहीन अनावृत क्षत-विक्षत भग्नावशेषों को देखने के लिए सहस्रों विदेशी यात्री भी हजारों कोसों की दूरी से खिंचे चले आते हैं, उन गए-बीते मस्ताने दिनों की एक झलक देखने, उस मदमाते वातावरण को यत्किंचित भी अनुभव करने....परन्तु वर्तमान को विगत भूत से विलग करने वाला वह अनदेखा अभेद्य आवरण !....तथापि रात क निराशापूर्ण अंधियारे में यदा-कदा जब भी भाव लोक के वे स्वप्न-पट अनजाने खुल जाते हैं, तब वे बीते दिन लौटते से जान पड़ते हैं और उन विगत दिनों की विस्मृत बीती बातों के भुलावे में पड़ कर वह अनन्य प्रेयसी रूपमती पुनः उस उल्लास नगर के रूपमती महल पर बैठी अतीत करुण स्वर में गाती सुन पड़ती है :

बरसत रहत रैन और बासर
हियो कियो अति कदरा
कासों कहों सुनै को मेरी
जोहत बैठी पिय को मगरा।

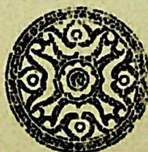
—इन्दौर से प्रसारित

चांद डूबा

शमशेर बहादुर सिंह

चांद डूबा
आंख बन कर
दूर धरती की
बहुत ही नीची भवों में।
शहर सूना है।
मगर
बादलों के परत
भारी हैं
कि जैसे सिलें।
बहुत रेतीला उदास
हृदय है।
घिर रहा है
अन्धकार।

—इलाहाबाद से प्रसारित



मंगलाचरण

अमृतराय

बाबू अम्बिका सरन बाहर बरामदे में बैठे हुक्का गुड़गुड़ा रहे थे। रात ज़रा दो बूंद ज़्यादा चढ़ा गए थे, सर कुछ भारी मालूम हो रहा था। सवेरे के नौ बजे थे। कचहरी की छुट्टी थी, इसलिए इत्मीनान था। आरामकुर्सी में लेटे हुए हुक्के के कश ले रहे थे और धुएं के उन बादलों का बनना और बिगड़ना कुछ इस तरह टकटकी लगा कर देख रहे थे, कि जैसे उसमें अपने सवाल का जवाब ढूंढ़ रहे हों।

तभी एक दस-बारह साल का छोकरा आया। बाबू अम्बिका सरन ने उसको देखा मगर वह देखना न देखने से भी बदतर था। गुर्राकर बोले—क्या है?

लड़का सिटपिटा गया और अपनी जेब टटोलने लगा। घबराहट के मारे उसे खत निकालने में और कुछ देर हुई। इस बीच बाबू साहब ने दूसरी गोली दाग दी—अबे मुंह से क्यों नहीं कहता कुछ?

अब तो लड़के की हालत और भी खराब हो गई, लेकिन हां बाबू साहब की बात से इतना हुआ, कि उसे अपने मुंह की याद आ गई और उसने डरते-डरते कहा—चिट्ठी लाया हूं......

खूब पता है मुझको............भीख मांगने का यह नया ढंग निकला है आजकल! बोले—चिट्ठी? किसकी चिट्ठी? भागो यहां से.....

लेकिन इस बीच वह चिट्ठी लड़के के हाथ आ गई थी, उसने सहमते हुए चिट्ठी उनकी तरफ बढ़ाई और जैसे ही उन्होंने चिट्ठी ली, लड़के ने पलट कर साइकिल उठाई और बेतहाशा भागा, कि जैसे भूत उसका पीछा कर रहा हो।

बाबू अम्बिका सरन ने चश्मा नाक पर चढ़ाया और खत पर नज़र जाते ही चिल्ला पड़े—धत्तेरे की।..........पता नहीं कहां-कहां के जगलोल पाल रखे हैं बाबू साहब ने!.... क्यों बे, दही जमा था मुंह में?

मगर तब तक तो लड़का होनोलूलू पहुंच चुका था। क्या पता था गरीब को कि बाबू बाघ के मुंह में भेज रहे हैं, वर्ना ऐसी तैयारी से आता। उन्होंने तो बस इतना कहा—ले जा, यह चिट्ठी देता आ। सुलेमानगंज के नुक्कड़ पर वह जो नीला-नीला सा मकान है न, उसी में दे दीजियो। बाबू अम्बिका सरन नाम है।

बाबू अम्बिका सरन ने चिट्ठी पढ़ी और खिचड़ी की तरह खदबदाने लगे। छिन में अन्दर जाते छिन में बाहर आते, कहीं एक बूंद एकान्त न था कि छुट्टन की अम्मां से दो बात कर सकते। एक तो अफीम की कटोरी जैसा घर, दूसरे सवेरे का समय, कोई मंजन कर रहा था, कोई खुरमा खा रहा था, कोई हथौड़ा ले कर ठक-ठक कुछ ठोंक रहा था, कोई किसी का बाल पकड़ कर नोच रहा था और कोई पूं पूं लगाए था। छुट्टन की अम्मां इधर से उधर नाचती फिर रही थी। उस कचर-कचर में कैसे कहते कुछ भी

छुट्टन की अम्मां से। चिढ़ कर बाहर आ गए और हुक्के की निगाली उठा कर मुंह में लगा ली। दो-चार कश खींचे लेकिन खिचड़ी फिर उफनाने लगी। झक मार कर फिर अन्दर गए। इस बार संयोग से छुट्टन की अम्मां पूजा की कोठरी में थीं। अब बाबू अम्बिका सरन से नहीं रहा गया। तीर की तरह वहीं जा घुसे।

लेकिन तुफ है इस घर पर—नज़र बचा कर कुछ भी काम यहां नहीं हो सकता। सबने उनको कोठरी में घुसते देखा। संध्या ने, सुकेशी ने, तारा ने, किशोरी ने। मुन्नी ने, बिट्टन ने। छुट्टन ने, बब्बू ने। और सब औकात भर अपना अपना दिमाग दौड़ाने लगे।

संध्या के चेहरे पर हल्की सी लाली दिखाई दी। सुकेशी का लम्बा चेहरा और भी लम्बा हो गया। तारा शरारत से मुसकराने लगी। किशोरी की आंखें चमकने लगीं। मुन्नी ने बिट्टन को देखा, बिट्टन ने मुन्नी को देखा, दोनों ने सर हिलाया, मुसकराईं, और सबसे पहले मामले की तह में पहुंच गईं—घर में फिर नया भैया होगा, किहां-किहां करेगा, सुठौरा बनेगा, अछवानी बनेगी.........इसी से तो बप्पू गए हैं, अम्मा के पीछे-पीछे, पूजा की कोठरी में, भगवान जी से विनती करने।

आंखों ही आंखों में एक ने दूसरे से कहा—चल ज़रा सुनें तो—और दोनों तुलसी खोंटने के बहाने वहीं पास ही जा खड़ी हुईं, लेकिन बातें इतने चुप्पे-चुप्पे हो रही थीं कि ये दोनों नौ और ग्यारह वर्षीय महिलाएं कुछ समझ नहीं सकीं। नए भैया के लिए रघुवर नाम उन दोनों को पसन्द नहीं आया, कहां रघुवर कहां कलन्दर।

पति की बातें सुन कर छुट्टन की अम्मां गोभी के फूल की तरह खिल उठीं और बोलीं—अच्छा तो लड़की उन्हें पसन्द है।

बाबू अम्बिका सरन ने कपाल ठोंकते हुए कहा—तुम तो छुट्टन की अम्मां........सारी रामायन.......

और तय किया कि इस मंदमति को बाबू रघुबरदयाल की चिट्ठी ही पढ़ कर सुना देनी चाहिए।

बखिदमत जनाब बाबू अम्बिका सरन साहब, दामइकबालहू,

नमस्ते। खुद हाज़िर न हो सकने के लिए मुआफी चाहता हूं। तबीयत ज़रा अलील है।

मुझे यह तहरीर करते हुए बड़ी खुशी हो रही है कि आपके यहां रिश्ता करना हमें मंज़ूर है। आप बिलकुल इत्मीनान रखें, हमारी तरफ से कभी कोई बात बईद अज़ अखलाक नहीं होगी। हम तो खानदानी लोग हैं। लड़की जैसे आपकी वैसे हमारी। किस घर में लड़की नहीं होती? लेकिन लोग अक्सर भूल जाते हैं और तिलक दहेज़ के लिए लड़की वालों का गला दबाना हमारे यहां रवा समझा जाता है, इसी ने तो हमारी कौम का सत्यानाश कर रखा है। मैं इसको परले दर्जे का कमीनापन समझता हूं और आपको यह सुन कर खुशी होगी, कि कायस्थ कांफ्रेन्स के पिछले इजलास में करारदाद के बारे में जो रिजोल्यूशन पास हुआ था, वह मैंने ही पेश किया था। इससे आप समझ सकते हैं कि मैं किन खयालात का आदमी हूं।

और फिर मैं कहता हूं कि करार करने की जरूरत भी क्या है? वाल्देन अपनी औलाद को यों ही ज्यादा से ज्यादा देते हैं, और कैसे न दें। इतना ही नहीं,

देते वक्त उन्हें अपनी इज्ज़त का खयाल भी रखना ही पड़ता है और उस खानदान की इज्ज़त का भी, जिसमें कि वह अपनी बेटी दे रहे हैं। कौन बाप चाहेगा कि उसकी बेटी को ससुराल में लोग नाम धरें ? फिर क्या ज़रूरत है करार करने की ? वहुत बेजा बात है।

आप खुद समझदार आदमी हैं। मैं अपनी तरफ़ से कुछ भी नहीं कहना चाहता। जितने रुपये से आप चाहें टीका करें, आपकी खुशी। सिर्फ़ इत्तलाअन् अर्ज है कि हमारे यहां इक्यावन गिन्नियों से कम का दस्तूर नहीं है। वैसे आपकी जो मर्ज़ी। दहेज़ और दीगर-नेग-न्योछावर, बारात की खातिर-तवाजो इनके बारे में भी मैं कुछ नहीं कहना चाहता। मुझे तो सिर्फ़ लड़की चाहिए। और जहेज़ अगर मैं ले भी रहा हूं तो परमात्मा गवाह है, सिर्फ़ इसलिए कि आपकी दिलशिकनी न हो। वर्ना पैसे की ही भूख अगर होती तो मैं आपके दस हज़ार क्यों कवूल करता, आरा के मशहूर रईस कामेश्वरनाथ जज साहब के अठारह हज़ार न लेता ? मगर नहीं, मैंने कहा यह अखलाक से गिरी हुई बात होगी। मुझे इतना ही अर्ज करना है कि अब इन दोनों खानदानों की इज़्ज़त आपके हाथ है।

हां, एक बात भूला जा रहा था। आजकल के लड़कों को तो आप जानते ही हैं। वाल्देन की तय की हुई शादी एक आंख नहीं भाती उन्हें। कहता है, लड़की मैं खुद देखूंगा। अजब हवा है जमाने की। सोचिए। हम लोग कभी मुंह से ऐसी बात निकाल सकते थे ? मगर छोड़िए अब वह दिन कहां। लिहाज़ा गुजारिश है कि लड़के की इतनी ज़िद तो आपको रखनी होगी। मैंने बहुत समझाया, नहीं मानता। उम्मीद है कि वक्त की फ़िज़ा को देखते हुए मेरी यह बात आपको नागवार खातिर न होगी और आप इसकी कोई न कोई सबील निकालेंगे।

आपका खादिम
रघुवर दयाल

अब बात की पेचीदगी छुट्टन की अम्मां पर खुली और वह तड़प उठीं, कि जैसे शेरनी को गोली लगे—क्या समझते हैं वह लोग अपने को ? कैसे हिम्मत पड़ी उनकी ? नहीं करनी हमें ऐसे घर शादी। बहुत लड़के मिल जाएंगे हमको ?

छुट्टन की अम्मां को इस तरह बिफरते देख कर बाबू अम्बिका सरन ने मध्यम मार्ग पकड़ा। इतने दिनों में उन्होंने जो एक लड़का पकाया था उसको इतनी ज़रा सी बात पर खोने को वह तैयार न थे। बोले—तुम बहुत ठीक कहती हो छुट्टन की अम्मां, लेकिन ज़माने की हवा भी तो देखो ज़रा, और फिर हमें डर किस बात का, कौन-कौन ऐब हैं हमारी लड़की में, कानी है कि कुबड़ी है। चिराग लेकर ढूंढ़े से भी नहीं मिलेगी ऐसी लड़की उन्हें—

छुट्टन की अम्मां ने दबी ज़बान में कहा—सांवली तो है—

इस पर बाबू अम्बिका सरन ने शेर होते हुए कहा—उससे क्या, नाक-नक्शा भी तो कोई चीज़ है।

इससे छुट्टन की अम्मां की दिल जमई न हुई—कौन जाने आजकल के लड़कों के दिल की बात। मान लो नट जाए देख कर, तब ?

इस पर बाबू अम्बिका सरन ने और भी वीर-भाव से कहा—मजाल है । सरे बाज़ार जूते लगवा दूंगा, सारी मस्ती हिरन हो जाएगी।

यह बात छुट्टन की अम्मां को जंच गई और फिर मियां-बीवी में मिसकोट होने लगी कि लड़की को किस तरकीब से दिखलाया जाए कि वह भी न समझे कि उसको दिखलाया जा रहा है और पास-पड़ोस वाले भी न समझें, वरना मान लो, कोई बात ऐसी-वैसी हो गई तो फिर सबकी डेढ़ हाथ की जीभ लपलपाने लगेगी ।

बाबू अम्बिका सरन ने सुझाया—कम्पनी बाग तो सभी लोग घूमने जाते हैं—आज बहुत अच्छा दिन था बाबू अम्बिका सरन, का, जो बात कहते थे, एकदम नपी-तुली।

छुट्टन की अम्मां अपनी सबसे बड़ी लड़की सुकेशी को मौका निकाल कर एक कोने में ले गई और उसको सारी बात बतलाई । सुकेशी की शादी दो बरस पहले हो चुकी थी। अब संध्या की बारी थी । योजना यह बनी थी कि अगले रोज़ शाम को सुकेशी, संध्या, तारा, किशोरी, मुन्नी, बिट्टन, सभी कम्पनी बाग जाएंगे, यही पांच और छः के बीच, लेकिन देखना बेटी, किसी को इसकी आहट भी न मिलनी चाहिए कि तुम क्यों उनको लेकर कम्पनी बाग जा रही हो । यही कहना कि चलो, आज कम्पनी बाग घूमने चला जाए । फिर तुम जा कर अपने बाबू जी से कहना, वह इजाजत दे देंगे । छुट्टन की अम्मां ने इस षड्यन्त्र की बाबत सुकेशी को अन्तिम निर्देश देते हुए हुए कहा और चौके की तरफ बढ़ने को हुई । लेकिन तभी सुकेशी ने पूछ दिया—मगर मैं कैसे पहचानूंगी उनको ?

तब अम्मां ने सुकेशी को ले जाकर चुपके से उस लड़के की फोटो दिखलाई और सुकेशी ने उसको अच्छी तरह हृदयंगम कर लिया । अम्मां चौके में चली गई और सुकेशी मन ही मन उस साजिश की जुगाली करने लगी, कैसे बात छेड़ूंगी ? फिर कैसे हम लोग कम्पनी बाग जाएंगे, फिर कैसे वहां देखा-देखी होगी ? बड़ी जिम्मेदारी का काम उसको सौंपा गया था, उसका चेहरा उत्साह से दिप रहा था और जी धड़क रहा था सो अलग, बिलकुल रसीली कहानियों जैसा मज़ा आ रहा था । उसकी अपनी शादी में यह सब कुछ भी नहीं हुआ था और अब उसे लग रहा था, कि वह एक दिव्य अनुभूति से वंचित रह गई । बाबू कितने बुरे हैं। तो भी कुछ तो मज़ा था ही इसमें भी, समा नहीं पा रही थी उसके भीतर वह चीज़ । बड़ी कठिन परीक्षा थी । उसका ही दिल जानता है, कैसे यह बात वह जुबान पर नहीं लाई । और अगर इतने पर भी उन उम्र और अक्ल से सयानी लड़कियों ने बात को भांप लिया, तो इसमें सुकेशी का कोई दोष नहीं था। और जब अगले दिन बाबू जी ने बिना कुछ पूछे-जांचे झट से इजाज़त दे दी तब तो और भी पक्की सील-मुहर लग गई। सबसे चंचल किशोरी ने तो कह ही दिया—आज तो बाबू ने बड़ी जल्दी से हुंकारी भर दी, वैसे तो कभी घर के बाहर पैर भी नहीं रखने देते।

लेकिन पर्दे की रक्षा दोनों तरफ से की गई (यह बात और है कि सुकेशी ने खुद अपने हाथों से संध्या को सजाया-बजाया, साड़ी और ब्लाउज काफी चुन कर निकाला गया, हल्का-सा पाउडर भी संध्या के चेहरे पर फेर दिया गया (जिस सबकी ज़रूरत यों ही कम्पनी बाग जाने के लिए शायद न होनी चाहिए थी) मगर खैर तब भी पर्दे की रक्षा दोनों तरफ से हुई, न सुकेशी या अम्मां ने लड़कियों को बतलाया कि वह लोग आज क्यों कम्पनी बाग जा रहे हैं, और न लड़कियों ने ही इसका कोई आभास दिया कि उन्हें सब पता है। और जब पांच बजे के करीब, नौ साल की बिट्टन से लेकर चौबीस साल की सुकेशी तक

घर की छहों लड़कियां एक तांगे में लद कर कम्पनी बाग घूमने के लिए चलीं, तो सब इस नाटक में अपना अपना पार्ट अदा कर रहे थे।

कम्पनी बाग का क्या कहना, पूरा चमन था। मखमली दूब की कालीन बिछी हुई थी। रंग-बिरंगे फूलों की बहार थी। ठण्डी-ठण्डी हवा चल रही थी। मुन्नी और बिट्टन ने तांगे से उतरते ही धूम मचाना शुरू किया। बाकी चारों बहनें उचित शील-संकोच के साथ घूमने लगीं। सुकेशी ने अपनी समझ में सबकी नज़र बचा कर चारों तरफ एक निगाह डाली और ज़ोर से सांस लेते हुए कहा—कैसी अच्छी हवा है।

संध्या चाह कर भी कुछ न बोल सकी।

किशोरी ने कहा—घर में तो मेरा दम घुटता है। हम लोग रोज़ क्यों नहीं आते घूमने ?

सुकेशी ने कुछ नहीं कहा। सब यों ही टहलते रहे।

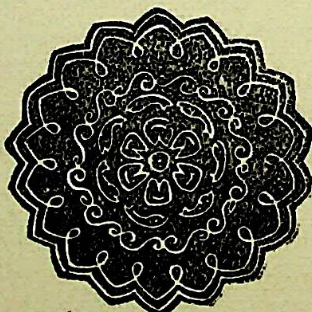
तारा बोली—दीदी, देखो कैसे अच्छे फूल हैं।

दीदी ने अनमने ढंग से जवाब दिया—हां, बड़े प्यारे फूल हैं—और फिर चौकन्नी आंखों से इधर-उधर देखा। अब तक उनका कहीं पता न था और सांझ उतरने लगी थी। पर कौन जाने इतने सारे तो लोग हैं। सुकेशी ने कहा—चलो थोड़ी देर बैठें कहीं, मेरा तो पैर दुखने लगा। और सब जाकर घास पर बैठ गईं और उखड़ी-उखड़ी सी बातें करने लगीं।

सुकेशी का जी अब इस खेल से खट्टा हुआ जा रहा था। संध्या का दिल ऐसा धड़क रहा था कि जैसे फांसी की घड़ी पास आ रही हो। मुन्नी और बिट्टन भी थक कर अब वहीं आ बैठी थीं। तीस-चालीस गज़ दूर बाजारू लड़कियों का एक गुच्छा गाहक के इंतज़ार में भड़कीले रंगों की बड़े-बड़े फूल-बेलवाली साड़ियां पहने अपने मर्दुओं के साथ बैठा चाट खा रहा था और किशोरी उनकी तरफ ललचाई आंखों से देख रही थी।

तभी सात-आठ साल का एक काला-कलूटा छोकरा बहुत ही नन्हीं-सी बिश्टी लगाए इन दोनों लोगों के पास आया और हाथ फैला कर खड़ा हो गया। सुकेशी ने अपने बटुए से एक पैसा निकाल कर उसको देते हुए कहा—इससे तो अच्छा था कि बिलकुल नंगा रहता। कम नंगा मालूम होता—और उठ खड़ी हुई—चलो, अब घर चलें, काफी घूम लिए।

—इलाहाबाद से प्रसारित



शरतचन्द्र की जीवनी : एक समस्या

विष्णु प्रभाकर

प्राचीन काल में हमारे देश में यह परिपाटी रही है, कि यहां के मनीषी और साहित्यकार अपनी रचनाओं के अतिरिक्त अपने जीवन के सम्बन्ध में कोई सामग्री नहीं छोड़ जाते रहे हैं। एक कवि के शब्दों में उनका कहना था 'जैसे खुशबू फूल की पंखुड़ियों में बसी है, वैसे ही मैं अपनी कविता की पंक्तियों में व्याप्त हूं। जो मुझसे मिलने का इच्छुक हो, मेरे काव्य में मुझे पाले।" इसी मान्यता का परिणाम है कि संस्कृत साहित्य के सभी नहीं तो, अधिकांश कवियों और नाटककारों के बारे में आज निश्चित रूप से यह भी नहीं कहा जा सकता कि वे कब और कहां हुए थे।

लेकिन आज इस मान्यता में परिवर्तन हो चुका है। अनेक प्रसिद्ध साहित्यकार, विभिन्न क्षेत्रों के महापुरुष अपना-अपना आत्म-चरित्र लिख कर, उनको समझने, और उनके सृजन की मूल प्रेरणा कहां है, इसको खोज निकालने के लिए विपुल सामग्री छोड़ गए हैं, और छोड़ते जा रहे हैं।

लेकिन नियम को समझने के लिए अपवाद तो होने ही चाहिएं। और वह अपवाद है, भारत के लोकप्रिय कथा-शिल्पी शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय। जन-जन के हृदय को मुग्ध करने वाले इस कलाकार को इस संसार से विदा लिए अभी कुल २२ वर्ष ही हुए हैं। लेकिन आज तक हम उनका कोई सर्वांगीण जीवन-चरित्र नहीं लिख पाए हैं। जो लिखे गए हैं वे या तो अधूरे हैं या परस्पर विरोधी तथ्यों से भरे पड़े हैं। उनके बारे में जितनी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, उतनी ही उनकी जीवन-कथा जटिल हुई है। उनको पढ़ने पर यही धारणा बनती है कि मनुष्य शरत की प्रकृति अत्यन्त जटिल थी। उनके जीवन-चरित्र की सामग्री खोजता हुआ मैं जिस व्यक्ति के भी पास गया, उसने मुझसे यही कहा—तुम शरत की जीवनी नहीं लिख सकते।

—देखो अपनी भूमिका में यह बात स्पष्ट लिख देना कि शरत की जीवनी लिखना बहुत कठिन है।

—वह अपने युग के सबसे बड़े गप्पी थे। अपने बारे में अपवाद फैलने देने में उन्हें बड़ा आनन्द आता था।

—वह स्वयं अपने बारे में गप्पें प्रचारित करने में योग देते थे।

उनमें कहानी कहने की अद्भुत क्षमता थी, कहना होगा जन्मजात प्रतिभा थी। उनके बाल्यकाल के साथियों ने बताया कि जब दूसरे साथी फुटबाल या दूसरे खेल खेलते तो वह हममें से किसी को पकड़ कर एक कोने में जा बैठते और कथा पर कथा सुना कर हतप्रभ कर देते। उन्हीं कथाओं को बाद में हमने उनके उपन्यासों में विशद रूप में पाया। इससे भारत का कथा साहित्य तो सम्पन्न हुआ, परन्तु उनके जीवन का रहस्य जटिल से जटिलतर होता गया।

उनके एक साथी ने तो यहां तक कहा कि वह एक ही घटना को जितनी बार सुनाते, नए-नए रूप में सुनाते। जब हम उनसे कहते कि दादा! कल तो आप इस घटना को दूसरी प्रकार बता रहे थे, तो वह क्रुद्ध हो उठते—मैं कहानी लेखक हूं। क्या मुझे इतना भी अधिकार नहीं है, कि मैं अपने कथानक को जिस प्रकार चाहूं बदल सकूं।

इस प्रकार उनके जीवन की घटनाएं उपन्यास की घटनाएं बन कर रह गई हैं। उनमें से सत्य को खोज निकालना असम्भव न भी हो, पर है अत्यन्त कठिन्। कला के लिए सत्य भले ही सम्पूर्ण आदर्श न हो, परन्तु जीवन-चरित्र लिखना इस दृष्टि से विज्ञान के अधिक पास है, जिसका आदर्श सत्य ही है। साधारणतया जीवन-चरित्र लिखना बड़ा कठिन है। जैसा कि डा० जानसन ने कहा है कि वही व्यक्ति किसी का जीवन-चरित्र लिख सकता है, जो उसके साथ एक दिल हो कर रहा हो, अर्थात उसके साथ खाता-पीता बैठता-उठता रहा हो। इस पर भी शरत जैसे व्यक्ति का जीवन-चरित्र लिखना और भी कठिन है, जो जानबूझ कर अपने बारे में अपवाद फैलने देने में रस लेता रहा हो।

यही नहीं अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में वह अपनी रचनाओं को भी प्रकाश में नहीं लाना चाहते थे। यह तो उनके मित्रों ने षड़यंत्र करके चोरी-चोरी उनकी एक रचना 'बड़ी दीदी' को छाप कर उन्हें प्रसिद्ध कर दिया और फिर तो सम्पादकों के आग्रहों से परेशान होकर उन्हें लिखना शुरू करना पड़ा। उन्होंने हिन्दी के एक प्रसिद्ध लेखक से कहा था कि उन्हें साहित्य समाज में अपरिचित और अज्ञात बने रहने में सुख का अनुभव होता है। उन लेखक बन्धु का अनुमान है कि 'कुछ रहस्यपूर्ण मनोग्रन्थियों' के कारण वह अपने जीवन काल में अपनी सम्भावित ख्याति का सामना करने से कतराते थे और लिखते केवल इसलिए चले जाते थे कि उनकी मृत्यु के बाद उनका प्रकाशन हो और तब मृत लेखक की रचनाओं के भीतर से बोलने वाली महान आत्मा समस्त लेखकों पर हावी हो जाए।

यहां इस अनुमान की परीक्षा करने का अवसर नहीं है, परन्तु इससे इतना अवश्य स्पष्ट होता है कि वह रहस्यमय थे। उन्होंने दो-दोबार विवाह किया। वे विवाह वैदिक रीति से हुए या किसी और रीति से, यह दूसरा प्रश्न है परन्तु उनकी दूसरी पत्नी आज भी जीवित हैं*। कानून की दृष्टि से वह उनकी पत्नी हैं। इस बात का एक भी प्रमाण नहीं है कि शरत अपने जीवन काल में उन्हें, पत्नी के अतिरिक्त कुछ और समझते रहे हों। इसके विपरीत उनके पत्रों से और उनके मित्रों के संस्मरणों से यह स्पष्ट है कि वे दोनों आदर्श दम्पति की तरह रहे। शरत जीवन भर उन्हें बहू या बड़ी बहू कह कर आदर करते रहे, और वह एक सच्ची हिन्दू पत्नी की तरह शरत की पूजा करती रहीं। फिर भी क्या यह अचरज की बात नहीं है, कि एक विद्वान लेखक ने उनके बारे में लिखा, 'उस व्यक्ति ने जिसने प्रतिभा पाई, ६२ वर्ष की वय पाई, स्नेह से लबालब भरी आत्मा पाई, पर पत्नी रूप में नारी को कभी नहीं पाया। नारी हृदय को जितना स्पन्दनशील और सम्पूर्ण भाव से चित्रित किया, क्या वैसा कोई गृहस्थ कर सका? नहीं कर सका।' इन्हीं मित्र ने जब शरत के एक प्रशंसक से पूछा—क्या शरत ने शादी नहीं की थी?

उत्तर मिला—एक बर्मी थी, फिर वह भी नहीं रहीं।

—नहीं रहीं, माने ?

—नहीं, नहीं, सुना उसे फिर खुद ही बर्मा भेज दिया।

एक और मित्र से पूछा—सुनता हूं उन्होंने शादी नहीं की।

मित्र सुन कर हंस दिए, व्यंग्य की हंसी, बोले—शादी बन्धन जो है।

ऐसी ही अनेक घटनाएं हैं। शरत किसी सभा का सभापतित्व करने जाते या कहीं उनका सम्मान होता, तो भक्त गण परिचय देते हुए कह देते—शरत बालब्रह्मचारी हैं। इन्होंने साहित्य सेवा के लिए शादी ही नहीं की।..................

शरत सुन कर मुसकरा देते, विरोध-प्रतिवाद कुछ न करते। कामी-कुमार्गी जिस सहज-भाव से बन जाते, उसी भाव से बालब्रह्मचारी भी बन जाते। पर वह न वैरागी ब्रह्मचारी थे, न

*खेद है कि बुधवार, ३१ अगस्त १९६० को उनका देहान्त हो गया।

कामी-कुमार्गी, वह तो साधारण मानव थे। हां, यह नियति का व्यंग्य ही है, कि जिसने मानव हृदय के रहस्य को समझा, जिसकी रचनाओं में मानव ने विशेषकर बंगाल की नारी ने अपने स्वरूप को देखा-पहचाना, उसका मानव रूप सात परदों के पीछे ही छिपा रह गया।

कह चुका हूं कि अपने बारे में अपवाद फैलने देने में उन्हें रस आता था। पर क्यों? क्यों उन्होंने अपवाद फैलाए या फैलने दिए। जब कभी कोई उनसे पिछले जीवन की बातें पूछता, तो वह क्रुद्ध हो उठते—मेरे जीवन से तुम्हें क्या लेना है? मेरे पूर्वजों में तुम्हें क्या रुचि है? मुझे जानना है, तो मेरी पुस्तकें पढ़ो।

लोग पूछते—क्या श्रीकान्त आपकी जीवनी है? क्या राजलक्ष्मी सचमुच कोई थी?

वह उत्तर देते—श्रीकान्त मैं नहीं हूं। राजलक्ष्मी मुझे कभी नहीं मिली। वह किसी को कहां मिल सकती है?

राजलक्ष्मी की चर्चा मैं यहां नहीं करूंगा, हालांकि उसकी खोज अभी तक चल रही है। मुझे तो अपनी समस्या की ही चर्चा करनी है। यह भी ठीक है कि 'श्रीकान्त' की अनेक घटनाएं ठीक हैं, पर वे कहां घटीं इसके बारे में तीव्र मतभेद है। भागलपुर निवासी, जहां वह १५-१६ वर्ष रहे, कहते हैं कि वे घटनाएं और उनसे सम्बन्धित व्यक्ति भागलपुर के हैं, जब कि देवानन्दपुर के निवासी, जहां शरत पैदा हुए और कौमार्य अवस्था के ५-६ वर्ष बिताए, कहते हैं कि वे घटनाएं यहीं घटी थीं और उनसे सम्बन्धित व्यक्ति अमुक-अमुक थे।

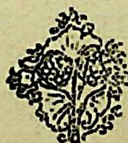
रवि ठाकुर ने एक बार शरत से पूछा—शरत! तुमने अपनी आत्म-कथा क्यों नहीं लिखी?

शरत ने उत्तर दिया—गुरुदेव! यदि मुझे मालूम होता कि मैं एक दिन इतना प्रसिद्ध हो जाऊंगा, तो मैं कुछ और तरह का जीवन जीता।

क्या यह उत्तर एक व्यंग्य है, अथवा खरा सत्य। कुछ भी हो यह इस बात की ओर इंगित अवश्य करता है कि उन्हें जिस प्रकार का जीवन बिताना पड़ा था उससे वह सन्तुष्ट न थे। इस बात की उन्होंने कई बार चर्चा की है। वह निचली गहराइयों में से होकर ऊपर उठे थे। प्रारम्भिक जीवन में जिस अभाव, अपमान और उपेक्षा में से उन्हें गुजरना पड़ा, उससे उनके साहित्यकार को तो अपूर्व बल प्राप्त हुआ, पर उनका अपना जीवन टूट गया। कई बार वह साधु बने, अज्ञातवास में तथाकथित निम्न श्रेणी के लोगों के साथ रहे, नाना प्रकार के नशे किए, नाना प्रकार की दुनिया देखी······इन सब बातों का स्मरण करके शायद जीवन के अन्तिम चरण में जब वह खूब समृद्ध हो गए तो वह उदासीन हो उठते और शायद इसी बात को लक्ष्य में रख कर उन्होंने गुरुदेव को वैसा उत्तर दिया हो।

कुछ भी हो, उनके जीवनीकार के लिए उनके जीवन की घटनाएं एक समस्या है। कहूंगा एक चुनौती है पर चुनौती तो सदा बल देती है। यही बल उनको खोज निकालने में मार्ग दर्शक बनेगा।

— दिल्ली से प्रसारित



/

झांसी के किले की आत्मकथा

वृन्दावनलाल वर्मा

जिस पहाड़ी पर मैं खड़ा हूं, उसका नाम बंगरा है। बुन्देलखण्डी में बंगरा जंगल—पहाड़ों को कहते हैं। इस नाम के कई गांव झांसी जिले में ही हैं, जो पहाड़ों और जंगलों के आस-पास बनाए गए हैं। इस बंगरा पहाड़ी के नीचे इधर-उधर झांसी नगर बसा हुआ है, परन्तु जिन दिनों मैं बंगरा पहाड़ी पर बना कर खड़ा किया गया, उन दिनों झांसी नगर नहीं था, उसका नाम तक न था। इस पहाड़ी के एक छोर पर छोटी सी बस्ती थी, जिसे बलवन्त नगर कहते थे. . . .नाम बड़ा दर्शन छोटे। न तो वह नगर था और न उसमें कोई बड़ा बल था। थोड़े से किसान चरवाहे रहते थे, बस। आजकल झांसी नगर का जो एक मुहल्ला गोपालनीखरा कहलाता है, उसमें जंगल ही जंगल था, जिसमें कभी शेर रहते थे।

यह बंगरा पहाड़ी इस क्षेत्र में अकेली-दुकेली नहीं थी। पश्चिम में जार की पहाड़ी, पश्चिम-दक्खिन में ताहर की पहाड़ी, पूर्व के कामासिक होरिया और सात-आठ मील की दूरी पर प्रचंड वेगवाली चौड़ी बेतवा के आस-पास जंगल और पहाड़। बेतवा के पास वाले इसी जंगल को महाभारत में तुंगारण्य कहा है, जिसे बुन्देलखंड में तुंगारेन कहते हैं। मैं यह सब इसलिए कह रहा हूं, कि मेरे लिए बंगरा पहाड़ी को समझ-बूझ कर चुना गया था। तुंगारण्य के बिलकुल निकट ओर्छा था, और है। बाहर से आक्रमण करने वालों से ओर्छे की रक्षा के निमित्त मुझे बंगरा पहाड़ी पर ओर्छा के राजा वीरसिंह देव ने बनवाया था, वही वीरसिंह देव जो अकबर बादशाह के पुत्र जहांगीर के परम मित्र थे, और जिन्होंने अकबर के प्रसिद्ध दरबारी अबुलफ़ज़ल को मारा था।

अबुलफ़ज़ल को मारने से राजा वीरसिंह देव को काफ़ी हीरे-जवाहर और सोने-चांदी के सिक्के मिले थे। उन्होंने इस धन का उपयोग बहुत से किले, महल बनवाने और झीलें तथा ताल बंधवाने में किया था। मेरे बनवाने में भी काफ़ी खर्च हुआ था। लगभग १६०५ से बनवाने का कार्य आरम्भ हुआ और १६१० में काम की समाप्ति हुई।

मैं बंगरा पहाड़ी पर तैयार होकर खड़ा हो चुका था। एक संध्या के समय जैतपुर के राजा और ओर्छा के महाराजा वीरसिंह देव ओर्छा के महल की ऊपरी छत पर बैठे बातें कर रहे थे। जैतपुर के राजा की उत्तर-पश्चिम के कोने की ओर दृष्टि गई। अस्ताचलगामी सूर्य की बिखरी फैली सुनहरी किरणों से सारा क्षेत्र दमक रहा था कि जैतपुर के राजा ने मेरी ओर उंगली उठा कर राजा वीरसिंह से प्रश्न किया—महाराज, यह झांई-सी क्या दिख रही है?

वीरसिंह देव ने उत्तर दिया—बंगरा पहाड़ी पर मैंने किला बनवाया है। हाल ही में तैयार हुआ है। उस पहाड़ी के किनारे बलवन्तनगर नाम का एक छोटा-सा गांव है, परन्तु आज से उसका आपका दिया हुआ नाम झांई पुकारा जाएगा। सचमुच दृश्य झांई-सा लग रहा है। नाम ठीक रहा न?

जैतपुर के राजा हर्ष-मग्न हो गए, क्योंकि उनके मुख से यों ही निकला हुआ यह शब्द बलवन्त-

नगर का दूसरा नाम बन गया। बलवन्तनगर नाम तो भुला दिया गया और झांई कहते-कहते नाम झांसी पड़ गया।

यह बात नहीं, कि बंगरा पहाड़ी पर सिवा उस छोटे से गांव बलवन्त नगर के और कुछ था ही नहीं। एक हज़ार वर्ष के लगभग हो गया तब बंगरा पहाड़ी पर देवी का एक बहुत बड़ा मन्दिर और एक छोटा सा भैरव का मन्दिर था। देवी का मन्दिर मेरे बनाए जाने से बहुत पहले टूट गया था। खंडहर के एक ढेर के नीचे देवी की मूर्ति दब गई थी। जब मुझे राजा वीरसिंह ने तैयार करने को ठानी, तब उस खंडहर की खुदाई कराई गई। खुदाई में देवी की मूर्ति निकली। मन्दिर के बड़े-बड़े खम्भों का उपयोग राजा वीरसिंह देव ने मेरे एक बड़े द्वार के निर्माण में किया। यह द्वार तोरण-बंदनवार नमूने का है। इस प्रकार के द्वार बनाने का चलन जहांगीर के राज्य काल तक रहा, फिर शाहजहां के युग से अधिकांश इमारतों के द्वार कमानीदार बनाए गए।

जहां मेरा यह द्वार बनाया गया है, किले के उस भाग को शंकरगढ़ कहते हैं। यह मेरे पश्चिमी अंग पर नीचे की ओर है। उस मन्दिर के खंडहर के अधिकांश पत्थर शंकरगढ़ बनाने के काम में लाए गए हैं, और कुछ मेरे अन्य भागों में भी इधर-उधर लगा दिए गए हैं। झांसी नगर की ओर दक्षिण से आने के मार्ग पर शंकरगढ़ भी अच्छी तरह दिखलाई पड़ता है, किसी अन्य दिशा से नहीं दिखलाई पड़ता।

वीरसिंह देव के उपरान्त १६४० तक मेरे ऊपर ओर्छा का अधिकार रहा। फिर शाहजहां ने ओर्छा को दबाने के लिए आक्रमण किया और मुझे मुग़लों का अधिपत्य झेलना पड़ा। फिर औरंगज़ेब बादशाह का समय आया। वीर चम्पतराय और वीर छत्रसाल उससे लड़ते रहे। औरंगज़ेब के देहान्त के बाद छत्रसाल उसके उत्तराधिकारियों से लड़ते रहे। अन्त में वह पूना के बाजीराव पेशवा की सहायता से दिल्ली के बादशाह के मुकाबले में सफल हुए। छत्रसाल बाजीराव को पुत्रवत मानते थे। उन्होंने अपने राज्य के तीन भाग किए। दो भाग अपने दो कुमारों को दिए और एक बाजीराव पेशवा को। मराठे बाजीराव के भाग के अन्तर्गत झांसी को मानते थे। ओर्छा के राजा और मराठों में युद्ध हुआ। १७४२ में मराठा सरदार नारू शंकर ने झांसी को अपने अधिकार में ले लिया। तब से १७५६ तक कभी मराठों और कभी गुसाइयों का अधिपत्य झांसी पर रहा। पानीपत की १७६१ वाली लड़ाई में नारू शंकर मारा गया और गुसाईं प्रबल हो गए। फिर १७६६ में रघुनाथ हरि नेवालकर के हाथ में झांसी आ गई। झांसी के चारों ओर जो दीवार बनाई गई, उसका कुछ अंश नारू शंकर ने बनाया था और शेष इन्हीं रघुनाथ हरि नेवालकर ने। यही रघुनाथ हरि महारानी लक्ष्मी बाई के पति गंगाधर राव के पिता थे। इन्हें भाऊसाहब भी कहते थे।

भाऊसाहब रघुनाथ हरि के तीन लड़के थे। सबसे बड़े कृष्णराव, मझले रघुनाथराव और सबसे छोटे गंगाधर राव। मेरे भीतर, सबसे ऊंचे स्थान पर भाऊसाहब ने महल बनवाया था, जिसमें राजा गंगाधर राव का निवास था और जिसमें लक्ष्मीबाई १८४८ से, जब उनका विवाह झांसी के गणेश मन्दिर में हुआ, रहने लगी थीं।

सन १८५३ में राजा गंगाधर राव का देहान्त हुआ। देहान्त के पहले उन्होंने दामोदर राव नाम के अपने एक कुटुम्बी बालक को गोद लिया था। परन्तु अंग्रेज़ सरकार ने इस गोद को स्वीकार नहीं किया और झांसी का राज्य अपने अधिकार में कर लिया। लक्ष्मीबाई को अपना वह स्थान छोड़ कर नगर स्थित हवेली में जाकर रहना पड़ा। मेरी छाती पर ईस्ट इंडिया कम्पनी के गोरे सिपाही आ कर रहने लगे। उस महल के ऊपरी भाग पर एक बड़ा मन्दिर भी था, जिसका

सुन्दर चित्र एक विदेशी यात्री ने इससे कई वर्ष पूर्व बनाया था और जो अब दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में है। विदेशियों का गाना-नाचना, हुड़क-फुड़क और खेलकूद होने लगे। राजा गंगाधर राव के समय में जो भारतीय संगीत मेरी बुर्जों में गूंजा करता था और मेरी दीवारों के तेलिया पत्थरों तक को मुग्ध कर देता था, वह चला गया। मैं उदास रहने लगा। परन्तु उस उदासी के कुहासे में होकर आशा की किरणें भी फूट पड़ती थीं. . रानी लक्ष्मीबाई के नगर स्थित महल में स्वतन्त्रता संग्राम छेड़ देने की सलाह करने के लिए कभी-कभी बिठूर से नाना धोंडूपन्त और तात्या टोपे आया करते थे और उनकी बातें मेरे कान में पड़ती थीं। अन्त में १८५७ को चौथी जून के दिन झांसी की अंग्रेज़ छावनी के सिपाहियों ने विद्रोह कर दिया। अंग्रेज़ अफ़सर और गोरे सिपाही मेरे भीतर आ गए और तीन-चार दिन लड़ते रहे। रानी लक्ष्मीबाई के महल से मेरे भीतर के लिए एक सुरंग थी। भूखों मरने वाले अंग्रेज़ों को लक्ष्मीबाई ने इसी सुरंग के मार्ग से रोटियां भेजीं, क्योंकि वह अप्रतिम वीर होने के साथ ही बहुत दयावान भी थीं।

अन्त में अंग्रेज़ों ने विद्रोही सिपाहियों के हाथों आत्म-समर्पण किया। उन सिपाहियों का सरदार काले खां रिसलदार था। उन सबने आत्म-समर्पण करने वाले अंग्रेज़ों का वध कर डाला। फिर वे सब रानी लक्ष्मीबाई के महल के सामने शेखी मारते पहुंचे। लक्ष्मीबाई ने उन्हें डांटा-फटकारा और अपना बहुमूल्य हार दे कर झांसी से हटाया। वे दिल्ली चले गए। लक्ष्मीबाई ने झांसी की जनता के सहयोग से झांसी के शासन की बागडोर अपने हाथ में ली और वह मेरे भीतर फिर आकर रहने लगीं। उन्होंने प्रजा का पालन किया। वह बहुत जनप्रिय थीं, परन्तु पड़ोसी राज्य टीकमगढ़ के दीवान नत्थे खां को सहन नहीं हुआ। उसने १८५७ को चौथी सितम्बर के दिन झांसी पर आक्रमण किया। रानी ने अपनी सेना का संचालन ऐसी चतुरता के साथ किया और मेरी बर्जों पर से ऐसे गोले छुटवाए कि नत्थे खां हार कर भाग गया। रानी लक्ष्मीबाई ने स्त्रियों की भी एक सेना तैयार की थी। स्त्रियों ने तोपें चलाना भी सीखा था। प्रधान तोपची गुलाम ग़ौस खां और लाला भाऊ बख्शी थे। इन्होंने मोतीबाई, राधारानी, सुन्दर, मुन्दर, झलबाई कोरिन इत्यादि को भी तोप-बंदूक चलाने में दक्ष कर दिया था। अंग्रेज़ों ने अपने बहुत कुशल सेनापति सर ह्यू रोज़ को लक्ष्मीबाई के दमन के लिए भेजा। वह १८५८ के २० मार्च के दिन झांसी पर आ गया था। लगभग १५ दिन तक घोर युद्ध हुआ। अंग्रेज़ों के गोलों की मार से मेरे कंगूरे टूटे, बुर्जें ध्वस्त हुई और मेरी दीवारें घायल हुईं। नर-नारियों ने तुरन्त मरम्मत की . . . . मेरी मरहम पट्टी हुई. . . . मुझे उन चोटों का बड़ा घमंड है। केवल एक बात का दुख है. . . . मेरी ऊंचाई पर वह मन्दिर टूट गया और महल का ऊपरी भाग ध्वस्त हो गया। उस लड़ाई में, गोलन्दाज़ों का जौहर, गुलामग़ौस खां मारा गया। राधारानी गई और मोती बाई भी। साथ ही खुदाबख्श भी। रानी ने उसी समय गुलामग़ौस, खुदाबख्श और मोतीबाई की कबर बनवा दी, जो महल के पास अब भी है। जब रानी ने देखा कि युद्ध और अधिक समय तक नहीं चलाया जा सकता तब उन्होंने चौथी अप्रैल की रात मुझे छोड़ दिया और भांडेरी द्वार से कालपी की ओर चली गईं। झलबाई कोरिन ने छद्मवेश धारण करके रानी लक्ष्मीबाई का पीछा करने वालों को धोके में डालने का प्रयत्न किया। झलबाई पकड़ी गई। जनरल रोज़ ने उसे कुछ दिन क़ैद में रख कर छोड़ दिया।

फिर मेरी छाती पर होला भूनने विदेशी सेना के सिपाही आकर रहने लगे। महल के ऊपरी टूटे खंड की जगह बारकें बनीं और मैं दुखी रहने लगा। दूसरे महायुद्ध के समय में मेरी

एक बुर्ज अपने आप टूट कर गिर गई। परन्तु १९४७ के पन्द्रह अगस्त के दिन स्वतन्त्रता प्राप्त होने पर मैं अपना कष्ट भूल गया। १३ अक्तूबर, सन १९५२ के दिन भारतीय सेना के तत्कालीन प्रधान सेनापति जनरल करिअप्पा झांसी आए और झांसी निवासियों ने मेरी ओर से उनसे प्रार्थना की, कि मेरी वह टूटी बुर्ज सुधरवा दी जाए। उन्होंने वचन दिया और उसी वर्ष के नवम्बर के अन्त पर वह बुर्ज बिलकुल सुधरी अवस्था में कर दी गई। मेरा सिर फिर ऊंचा हो गया है। अब जनता मेरे भीतर आ कर रानी लक्ष्मी बाई के उन स्थानों को सहज ही देख सकती है, जिन्हें अंग्रेज़ों के ज़माने में देखना बहुत दुर्लभ था।

—लखनऊ से प्रसारित

जीने के लिए कुछ शर्तें

केदारनाथ सिंह

ज़रूरी है
हम जहां हों,
वहां से दिखता रहे वह
झिलमिलाता क्षितिज
जो केवल हमारा है।
हम बढ़ाएं हाथ—
तो छूलें सुनहली लकीरों को,
झुकें तो गहराइयां—
सब मिटें, बिखरें, भूलते से
बिंब लौटा दें।
और यदि पूछें कभी तो—
सिर झुकाए सामने बैठे हुए
आकाश से,
या बगल के चुपचाप हिलते—
किवाड़ों की रोशनी से—
एक उत्तर फूट कर हमको
चकित कर जाए।
ज़रूरी है।
ज़रूरी है।
हम लगे हों काम में,
पर अंतरालों से—
कभी कोई कबूतर निकल जाए,
कभी कनखी से अचानक—
सीढ़ियों के पास रुक कर
खिलखिलाती धूप की—
कुछ लहरियां दिख जाएं।
ज़रूरी है।
ज़रूरी है।
दिशाओं में कहीं हो अनुगूंज
जो सच्चाइयों को एक लय दे।
कहीं हों परछाइयां—
जिनसे हवा में—
दूरियों के परस्पर कटते असंख्यों
कोण बनते रहें।
कहीं हो संभावना
जो हर थकन के बाद हमको—
बोलने के लिए बातें,
तोड़ने के लिए तिनके,
बैठने के लिए थोड़ी-सी जगह दे जाए।
ज़रूरी है।

—इलाहाबाद से प्रसारित

पंजाब के लोकगीतों में राष्ट्र-भावना

शाकिर पुरुषार्थी

लोकगीतों में वर्णित, पंजाब के लोक जीवन के विविध विषयों के अन्तर्गत, राष्ट्र-भावना के द्योतक लोक गीतों का अध्ययन करते समय हमें, इनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का मूल्यांकन करना होगा। पंजाब के मूल निवासियों को पूर्व ऐतिहासिक काल से ही नित्य नूतन आक्रान्ताओं से लोहा लेना पड़ा है। खैबर-बोलान के पर्वतीय दर्रों के उस पार से जो भी जातियां भारत की उर्वरा भूमि की ओर आकृष्ट होती रही हैं, उनका पहला पड़ाव सदैव ही पांच दरियाओं की यह भूमि ही बनती रही है। आर्य, मंगोल, शक एवं ग्रीक आक्रान्ताओं के अतिरिक्त, तुर्किस्तान और ईरान से आने वाली खानाबदोश जातियां भी बार-बार पंजाब को अपनी लालसा का केन्द्र बनाती रहीं। आठवीं शती के समारम्भ में जब कि उत्तरी भारत के राज्य आपस में लड़ रहे थे, मुसलमानों ने पंजाब पर आक्रमण करना आरम्भ किया और ११८६-८७ ई० तक पंजाब, महमूद के वंशजों के आधिपत्य में रहा। नित्य नए विदेशी आक्रमणों से टक्कर लेते-लेते पंजाब के निवासियों की स्वदेश और आत्म-सम्मान की रक्षा के हेतु राष्ट्रीय-भावना प्रबलतम होती गई। पंजाब के लोक साहित्य में, विशेषतः लोकगीतों में जिसकी झलक प्रचुर मात्रा में परिलक्षित होती है।

धर्म की रक्षा और स्वतन्त्रता के हेतु सतर्क रहने के लिए, अपने आर्य-ग्रन्थों का यह मन्त्र 'भस्मसात् कुरु—'सोलहवीं शती के प्रथम चरण में बाबर के भारत आक्रमण के समय पुनः मुखरित हो उठा। मुगल आक्रान्ता द्वारा दलित प्रताड़ित जनता की दयनीय दशा पर समकालीन सन्त कवि गुरु नानक देव ने 'खून के सोहिले' गाए हैं। प्राकृतों में रचित वीर काव्यों की राष्ट्र प्रेम भावनाओं के उत्तराधिकार और युग की मांग के फलस्वरूप गुरु नानक की वाणी को ही हम पंजाब के लोकगीतों में प्रस्फुटित राष्ट्र भावना का आदि स्रोत कह सकते हैं। विदेशी आक्रान्ता द्वारा किए गए रक्तपात पर नानक की वाणी में 'पाप की जंज लै काबलों धाया' जैसी उक्तियों का जो प्रतिरोध स्वर गुंजरित हुआ है, आगे चल कर विधर्मी विजेताओं एवं शासकों के हिन्दू धर्म प्रहार और शोषण उत्पीड़न के विरोध में शासितों के आत्म-गौरव का प्रतीक बन 'सूरा सो पहचानिए, जो लड़े दीन के हेतु' जैसी पंक्तियों में और तीव्र हो उठा है। इस बीच की राजनीतिक उथल-पुथल और यवन-अत्याचारों आदि का चित्रण तत्कालीन लोकगीतों और सन्त कवियों की रचनाओं में पूर्ण रूपेण हुआ मिलता है। सन्तों और सूफियों की वाणी तो किन्हीं प्रयत्नों से, लिखित साहित्य के रूप में होने के कारण, सुरक्षित रह सकी, किन्तु मौखिक साहित्य और केवल लोक मस्तिष्क में सुरक्षित रह सकने वाले लोकगीतों का संरक्षण पूरी तरह सम्भव नहीं हो सका। यही कारण है, कि राष्ट्रभावना के परिचायक लोकगीत बहुत थोड़ी संख्या में हम तक पहुंचे हैं। अब तक प्राप्त लोकगीतों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ये गीत प्रायः नारी के

कोमल स्वच्छ हृदय के उद्गार हैं, जिनमें देश एवं धर्म की रक्षा के हेतु समरस्थल में गए पति के प्रति सद्भावनाएं हैं, शुभाशीष हैं, आत्म-गौरव की हुंकार और विजय का वरदान है। देश पर बलिदान होने वाले वीर-सेनानियों के लिए ये गीत केवल प्रोत्साहन मात्र ही नहीं, प्रत्युत इतिहास का, विशेषतया लोक-इतिहास का टूटता-बिखरता क्रम भी इनमें दृष्टिगोचर होता है।

जम्मू की लड़ाइयों का वर्णन, काबुल की मुहिमों का चित्रण, और सिखों की दिल्ली विजय पर वीर-सेनानियों का अभिनन्दन करते, लोक गीतकारों के चिर गुंजरित स्वर आज भी हमारी साहित्यिक एवं सांस्कृतिक थाती के रूप में लोक कण्ठ में सुरक्षित हैं।

अठारहवीं शती के प्रथम चरण में रणजीत सिंह ने अधोगति को प्राप्त पंजाब को एक सूत्र में पिरो कर लोकराज की स्थापना अवश्य की, चिर दलित जनता को थोड़े समय के लिए शांति का अनुभव हुआ अवश्य, किन्तु यह शांति 'बादलों की छांह' की भांति चिर स्थायी नहीं रह पाई। महाराजा के अवसान के बाद सिखों की दूसरी लड़ाई के पश्चात पंजाब पुनः परतंत्र हो फिरंगी के पाश में जकड़ा गया।

पंजाब पर अंग्रेज़ी आधिपत्य की स्थापना के बाद पंजाब के स्वतंत्रता-आन्दोलन और साथ ही पंजाबी कविता का नवीन युग प्रारम्भ होता है। इस काल के लोकगीतों को हम धर्म-निर्पेक्ष राष्ट्रवादी विचारधारा का समवेत स्वर कह सकते हैं।

समस्त भारत में देश-भक्ति आन्दोलन, सुव्यवस्थित रूप से शुरू होने के पूर्व पंजाब की स्थानीय सुधारवादी धार्मिक लहरों ने इसके लिए भूमि तैयार की थी। अंग्रेज़ों ने उभरते हुए इस आन्दोलन को पूरी शान्ति से कुचलने का यत्न किया। जलियांवाला बाग के हत्याकाण्ड ने स्वाधीनता की लड़ाई को और भी उग्र रूप दिया। अंग्रेज़ों के इन निरन्तर अत्याचारों का चित्रण पंजाब के लोक गीतों में पूरी तरह हुआ है। इस काल के प्राप्त लोक गीतों की सबसे बड़ी विशेषता यह है, कि उनमें उत्तिष्ठित जाग्रति का स्वर ही गुंजरित नहीं हुआ, प्रत्युत देश-व्यापी स्वातंत्र्य-आन्दोलन एवं स्थानीय राजनीतिक परिस्थितियों का इतिहास सम्मत चित्रण भी प्रचुर मात्रा में हुआ है।

अकाली लहर के समय पंजाब के जियाले-सूरमों को उत्साहित करते हुए लोकगीत, कभी उन्हें 'जैत्तो' के मोर्चे पर जाकर शहीद होने की प्रेरणा देते हुए गूंजते हैं, तो कहीं, भक्तसिंह के बलिदान पर साश्रु स्वर में, विदेशी निरंकुशता को चुनौती देते हुए। किन्हीं गीतों में अंग्रेज़ी शासन के अन्यायपूर्ण कुकृत्यों पर तीक्ष्ण व्यंग्य सुनाई देता है, तो साथ ही रिश्वतखोरी और दमन के विरोध में शोषितों की हुंकार भी इन गीतों में मुखरित हुई है।

पंजाब के लोकगीतों में राष्ट्र-भावना का अगला पड़ाव है, गांधीयुगीन लोकसाहित्य। पंजाबी लोकगीतों की नवीन चेतना के इस युग में, एक नया किन्तु सबसे प्रखर स्वर गूंजता गांधी जी की अहिंसा का, एकता का और स्वदेशी प्रचार का। सच तो यह है, कि गांधी जी के प्रबुद्ध-चिंतन और शालीन विचारों ने पंजाब के लोक साहित्य पर गहरी छाप छोड़ी है। गांधी जी से पूर्व अज्ञान की आंधी ने हमें आच्छन्न कर रखा था। कहीं भी प्रकाश की संधि नहीं थी। गांधी जी के आगमन से ब्रिटिश-शासन की लौहमुष्टिका में जकड़े हुए मुगलों के लिए ज्ञान का राज-मार्ग आलोकित हो उठा। देशवासियों को नई प्रेरणा मिली, कवि को नई दिशा मिली। विदेशी माल का बहिष्कार, सत्य-अहिंसा का पालन, और भारतीय वेशभूषा के प्रति अनुराग के भाव गांधी जी ने जन-जीवन में जागृत किए, और बापू ही के वरदान से पंजाब के निरंजनों में चर्खे

की सोई हुई घूकरें पुनः सुनाई देने लगीं। राष्ट्रीय चेतना के जनक बापू के इस मिशन को कोटि-कोटि जनता को हृदयंगम कराने का बीड़ा लोक कवि ने उठाया। लोक कण्ठ से गाई जाने वाली 'बोलियों' में चर्खे की लोकप्रियता एवं परम आवश्यकता और स्वदेशी खद्दर की प्रेरणा के साथ विदेशी माल पर भी तीखे व्यंग्य के भाव प्रचुर मात्रा में व्यक्त हुए हैं। यही नहीं, लोकगीतों में वर्णित चर्खे का स्वरूप तो, शस्त्रसन्नद्ध फिरंगी के लिए तोप से भी अधिक भयावह रूप धारण कर गया। गांधी जी की अविचल सत्य-निष्ठा और जनोपकार के प्रति कृतज्ञता के भाव व्यक्त करता हुआ, पंजाब का लोकगीतकार, जहां एक ओर उनके नाम पर 'सातों स्वर्ग' न्योछावर किए दे रहा है, वहीं साथ ही अगस्त क्रान्ति के दिनों में बापू के स्वर में स्वर मिला कर लोकगीतों में 'छड्डु जावो हिंद गोरियो' का उद्‌घोष भी प्रतिध्वनित होता सुनाई देता है।

अंग्रेज भारत छोड़ चला गया और स्वतंत्रता के नए सूर्य की स्वर्णिम आभा से हिमालय के शुभ्र शिखर जगमगा उठे, किन्तु पंजाब में साम्प्रदायिकता की भयंकर आंधी ने सारे हर्ष-उल्लास को निगल लिया। इस काल के लोकगीतों में राष्ट्र-भावना का स्वर नारी के आंसुओं से भीगा हुआ सुनाई पड़ता है। भाषा की सरलता और भावनाओं की हृदयग्राही अभिव्यंजना से परिपूर्ण ये गीत अपनी पीड़ा से संवेदन-हीन पाठक को भी हिला देते हैं।

गांधी जी के बलिदान पर ज़ख्मी पंजाब के घाव पुनः हरे हो आए। लोकगीतों में अर्पित श्रद्धांजलियों में, पंजाब के दोआबे में प्रचलित एक गीत है 'गांधी मर गया, असां मर जाना!' लोक कवि ने इस गीत में केवल आंसू ही नहीं बहाए, प्रत्युत अपने और समाज के प्रति सजग कवि ने अपने उत्तरदायित्व का भी भली भांति निर्वाह किया है। मनुष्य की भौतिकता प्रिय प्रकृतियां प्रबुद्ध गांधी के चिंतन को सीमित न कर दें, अतः वह चेष्टाशील है, और समय रहते सतर्क कर देने की उसकी भावना में विकलता है, तो उस विकलता में बल भी है। गीत के अन्त में शांति का आह्वान करती हुई 'लोको! एस तबाही नू हुन रोको' यह पंक्ति पाठक और श्रोता के हृदय पर अपना स्पष्ट प्रभाव छोड़े बिना नहीं रहती।

आज लोक-जीवन के आडम्बर विहीन, निष्कपट स्वतंत्र वातावरण में राष्ट्र भावना और अहिंसा का जो पुनीत मुक्ति मंत्र, लोकगीतों के रूप में बार-बार मुखरित होता है, प्रेरणा की इस प्रांजल धार से आचमन कर लोकमानस युगों तक उन्हें दोहराता रहेगा। ये गीत हमारे लोक साहित्य की नवीन रचनात्मक परम्परा के द्योतक हैं।

—जालन्धर से प्रसारित



'कुरुक्षेत्र' में कथा तत्व

महेन्द्र चतुर्वेदी

'कुरुक्षेत्र' हिन्दी के यशस्वी कवि 'दिनकर' की अन्यतम रचना है। कवि ने स्वयं इसे प्रबन्ध कविता कहा है और सात सर्गों में फैली हुई इस रचना को पारिभाषिक दृष्टि से 'पौराणिक प्रबन्ध काव्य' कहा भी जा सकता है। किन्तु सामान्यत: विवेचन करें तो उसमें न पौराणिकता ही है और न प्रबन्धत्व।

महाभारत को दुहराना कवि का उद्देश्य नहीं। कुरुक्षेत्र दूसरे महायुद्ध की परिस्थितियों से प्रेरित रचना है। क्या युद्ध अनिवार्य है? युद्ध क्यों होते हैं और उनका दायित्व किस पर है? उस पर जो अन्यायी—आततायी है या उस पर जो उसके प्रतिकार के निमित्त युद्ध के लिए विवश हो जाता है? उस व्यक्ति पर जो समाज के हित-अहित का निर्णय करने की स्थिति में होता है या सारे समाज पर? अन्यायपूर्ण शान्ति क्या श्रेयस्कर हो सकती है? वैयक्तिक आदर्शों का पालन क्या सारे समाज के लिए सम्भव और स्पृहणीय है? ये ही प्रश्न हैं जो दिनकर जी ने इस लम्बी चिन्तन-प्रधान कविता में उठाए हैं और युधिष्ठिर तथा भीष्म महाभारत के इन दो पात्रों के माध्यम से दोनों पक्षों का प्रतिपादन किया है। कुरुक्षेत्र के विषय में कवि की अपनी उक्ति है कि उसमें उसका शंकाकुल हृदय मस्तिष्क के स्तर पर चढ़ कर बोला है, यानी दूसरे शब्दों में कवि ने अपनी भावनाओं को विचार के माध्यम से प्रकट करने का प्रयास किया है।

चिन्तन प्रधान कविता होने के नाते कुरुक्षेत्र में कथा तत्व बहुत क्षीण है। उसमें प्रबन्ध की एकता दिनकर जी के ही शब्दों में 'विचारों को लेकर है।'

'कुरुक्षत्र' की कहानी सुनने से पहले उसकी रचना के पीछे जो कहानी है उसे जान लेना आवश्यक है। यह कहानी कवि के व्यक्तिगत जीवन की कहानी नहीं, समूचे राष्ट्र की कहानी है। कुरुक्षेत्र की रचना जिस समय शुरू हुई, उस समय राष्ट्र का मन एक दुविधा में था। एक बड़ा महत्वपूर्ण सवाल सामने था भारत युद्ध में शामिल हो या नहीं, और हो तो किन शर्तों पर। एक ओर गांधी जी थे चट्टान की तरह दृढ़, अहिंसा के एकान्त उपासक, साध्य और साधनों की एकरूपता के अटल विश्वासी। गांधी जी किसी भी तरह इस बात के लिए तैयार न थे कि भारतीय जनता लड़ाई में शामिल हो। इसी समय राष्ट्र का युवावर्ग आतंककारी कार्यों में संलग्न था। उसके भी मन में एक लगन थी देश को आज़ाद कराने की—जैसे भी हो सके वैसे। कांग्रेस के नेता भी सब गांधी जी से सहमत न थे। उनके विचारों में मतभेद था—गांधी जी अहिंसा को सिद्धान्त मानते थे, अन्य अनेक नेता उसे केवल नीति के रूप में स्वीकार करते थे। इन नेताओं ने शर्त रखी कि अगर अंग्रेज भारत को आज़ादी का वचन दें तो हम लड़ाई में भाग लेने की बात पर विचार कर सकते हैं।

यह दुविधा कांग्रेस के नेताओं की न थी, सारे देश की थी। अंग्रेजों के दमनचक्र से राष्ट्र विकल था। एक जोश था सारे वातावरण में। जलियांवाला और भगतसिंह कांड हो चुके थे। राष्ट्र के मन के घाव अभी हरे थे। राष्ट्र की इन्हीं परिस्थितियों की प्रतिध्वनि कवि दिनकर की वाणी में हुई है। कुरुक्षेत्र में वह युद्ध के प्रश्न का कोई कटा-छटा समाधान खोजने का प्रयत्न कर रहे हैं।

कुरुक्षेत्र में युधिष्ठिर अहिंसा पक्ष के प्रतिनिधि हैं, उधर पितामह भीष्म अपने व्यापक जीवन-अनुभवों के आधार पर अन्याय के दमन के लिए युद्ध को आवश्यक भी मानते हैं और उचित भी। कुरुक्षेत्र कौरव-पांडवों के बीच लड़े गए विशेष युद्ध का ही नहीं, सामान्य रूप से युद्ध का प्रतीक है।

युधिष्ठिर की अवस्था वही है जो प्रत्येक संवेदनशील युद्ध नेता की अकसर युद्ध के बाद होती है—जब वह युद्ध-क्षेत्र में सत्य को रोता हुआ देखता है।

> उस सत्य के आघात से
> हैं झनझना उठती शिराएं प्राण की असहाय-सी,
> सहसा विपंची पर लगे कोई अपरिचित हाथ ज्यों
> वह तिलमिला उठता, मगर
> है जानता, इस चोट का उत्तर न उसके पास है।

कुरुक्षेत्र काव्य के आरम्भ में ही हम विजेता युधिष्ठिर को एकदम व्याकुल और विक्षुब्ध पाते हैं। जिस समय पांडव शिविर में आनन्द और उल्लास की लहरें उठ रही हैं उस समय केवल एक व्यक्ति युधिष्ठिर विकल होकर रो रहे हैं। वह अपनी विजय को कुरुक्षेत्र में बिखरी हुई लाशों से तोल रहे हैं, उनका मन विजय के इस वीभत्स दृश्य पर चीत्कार कर उठता है। उनकी विजय ही मानो उनके मन पर आघात कर रही है :

> एक शुष्क कंकाल, युधिष्ठिर की जय की पहचान
> एक शुष्क कंकाल महाभारत का अनुपम दान।

महाभारत के सर्वनाश की ज्वाला में उनका विवेक झुलस उठा है। शंका से वह सोचते हैं क्या विजय सचमुच मेरी हुई या विजय दुर्योधन की हुई है जो हमें लोहू से सना राज्य भोगने और जीवन जीने के लिए छोड़कर चला गया! दुर्योधन तो ईर्ष्या-द्वेष के हाहाकार से परे जा चुका है और पांडव-शिविर का यह हर्षनाद जीवितों के निमित्त एक व्यंग्य है। उन्हें लगा मानो दुर्योधन कह रहा है :

> हम वहां पर हैं, महाभारत जहां
> दीखता है स्वप्न, अन्तःशून्य सा
> जो घटित-सा तो कभी लगता मगर
> अर्थ जिसका अब न कोई याद है।

दुर्योधन युधिष्ठिर के अन्तर्मन पर गहरी चोट करता हुआ एक विराट प्रश्न चिह्न उनके सामने खड़ा कर देता है :

> आ गए हम पार, तुम उस पार हो,
> यह पराजय या कि जय किसकी हुई?
> व्यंग्य, पश्चात्ताप, अन्तर्दाह का
> अब विजय उपहार भोगो चैन से!

धर्मराज का मन महाभारत की असफलता के विचार से और कल्पना में साकार बन कर आए हुए दुर्योधन के गरलमय व्यंग्य की चोट से तिलमिला उठता है और अन्तर्द्वन्द्व के अन्धकार में भटकते हुए प्रकाश के निमित्त वह पितामह की शरण जाते हैं :

भर गया ऐसा हृदय दुख दर्द से,
फेन या बुद्बुद् नहीं उसमें उठा
खींचकर उच्छ्वास बोले सिर्फ वे,
पार्थ मैं जाता पितामह पास हूं।

वास्तव में कवि का संकेत है कि युद्ध का परिणाम यही होता है—विनाश, ग्लानि, पश्चात्ताप। समूचे देश में अव्यवस्था छा जाती है। जो मर जाते हैं वे कटु स्मृतियों की उस कचोट से तो बच जाते हैं जो विजेता को जीते जी मार देती है। इस दयनीय स्थिति में पड़ा हुआ व्यक्ति क्या अपने आपको विजेता कहे ?

युधिष्ठिर अपने मन की शंका, अपनी असीम व्यथा, युद्ध से जनित जीवन की विभीषिकाओं का चित्र पितामह के सामने रखकर पूछते हैं :

हाय पितामह हार किसकी हुई है यह ?
ध्वंस अवशेष पर सिर धुनता है कौन ?
कौन भस्मराशि में विफल सुख ढूंढ़ता है ?
लपटों से मुकुट का पट बुनता है कौन ?
और वठ मानव की रक्त-सरिता के तीर
नियति के व्यंग्य भरे अर्थ गुनता है कौन ?
कौन देखता है शव-दाह बन्धु-बान्धवों का ?
उत्तरा का करुण विलाप सुनता है कौन ?

युधिष्ठिर घटनाओं के विगतक्रम पर सिर धुनते हैं। कहते हैं—अगर मैं जानता महाभारत का यह परिणाम होगा तो मनोबल के सहारे लड़ाई लड़ता, इस तरह मैं इतिहास में एक नई मिसाल कायम करता और इस प्रयत्न में सफल न भी होता तो भी रक्तपात न करता, कहीं भीख मांगकर हम लोग गुज़र कर लेते। जहां तक अनीति और पाप का प्रश्न है हमने भी क्या नहीं किया ? युद्ध में तो पाप और अनीति दोनों ओर से होते हैं और हुए हैं।

युधिष्ठिर के अतर्मन को भीष्म अपने प्रौढ़ विवेक से शान्त करते हैं।

वह पूछते हैं—युधिष्ठिर तुमने कभी तूफान देखा है ? प्रकृति के बीमार अंगों—पेड़-लताओं को वह उखाड़ फेंकता है। लेकिन जिन वृक्षों की जड़ें ज़मीन में गहरी धंसी होती हैं उनका वह क्या बिगाड़ पाता है ? और इस तूफ़ान का क्या किसी पर उत्तरदायित्व होता है ? वह तो प्रकृति के आवेगमय प्राणों का सहज विस्फोट है : वह आता ही रहता है, आता रहेगा। किसी पर उसकी जिम्मेदारी नहीं।

यह युद्ध भावना भी एक संक्रामक रोग है। एक चिनगारी कहीं जाग जाए तो फिर उसे भड़काने के अनेक कारण उपस्थित हो जाते हैं :

तुरत बह उठते पवन उनचास हैं
दौड़ती-हंसती उबलती आग चारों ओर से
और तब रहता कहां अवकाश है
तत्वचिन्तन का ? गंभीर विचार का ?

युद्ध [की लपटें चुनौती भेजतीं
प्राणमय नर में छिपे शार्दूल को ।

जब रोग का एक बार आक्रमण हो जाए तो तिक्त औषधि से ही उसका उपचार हो सकता है, यानी इन विषम भावनाओं का शमन युद्ध के द्वारा ही सम्भव होता है :

रुग्ण होना चाहता कोई नहीं,
रोग लेकिन आ गया जब पास हो
तिक्त औषध के सिवा उपचार क्या ?
शमित होगा वह नहीं मिष्टान्न से ।

पाप-पुण्य की व्याख्या करते हुए पितामह कहते हैं—कोई भी काम अपने आप में न पाप है, न पुण्य ।

इन शब्दों की सार्थकता इनकी सापेक्षता में है । धर्माधर्म के बीच कोई अन्तिम और निश्चित सीमा रेखा नहीं खींची जा सकती । कोई भी आदमी अपनी ओर से लड़ना नहीं चाहता ।

पर शत्रु जब ललकार कर सामने आ जाए तो ? जो युद्ध अनीति के निराकरण के लिए लड़ा जाए, जिसके पीछे अन्याय के प्रतिशोध की ज्वलित भावना हो—वह युद्ध निश्चय ही पाप नहीं हो सकता ।

कृष्ण के कर्मयोग का समर्थन करते हुए भीष्म कहते हैं :

सत्य ही भगवान ने उस दिन कहा
मुख्य है कर्ता-हृदय की भावना,
मुख्य है यह भाव जीवन-युद्ध में,
भिन्न हम कितना रहे निज कर्म से ।

भीष्म भी अलिप्त रहकर कर्तव्यकर्म करने के पक्षपाती हैं—नैतिकता-अनैतिकता दुर्बल हृदय को मथने वाले विचार हैं ।

वह युधिष्ठिर से पूछते हैं—जब कोई तुम्हारा स्वत्व छीन लेना चाहे तब क्या तुम्हें चुप बैठे रहना शोभा देगा ? क्या यह कायरता न होगी ? वहां त्याग-तप-अहिंसा की बात करना भी पाप होगा :

छीनता हो स्वत्व कोई और तू
त्याग-तप से काम ले यह पाप है
पुण्य है विच्छिन्न कर देना उसे
बढ़ रहा तेरी तरफ जो हाथ है ।

और भीष्म एक बड़ी महत्वपूर्ण बात कहते हैं कि ये तप-त्याग, करुणा-दया ही व्यक्ति-धर्म हैं, इनसे व्यक्ति मन शुद्ध और सबल होता है । परन्तु समुदाय का प्रश्न उठता है तो हमें ये सब गुण छोड़ देने पड़ते हैं ।

यदि किसी को वन्य पशु घेर लें तो नैतिक बल क्या काम देगा ? तब तो देह-बल से ही काम चलता है—देह की लड़ाई आत्मा से नहीं लड़ी जा सकती, तप-शक्ति से समुदाय नहीं हारता :

कौन केवल आत्मबल से जूझकर,
जीत सकता देह का संग्राम है ?
पाशविकता खड्ग जब लेती उठा,
आत्मबल का एक वश चलता नहीं।
योगियों की शक्ति से संसार में
हारता लेकिन, नहीं समुदाय है

इसके बाद भीष्म उस शान्ति को हेय बताते हैं जो अन्याय पर अधर्म पर, आश्रित हो। जहां शान्ति तलवार के बल पर स्थापित हो और जहां वह विषमता का पोषण करे वहां कभी चिरस्थायी नहीं हो सकती। सच्ची शांन्ति तो तभी संभव है जब उसकी नींव न्याय की शिला पर रखी गई हो। जब तक ऐसा नहीं होता शान्ति की कामना आकाश-कुसुम की कामना के समान है :

शान्ति नहीं तब तक जब तक,
सुख-भाग न नर का सम हो,
नहीं किसी को बहुत अधिक हो,
नहीं किसी को कम हो।
न्याय शान्ति का प्रथम न्यास हैं
जब तक न्याय न आता
जैसा भी हो महल शान्ति का,
सुदृढ़ नहीं रह पाता।

कृत्रिम शान्ति अशान्ति से भी अधिक भयानक होती है, वह केवल तलवार का विश्वास करती है और किसी का नहीं। जिन्हें इस कृत्रिम शान्ति व्यवस्था में ही सुख-वैभव की सिद्धि होती है वे उसे क्यों न बनाए रखना चाहेंगे, परन्तु जिनके लोहू का पान कर के वह जीती है वे यदि स्वत्व-प्राप्ति के लिए संघर्ष करें तो क्या पाप करते हैं ? इस धरती पर न्यायनिष्ठ कम, आततायी असंख्य हैं—जब तक यह स्थिति रहेगी युद्ध क्या किसी के रोके रुक सकेगा ? इस कृत्रिम शान्ति से बचे रहने का संकेत भीष्म युधिष्ठिर को देते हैं, क्योंकि वह सर्पिणी है जो अवसर पाते ही डस लेगी। इस शान्ति सर्पिणी का दिनकर जी ने बड़ा अर्थगर्भित वर्णन किया है :

आनन सरल वचन मधुमय है,
तन पर शुभ्र वसन है,
बचो युधिष्ठिर ! इस नागिन का
विष से भरा दशन है।

इस कृत्रिम शान्ति की चिता कुरुक्षेत्र में जल गई थी इस लिए भीष्म युधिष्ठिर को निःशंक जीवन में प्रवृत्त होने का आग्रह करते हैं। मन की दुविधा अच्छी नहीं। भीष्म स्वयं अपना उदाहरण देते हैं। उनकी बुद्धि उन्हें कौरव पक्ष से बांध रही थी पर मन से वह पांडवों के साथ थे—इस अन्तर्द्वन्द्व के कारण उनका शौर्य प्रस्फुटित नहीं हो सका। पर वह कहते हैं कि अब दूर से देखता हूं तो लगता है मुझे निर्द्वन्द्व होकर पांडव पक्ष में शामिल हो जाना चाहिए था। शायद युद्ध रुक जाता और होता भी तो उसके इतने भयंकर परिणाम न होते। हृदय और बुद्धि के द्वन्द्व में अगर कहीं उन्होंने मन की कोमल भावनाओं के आगे सिर झुकाया होता तो कितना अच्छा रहता :

प्रकटी होती मधुर प्रेम की मुझ पर कहीं अमरता
स्यात् देश को कुरुक्षेत्र का दिन न देखना पड़ता।

युधिष्ठिर शान्त मन से युद्ध से पहले की अपनी मनःस्थिति का विश्लेषण करते हैं—उन्हें लगता है वह ईर्ष्यालु हैं, सुखान्वेषी हैं, उन्हें लगता है वह साधुता का आडम्बर रचते रहे हैं, उनका विराग छल का एक स्वरूप है, उनकी सहनशीलता में प्रतिशोध की अग्नि छिपा है। वह एक नया व्रत ग्रहण करते हैं, मानवता को एक नई दिशा में विकसित करने के लिए तत्पर होते हैं :

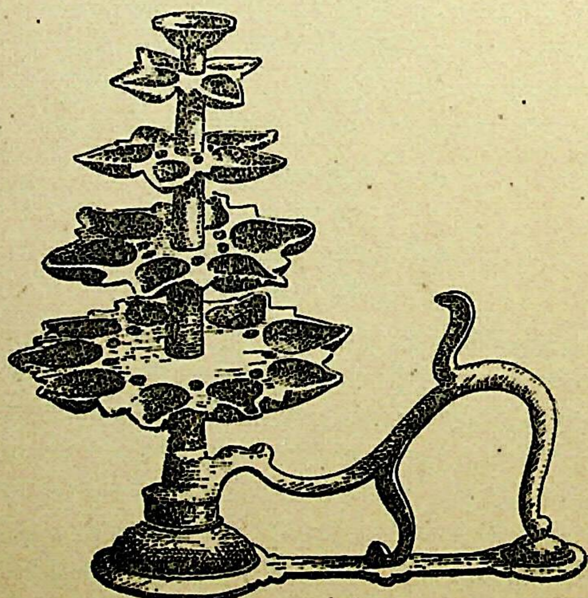
कुरुक्षेत्र की धूलि नहीं इति पंथ की,
मानव ऊपर और चलेगा।
मनु का यह पुत्र निराश नहीं,
नव धर्म प्रदीप अवश्य जलेगा।

यहां आकर युधिष्ठिर मानो अपने आपको पा लेते हैं, वह मानव सभ्यता के भावी विकास के लिए कटिबद्ध हो जाते हैं।

अन्त में कवि ने नए मनुष्य को मिट्टी की ओर बढ़ने का सन्देश दिया है, आकाश की ओर उड़ने का नहीं। परन्तु वह एक सन्तुलन चाहते हैं, स्थूल ऐहिकता में रम जाने का आग्रह वह नहीं करते। भविष्य के लिए भीष्म के इन अन्तिम शब्दों में कवि ने आशा का सन्देश दिया है :

आशा के प्रदीप को जलाए चलो धर्मराज
एक दिन होगी मुक्त भूमि रण-भीति से।

—दिल्ली से प्रसारित



एशियाई दर्शन की एकरूपता

डा० वी० एस० नर्वणे

क्या एशिया के देशों में, राष्ट्रीय विभिन्नताओं के होते हुए भी, कोई मूलभूत सांस्कृतिक एकता है? ऊपरी तौर से देखने पर ऐसा लगता है कि जहां योरप के सभी देश एक सभ्यता के सूत्र में सर्वदा बंधे रहे हैं, एशिया में अलग-अलग सभ्यताओं का विकास हुआ है। भौगोलिक परिस्थिति भी एशियाई सांस्कृतिक एकता के अनुकूल नहीं है। योरप की तुलना में एशिया बहुत बड़ा है। फ्रांस, जर्मनी और इटली एक-दूसरे के बिल्कुल समीप हैं; चीन, भारत और अरब एक दूसरे से हज़ारों मील दूर हैं। इसके अतिरिक्त योरपीय सभ्यता का ग्रीक-रोमन परम्पराओं से सीधा और गहरा सम्बन्ध रहा है। एशिया में कोई ऐसा स्रोत नहीं दिखाई पड़ता, जिससे सभी एशियाई देशों की सांस्कृतिक परम्पराएं निकली हों। कई सहस्र वर्ष पहले, आर्यों के भारत आने से भी पहले, ऐसा कोई स्रोत भले ही रहा हो, ऐतिहासिक युगों में उसका कोई महत्व नहीं है।

लेकिन यदि सांस्कृतिक इतिहास को व्यापक रूप से देखा जाए, तो एशिया की प्रमुख सभ्यताओं में कुछ महत्वपूर्ण समान प्रवृत्तियां अवश्य मिलती हैं। विचारों और भावनाओं का एक विशेष वातावरण प्राच्य संस्कृति में है। यहां हम 'प्राच्य' शब्द का प्रयोग इसलिए कर सकते हैं कि योरप और एशिया के अन्तर को इतिहास में सदा ही पश्चिम और पूर्व का अंतर माना गया है। किसी पाश्चात्य लेखक ने कहा है: मंदिर, मस्जिद और स्तूप एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं। फिर भी उनमें कुछ ऐसी अनोखी बात है, जो उनको गिर्जे से अलग करती है और एक श्रेणी में ला पहुंचाती है।

इसी तरह शायद यह कहा जा सकता है कि फिरदौसी, हाफिज़, कालिदास और ली-पो में भाषा और शैली की विभिन्नता के बावजूद एक अजीब सामंजस्य है। इस एकरूपता का विश्लेषण करना कठिन है, पर उसके अस्तित्व को हमारा हृदय स्वीकार करता है।

यह प्रश्न उठ सकता है: क्या एकरूपता का यह अनुभव केवल हमारी भावनाओं की उपज तो नहीं है? सदियों एशिया के देश पश्चिम की भौतिक और आर्थिक शक्ति के सामने सिर झुकाते रहे। संस्कृति के क्षेत्र में भी पश्चिम का दबाव उन्हें सहना पड़ा। आज इतिहास का रुख बदला है और एशिया में नए आत्मविश्वास की लहर दौड़ी है। इस ऐतिहासिक परिस्थिति में एशियाई देशों में बन्धुत्व की भावना का निर्माण होना स्वाभाविक ही है। कहीं ऐसा तो नहीं है कि जिन देशों की संस्कृति में कोई आन्तरिक समानता नहीं है, वे भी आज की विशेष परिस्थिति से प्रभावित होकर एक दूसरे को न केवल करीब पाते हैं बल्कि बीते हुए युगों पर भी इस प्रकार की समीपता लादते हैं?

इस आपत्ति में तथ्य है, और जिस भूल की ओर इसका संकेत है, उससे बचना सचमुच ही आवश्यक है। लेकिन साथ ही साथ यह भी सच है कि एकरूपता केवल भावनाजन्य नहीं है। उसका आधार कुछ दार्शनिक मनोवृत्तियों में है। कला और साहित्य में यदि समान

प्रवृत्तियां आई हैं, तो यह बात आकस्मिक नहीं। उनके पीछे केवल समान रसानुभूति ही नहीं, समान आध्यात्मिक अनुभव और बौद्धिक प्रयास भी हैं, जिन्हें हम एशियाई दर्शन के इतिहास में प्रतिबिम्बित पाते हैं।

चीनी, इस्लामी और भारतीय दर्शन की प्रमुख धाराओं की ओर ध्यान देना यहां आवश्यक है। हम देखते हैं कि भारतीय दर्शन के जिन सिद्धान्तों और धारणाओं से हम परिचित हैं, उनका चीनी और इस्लामी विचार-पद्धतियों में भी महत्वपूर्ण स्थान है। चीन में कन्फूशियसवाद और ताओवाद दो विभिन्न आदर्शों को सामने लाते हैं। ताओवाद प्रकृति और मानव में सम्पूर्ण संतुलन स्थापित करता है। चिंतन, मनन, जीवन की अकृत्रिम सरलता और शान्तिप्रियता, संसार की प्रत्येक वस्तु में एक सार्वभौम सत्य का अनुभव है—ये हैं, ताओ के आदर्श। कन्फूशियसवाद कर्त्तव्य और सामाजिक दायित्व को अधिक महत्व देता है। उसका दृष्टिकोण अधिक यथार्थवादी है। जीवन के सभी अंगों को ध्यान में रखते हुए वह कर्मयोग पर आधारित मध्यम मार्ग 'चुंग युंग' का प्रतिपादन करता है। बाद में इन दोनों प्रवृत्तियों का समन्वय मेन्शियस के मानववाद में मिलता है। भारत में रामानुज और अन्य वैष्णव दार्शनिकों ने भी मानववाद के आधार पर ऐसे ही समन्वय की ओर संकेत किया था। बौद्ध धर्म के प्रभाव से, विशेषतः शून्यवाद के विकास के बाद, भारत और चीन के दर्शन एक दूसरे के और भी निकट आ गए।

जब हम इस्लामी दर्शन की ओर मुड़ते हैं, तो पहले हमें पाश्चात्य वातावरण का ही प्रभाव मिलता है। अलकिन्दी, अलफराबी और इब्ने-सीना का दर्शन प्लेटो और अरस्तू की ज्ञान मीमांसा और तत्वज्ञान का विस्तृत विवेचन-मात्र है। इब्ने-रुश्द ने तो भौतिक विज्ञान ही को प्राधान्य दिया। लेकिन आगे चल कर ग़ज़ाली और इब्नुल-अरबी के दर्शन में पौर्वात्य दृष्टिकोण फिर से शक्तिशाली हो जाता है। आत्मा और ब्रह्म की एकता, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग का समन्वय, विश्व की एक रहस्यमय कल्पना—ये सभी प्राच्य दर्शन की विशेषताएं इब्नुल-अरबी में मिलती हैं। मध्य युग में सूफ़ी विचारधारा जिस आसानी से प्राचीन भारतीय विचार-धाराओं के साथ घुल-मिल सकी, उससे यह बात स्पष्ट है कि अरब और फ़ारस का दार्शनिक दृष्टिकोण मूलतः प्राच्य ही है। यहां भी धर्म और दर्शन का अविच्छिन्न संबंध है, जीवन को समग्र और संतुलित रूप से मूल्यांकित करने का प्रयास है। यहां भी दर्शन कुतूहल-समाधान का साधन-मात्र न रह कर मुक्ति और आत्म-साधना की पहली सीढ़ी है, यहां भी ब्रह्मास्वादन और रसास्वादन को एक माना गया है।

इस तरह हम देखते हैं, कि एशिया की सांस्कृतिक एकता का दृढ़ दार्शनिक आधार है। लेकिन इस एकता को एक अटल और निरपेक्ष सत्य समझना भी उचित नहीं होगा। योरप और एशिया की विचारधारा में अन्तर अवश्य है, लेकिन आज की दुनिया में इस अंतर को बढ़ा-चढ़ा कर दिखाना, जैसा कई लेखकों ने किया है, संकीर्णता का द्योतक है। हमारा युग एक ऐसे दर्शन की मांग करता है, जिसमें विरोधी प्रवृत्तियों को जगह मिल सके। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने इस प्रश्न का बहुत ही अच्छा विवेचन किया है। बीती हुई शताब्दियों में पूर्व का अपना एक वैचारिक संगठन भले ही रहा हो, आज पूर्व-पश्चिम दोनों को एक-दूसरे में विलीन होना ही पड़ेगा। एशिया की जो दार्शनिक परम्पराएं रही हैं, वे तो विश्व-संस्कृति के भण्डार में सुरक्षित हैं। सत्यों और मूल्यों की रखवाली नहीं करनी पड़ती। एशिया के दार्शनिक आचार्यों का कार्य तभी सार्थक होगा जब उसकी सहायता से एक ऐसी दृष्टि का निर्माण हो सके, जिसका आलोक समस्त विश्व के लिए हो, न कि विश्व के किसी विशेष खण्ड के लिए —इलाहाबाद से प्रसारित

चलचित्रों में संगीत-परम्परा

डा० इन्द्रनाथ मदान

भारतीय नाट्य-साहित्य में गीतिकाव्य उसका अभिन्न अंग रहा है और संगीत परम्परा इस गीतिकाव्य की देन है। भरतमुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र में रंगमंच पर संगीतकारों के लिए एक विशिष्ट स्थान निर्दिष्ट कर रखा है, जिससे संगीत-परम्परा के महत्व का परिचय मिलता है। आधुनिक युग में चित्रपट ने रंगमंच का स्थान ले लिया है और जबसे बोलपट का आविष्कार हुआ है, तबसे संगीत उसका आधार बन चुका है। यह ठीक है फिल्मी संगीत अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखता। इसे फिल्म के ताने-बाने में बुनना पड़ता है, परन्तु यह ताने-बाने का एक अनिवार्य अंग बन चुका है। फिल्मी संगीत का उद्देश्य यही होना चाहिए, कि उसके द्वारा नाटकीय तत्वों की पुष्टि हो सके। इस संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि उत्कृष्ट संगीत भी व्यर्थ बन जाता है, यदि वह फिल्म के अनुरूप न हो या उसे फिल्म पर आरोपित किया गया हो।

आज फिल्मी संगीत की दो दृष्टियों से आलोचना की जाती है—एक यह कि वह अनेक स्थलों पर आरोपित होता है, और दूसरे यह कि वह अश्लील है। अश्लीलता शब्दों और स्वरों दोनों की हो सकती है और आरोपित संगीत के भी दो रूप हो सकते हैं—मौखिक संगीत और पृष्ठभौमिक संगीत। रतिभाव को उद्दीप्त करने वाले शाब्दिक संगीत और मिश्रित भारतीय तथा पाश्चात्य शैलियों वाले स्वरित संगीत को अश्लील की संज्ञा दे सकते हैं। आरोपित एवं अश्लील संगीत के समावेश का सबसे बड़ा कारण फिल्म-कला का व्यावसायिक दृष्टिकोण है। अर्थ लाभ की दृष्टि से इस प्रकार के संगीत को फिल्म का अनिवार्य अंग स्वीकार किया जाता है। भारतीय सामाजिक की रुचि का अभी परिष्कार नहीं हो पाया है। इसलिए फिल्मकार उसकी असंस्कृत रुचि को तृप्त करने के लिए आरोपित एवं अश्लील संगीत का आश्रय लेते हैं। आरोपित संगीत दो रूपों में उपलब्ध होता है—अभिनेता से भिन्न व्यक्ति द्वारा गाए गए गीत और असंगत गीत। पहले रूप में कभी-कभी अभिनेता और गायक में तारतम्य का अभाव लक्षित होता है और दूसरे रूप में परिस्थिति और गीत में संगति का अभाव अखरता है। इस प्रकार मौखिक संगीत प्रायः अनावश्यक होते हुए भी फिल्मों में समाविष्ट किया जाता है, जिससे फिल्मों को व्यावसायिक सफलता मिल सके। इसके बिना फिल्म-निर्माण की कल्पना भी नहीं की जा सकती। पाश्चात्य परम्परा इस दृष्टि से भारतीय परम्परा से भिन्न है। पश्चिम में अनेक फिल्मों का निर्माण मौखिक संगीत के अभाव में सम्भव है, परन्तु भारत में नाटक एवं संगीत का प्रायः अटूट सम्बन्ध रहा है, जिसके कारण संगीत फिल्मों का अनिवार्य अंग बन गया है। इसी प्रकार पृष्ठभौमिक संगीत में भी कहीं-कहीं अतिशयता से काम लिया जाता है, जो नाटकीय तत्वों को अपने भार के नीचे दबा लेती है और उनको उभरने नहीं देती। नाटक और संगीत की होड़ में संगीत की विजय अवश्यंभावी है। आरोपित

संगीत के विश्लेषण से यह सिद्ध हो जाता है कि संगीत नाटकीय उपकरणों की अपेक्षा अधिक प्रेय है, यद्यपि उसकी श्रेयता में सन्देह है । इसी कारण उसकी कलात्मकता में दोष पाए जाते हैं ।

आरोपित संगीत के अतिरिक्त स्वरित संगीत की रचना का विश्लेषण भी अपेक्षित है । इसमें चार भिन्न शैलियों का समावेश देखने को मिलता है—भारतीय शास्त्रीय संगीत, लोक संगीत, पाश्चात्य सिंफनी संगीत और राक-रोल संगीत का सम्मिश्रण फिल्मी संगीत को शुद्ध संगीत की दृष्टि से भौंडा रूप देने में सफल हुआ है । इसलिए इस संगीत को अश्लीलता की संज्ञा दी जाती है, जिसका उत्तरदायित्व संगीत निर्देशकों के कंधों पर रखा जा सकता है और जिसका कारण सामाजिकों की रुचि बतलाया जाता है । इस सम्बन्ध में मेरा दृढ़ विश्वास है कि यदि संगीत निर्देशक शास्त्रीय संगीत को लोकप्रिय बनाने में सफल हो सकते हैं, तो कोई कारण नहीं कि वे सामाजिकों की रुचि का भी परिष्कार करके स्वरित संगीत को भारतीय परम्परा के सांचे में ढालने की क्षमता रखते हैं । शास्त्रीय संगीत राग-रागिनियों पर आधारित है, लोक-संगीत की प्रादेशिक शैलियां हैं और सिंफनी संगीत में पाश्चात्य परम्परा के तत्व विद्यमान हैं, परन्तु राक-रोल पाश्चात्य संगीत का विकृत रूप है, जिसका समावेश फिल्मी संगीत को अश्लील बनाने में ही सफल हुआ है । सरगम संगीत का शुद्ध आधार है और सरगम में अश्लीलता का प्रश्न ही नहीं उठता, परन्तु सरगम के सदुपयोग एवं दुरुपयोग में ही संगीत के श्लील एवं अश्लील रूप की रचना होती है । शास्त्रीय संगीत की परम्परा राजदरबारों तक सीमित थी । उसका आस्वादन परिष्कृत रुचि के सामाजिकों तक ही परिमित था । आज सामन्ती संस्कृति के विघटन के फलस्वरूप संगीत के आस्वादन की सीमा में विस्तार आ गया है । उसको लोकप्रिय बनाने के लिए अनेक प्रयोग हुए हैं, जिनका विश्लेषण अपेक्षित नहीं हैं । भक्ति युग में भी शास्त्रीय संगीत को लोकप्रिय बनाने का सफल उपाय हुआ था । परन्तु आधुनिक युग में इसका श्रेय फिल्मी संगीत को है ।

फिल्मी संगीत के दोष पक्ष के अतिरिक्त इसका गुण पक्ष भी है । लय को सभी मुक्तकण्ठ से संगीत का आधार स्वीकार करते हैं । सभी शैलियों में लय का तत्व विद्यमान होता है । कुछ संगीत निर्देशक इस लय को लोक-संगीत में खोजते हैं, दूसरे इसे महाराष्ट्र की संगीत परम्परा में अधिक पाते हैं, तीसरे इसे शास्त्रीय संगीत की राग-रागिनियों में प्राप्त करते हैं । लोक-संगीत के क्षेत्र में पंजाब का भंगड़ा और टप्पा, उत्तर प्रदेश की कजरी, राजस्थान की होली और महाराष्ट्र की लावनी ने फिल्मी-संगीत के निर्माण में योगदान दिया है । शास्त्रीय-संगीत की मन्थर एवं मन्द गति के स्थान पर लोक-संगीत की द्रुत गति ने फिल्मी-संगीत को लोकप्रिय बनाने में सहायता दी है । परन्तु पाश्चात्य संगीत के अन्धानुकरण ने भारतीय संगीत को विकृत रूप भी प्रदान किया है । यह ठीक है कि सिंफनी-संगीत में विविधता का गुण है और राक-रोल संगीत में एक विशेष प्रकार की शक्ति भी होती है । यदि पाश्चात्य शैलियों का समावेश सावधानी से किया जाए तो फिल्मी संगीत को अश्लीलता से सुरक्षित भी रखा जा सकता है । यह भी सत्य है कि पाश्चात्य संगीत में वाद्य-यन्त्रों की मात्रा बहुत अधिक है, पर भारतीय यन्त्रों के परिवार में उनका विस्तार एवं परिष्कार सम्भव है । सारंगी और इसराज के आधार पर नए यन्त्रों की अवतारणा हो सकती है । पाश्चात्य वाद्य-यन्त्रों के कारण ही फिल्मी गीत विदेशी वातावरण की सृष्टि करते हैं, चाहे उनका आधार शास्त्रीय राग और रागिनियां भले ही हों । उनमें तान को पाश्चात्य वाद्य-यन्त्रों के माध्यम से व्यक्त किया जाता है । इसलिए फिल्मी-गीतों में विदेशीपन की ध्वनि

पाई जाती है । इस दोष को दूर करने के लिए नए भारतीय वाद्य-यन्त्रों की ग्रावश्यकता है, जिनके संयोजन से ग्रारकेस्ट्रा की विविधता का समावेश हो सके । पाश्चात्य संगीत को भारतीय रूप देने में भी सावधानी से काम लिया जा सकता है, जिससे भारतीय संगीत की निजता सुरक्षित हो सके । फिल्मी संगीत के द्वारा विविध प्रादेशिक शैलियों का राष्ट्रीय-करण भी सम्भव हुग्रा है । इस उपलब्धि की ग्रवहेलना नहीं की जा सकती । चलचित्रों के संगीत को राष्ट्रीय संगीत की संज्ञा देना ग्रनुचित न होगा । फिल्मी संगीत ने प्रादेशिक बाधाग्रों को पार कर विभिन्न भाषाग्रों की फिल्मों में ग्रपना स्थान बना लिया है। इसकी सीमाग्रों से ग्रवगत होते हुए भी इसकी सम्भावनाग्रों की उपेक्षा करना कठिन है । परन्तु इसमें मौलिकता तथा नवीनता की सृष्टि के लिए शास्त्रीय संगीत को ग्राधार के रूप में स्वीकार करना ग्रावश्यक है ।

—जालन्धर से प्रसारित

फागुन की एक सुबह

रामविलास शर्मा

देखा तुमने
रेवा के तट
दूर दूर तक फैल रही है
सिके मूंग के पापड़ जैसी
ग्रनसमतल धरती निमाड़ की !
उधर सामने
क्षितिज रेख पर
टूटे दांतों की कंघी-सी
खड़ी हुई है पल्लवहीना
बेतरतीब कतार झाड़ की !
ग्रौर देखिए
ग्रभी ग्रभी गुस्ताख सबेरा
प्राची को बाहों में कस कर
गोरे मुखड़े पर बरजोरी
मल कर गया गुलाल !
ग्राम्र मंजरी की उत्तेजक
मुस्कानों के इर्द-गिर्द है
डोल रहा उन्मत्त प्रभंजन
ग्रावारा सा सर पर बांधे
सौरभ सना रूमाल !
कुंकुम घुली झील में

ग्रनगिन
स्वर्ण मेघ के बिम्ब तैरते
सुरखावों में
पंख समेटे !
नौजवान फसलों की
ग्रगवानी कबूल कर
नाजुक शाखों से टेसू की
(दूर देश के प्रीतम जैसे)
बेकरार हो
झोंके भेंटे !
बिलम गए बछड़े-सा
कोई
बंसी का मोहक कोमल स्वर
भटक रहा
निर्जन घाटी में !
सरज
श्रद्धारत किसान-सा
सत्वर गति से सधे हाथ से
चौंप रहा
किरणों के पौधे
ग्रन्तरिक्ष की नम माटी में !

—इन्दौर से प्रसारित

पनघट पर

मोहनलाल गुप्त

पनघट गांव का क्लबघर है। लेडीज़ ओन्ली·····केवल महिलाओं के लिए सुरक्षित। पर पनघट की वार्ता इतनी दिलचस्प होती है कि पुरुष भी सुनने को लालायित रहते हैं। वर्जित क्षेत्र में पुरुषों का प्रवेश निषिद्ध होने पर भी चोरी चुपके इक्का-दुक्का व्यक्ति वहां पहुंच ही जाता है। अगर यह बेहयाई न करता, तो पनघट की गप्प-गोष्ठियों की प्रस्तुत रिपोर्ट सम्भव न हो पाती।

वैसे तो पनघट का कार्यक्रम दिन-रात चौबीस घण्टे चलता रहता है और हर घड़े के साथ एक गप्प-गोष्ठी जरूर हो जाती है, पर इसकी मुख्य बैठकें सुबह, दोपहर और शाम को होती हैं। सुबह और शाम को सभा में तरुणियां बूढ़ियों की और बहुएं सासों की कपाल-क्रिया करती हैं। दोपहर की जमघट में गांव की बूढ़ियां नई पीढ़ी, नया ज़माना, नया फैशन और समूचे गांव की आलोचना प्रस्तुत करती हैं। इनकी समिति में कोई विषय निर्धारित नहीं रहता। कोई बड़ी वार्ता का सूत्रपात करती है फिर तो बात का तार निकल पड़ता है। पनघट की सामयिक वार्ता में गांव की कोई भी समस्या, कोई भी घर शायद ही छूटता हो। पनघट गांव का क्लबघर ही नहीं, अखबार का दफ्तर है, रेडियो-स्टेशन भी है। संगीत से तो आपको थोड़ा बहुत प्रेम होगा ही। गायकों की ज़बानी आपने सुनी होगी बेचारी पनिहारिन गोपबाला की मुसीबत की कहानी। गीत की पहली कड़ी होगी ······पनिया भरन गई ····· और फिर रास्ते में ही मिल गए कुंवर कन्हैया। मिलते ही छेड़खानी शुरू हो गई। कलाइयां मुड़ गईं, चूड़ियां करक गईं, घड़ा फूट गया, साड़ी भीग गई और बेचारी गोप बाला पानी-पानी हो कर घर लौट जाती है, सास की डांट सुनने के लिए। हर गोपबाला की एक सी ही कहानी.......हम सुनते आए हैं। पर यह पुरानी बात है। गांव की बालाएं आज भी पनघट पर जाती हैं। कन्हैया आज भी है, पर वह ज़रा इंडियन पीनल कोड से डरता है। ग्राम बालाओं को पानी भरने में आज भी देर लगती है पर कन्हैया की छेड़खानी के कारण नहीं, पनघट की अनियोजित गप्प-गोष्ठियों के कारण। चलिए बेचारे कन्हैया को युग-युगों के लांछन से मुक्ति मिली।

दोपहर का वक्त। काका खाने पर बैठे हैं। थाली परस गई है, पर पानी के नाम पर घड़े में एक बूंद भी नहीं।—अभी लाए देती हूं—कह कर काकी ने घड़ा उठा लिया।

—शाम के पहले लौट आना—काका ने व्यंग्य किया।

—बस अभी आई—लम्बे डग भरे और काकी पनघट पर थीं। वहां बिब्बो बुआ और गलब्बो मौसी पहले से काकी की राह देख रही थीं। कल्लो काकी के पहुंचते ही कोरम पूरा हो गया।

—आज तो बड़ी देर लगाई काकी—बुआ ने प्रश्न किया।

—मुझे ज़रा जल्दी है।

—तुझे रोज़ जल्दी रहती है। ज़रा बैठ तो।

—नहीं री, काका खाने पर बैठे हैं।

—काका खाने को बैठे हैं, तो तुझे तो नहीं खा जाएंगे।

—मुझे तो नहीं, पर देर हुई तो मेरा कपार ज़रूर खाएंगे।

—खाने दे। तू भी काकी बूढ़ी हुई, पर काका का प्रेम न गया। आ न बैठ।

और लो, कल्लो काकी ने हार मान ली। बुआ मौसी के साथ चबूतरे पर जम गईं। अब काका की प्यास भगवान शंकर के जटाजूट से निकली गंगा ही बुझाएं तो बुझाएं। काकी की गोष्ठी प्रारम्भ हो गई है। पनघट की वार्ता की केवल शुरुआत होती है, अन्त नहीं होता। चाहे प्रलय हो, चाहे वज्र गिरे, बतकही चालू रहेगी। खाली घड़े आएंगे, भर के चले जाएंगे, पर कल्लो काकी की बात का तार न टूटेगा।

कल्लो काकी, बिब्बो बुआ और गुलब्बो मौसी पनघट की गप्प-गोष्ठियों की तीन मुख्य स्तम्भ हैं। गांव भर की जन्मपत्री इन्हें कंठस्थ है। जिसे अपने सात पुरखे तारने हों, वह कल्लो काकी से रार ले। जिसे अपने घर में अशांति बुलानी हो, वह बिब्बो बुआ को एक बार घर में बुला ले। जिसे गांव में कोई बात प्रचारित करनी हो, उसे मौसी के कान में चुपके से डाल कर कह दे—किसी से कहना मत—शाम तक बात समूचे गांव में फैल जाएगी।

पनघट की बतकही जारी थी। बुआ ने छेड़ा—सुना है, काकी ठाकुर का लल्ला कलकत्ते से कमा कर लौटा है।

—हां लौटा तो है पर जानती है अपनी बहू के लिए क्या लाया है?

—क्या लाया है काकी?

—हाई हील का जूता।

—नालदार जूता क्या मारने के लिए?

—नालदार नहीं, ऊंची एड़ी का और मारने के लिए नहीं, बहू को मेम बनाने के लिए।

—गांव में जूता, वह भी ऊंची एड़ी का। मेम साहब जब खेत की पगडंडी पर चलेंगी तो आसमान फट पड़ेगा। क्यों काकी?

—क्या कहूं? देसी कुतिया विलायती बोल।

—ठीक कहती हो काकी।

—और सुनो। छोरा बहू के लिए एक नई किस्म की साड़ी भी लाया है।

—कैसी साड़ी काकी?

—नाइलन की साड़ी।

—कैसी होती है काकी?

—जिसे पहन के भी बदन नंगा रहे, उसे नाइलन की साड़ी कहते हैं। सारा शरीर दिखता है, जैसे दर्पन में मुंह। मैं तो लाज के मारे मर गई और निगोड़ी बहू को देखो मेरे आगे ढीठ बनी बैठी रही। घोर कलियुग आ गया है, कलियुग।

—गांव में तो नहीं आया था काकी, ठाकुर का छोरा कलकत्ते से लाया होगा।

पनघट की गोष्ठी की आलोचना का यह असर हुआ कि ठाकुर का लल्ला जो महीने भर की छुट्टी ले कर घर आया था, तीन ही दिन में भाग खड़ा हुआ]। जाते समय अपनी बहू को भी साथ लेता गया। कल्लो काकी ने सुना, तो कानों पर हाथ धर लिया।

जाते-जाते लल्ला की बहू कहती गई, कि जब तक ये तीनों बुढ़िया डायन गांव खाली नहीं करेंगी, मैं गांव का मुंह नहीं देखूंगी। यह सन्देश कल्लो काकी की बैठक में अभी तक

नहीं पहुंचा है। पहुंचा होता तो चर्चा जरूर होती।

कल्लो काकी की पनघट गोष्ठी में आज फिर सरगर्मी दिखाई दे रही है। बुआ, मौसी की कानाफूसी काकी तक नहीं पहुंची है। गांव में जरूर कोई नई बात हुई है। नहीं तो कल्लो काकी इतनी चिन्तित न होती।

आखिर बात छुपी नहीं, फूट ही गई। गांव की बहू गांव की सबसे बड़ी बूढ़ियों को डायन कह जाए, यह बर्दाश्त के बाहर बात थी। कल्लो काकी उबल पड़ी। बुआ ने आग में घी डाला—निगोड़ी हमें डायन कहती तो कोई बात नहीं थी, पर काकी तुम्हें भी नहीं छोड़ा? हद हो गई।

—काकी की नाक गांव की नाक है। काकी की नाक कटी तो समझ लो समूचे गांव की नाक कट गई—मौसी ने नया वाक्य जोड़ा।

काकी का गुस्सा पराकाष्ठा तक पहुंच चुका था। काकी ने फैसला सुनाया ठाकुर के बेटे और बहू ने हमारा अपमान किया है। आज से गांव का कोई आदमी ठाकुर के घर पानी भी न पिएगा।

पनघट का फैसला सर्वमान्य होना चाहिए। पर बूढ़ी काकी ने देखा कि उनका निर्णय केवल मौसी और बुआ तक ही सीमित है। ठाकुर के घर पहले से अधिक भीड़ जुटने लगी।

मौसी ने पता लगाया तो मालूम हुआ कि पनघट की नई पीढ़ी ने जिहाद बोल दिया है। गांव की सारी तरुणियां……बेटियां और बहुएं एक साथ विद्रोह कर उठी हैं, कि अभी तक पनघट पर कल्लो काकी का एक छत्र राज्य था। काकी, मौसी और बुआ तीनों मिल कर जो चाहती थीं, करती थीं। पर अब तीनों की तानाशाही समाप्त हो चुकी थी।

पनघट की नई बैठक में बेटियां दादियों के मुकाबले आ खड़ी हुई। बहुएं घूंघट खोल कर आ शामिल हुई। नई पीढ़ी का नया रुख देखा, तो काकी, बुआ और मौसी तीनों खिसक गईं।

बहुओं में आत्म-विश्वास लौटा तो बूढ़ियों के विरुद्ध एक-एक करके आरोप बढ़ने लगे। आरोप-पत्र प्रकाशित हो गया।

बिब्बो बुआ की बहू ने सरे आम घोषित किया कि यह बात सरासर झूठ है कि वह बहरी है। बुआ ने सारे गांव में यह बात फैला रखी थी कि उनकी बहू कम सुनती है।

पनघट की नई सभा ने निश्चय किया कि आज से गांव की सभी बहुएं कुछ कम सुना करें………कम-से-कम बूढ़ी मौसी, बुआ, काकी और सास की बातें।

एक-एक कर बूढ़ियों की कलई खुलने लगी। गुलब्बो मौसी ने पनघट में घोषित किया था, कि उनकी बहू एक आंख की कानी है और वह अपने बेटे का दूसरा विवाह करेंगी। पर बेटे ने गलती से बहू की दोनों आंखें देख लीं और उसे बहू की आंखें पसन्द आ गईं। मौसी को बेटे की दूसरी शादी का कार्यक्रम रद्द करना पड़ा।

कल्लो काकी के झूठे आरोपों के कारण जो बहुएं पीहर चली गई थीं, वे पुनः ससुराल वापस आ गईं। बूढ़ियों के हस्तक्षेप के अभाव में गांव के घरेलू झगड़े आप से आप शांत हो गए। कल्लो काकी का नुस्खा था कि बहू को कब्जे में रखने के लिए पीठ पर डंडा लगाना जरूरी है। गांव के युवक डंडे से अधिक अब अपनी पत्नियों से प्यार करने लगे।

गांव में अपनी उपेक्षा देख कर अब काकी, बुआ और मौसी तीनों गांव छोड़ कर काशी चली गई हैं। उनका अभाव गांव के छोटे-बड़े सबको खटकता है। गांव के पनघट पर आज भी बैठक जमती है, पर पनघट की गप्प-गोष्ठियां कल्लो काकी, बुआ और मौसी के बिना सूनी सी लगती हैं।

—इलाहाबाद से प्रसारित

कृष्ण भोग

अली अब्बास हुसैनी

ठकुराइन बड़े गुस्से में थी, बात थी भी ऐसी ही, भगवान कृष्ण के सामने चढ़ा हुआ आमों का भोग आज तीन दिन से बराबर गायब हो रहा था। वह सुबह तड़के उठते ही स्नान कर के अपने बाग में चली जातीं, जहां कृष्ण की मूर्ति पर चढ़ाने के लिए अपने हाथ से तरह-तरह के फूल चुनतीं, वहां पांच आम भी अपने सामने ही तुड़वातीं। फूलों के साथ ये आम भी वह एक चांदी की थाली में रख कर भगवान की मूर्ति के सामने रख देतीं। ये आम दूसरे दिन सुबह तक इसी तरह रखे रहते। फिर पुरोहित जी आकर दूसरे प्रसादों के साथ उन्हें अपनी झोली में डाल ले जाते।

इसी दस्तूर में आज तीन दिन से बराबर फर्क पड़ रहा था। 'प्रसाद' की और चीजें तो पुरोहित जी को मिलतीं, मगर आम गायब रहते। यूं तो आम कोई ऐसी कीमती चीज न थे कि उनकी चोरी पर एक शोर उठता। लेकिन यह महीना अगस्त का था, पूरे ज़िले के आम वस्ते जुलाई तक खत्म हो चुके थे। ठकुराइन के बाग में भी सिर्फ 'भदिया' आम बाकी रह गए थे। इसलिए इस सेर-चश्म देवी की नज़र में भी उनकी कीमत इतनी बढ़ गई थी, कि वह उन्हें खुद तक न खातीं, बल्कि रोजाना पांच-पांच के हिसाब से 'भोग' में चढ़ा देतीं। खयाल था भगवान को वही नज़र पसन्द आई है, जो अपने जी को मार कर पेश की जाए।

पुरोहित जी भी बहुत ही झल्लाए हुए थे। ये आम उन्हीं को तो मिलते थे और वह उन्हें खुद खाने की जगह आठ-आठ आने फी दाना के भाव से बेच दिया करते थे। ढाई रुपये रोजाना की आजकल आमदनी थी : इन तीन दिनों में साढ़े सात का नुकसान हो गया। इस महंगी के समय में यह कोई ऐसी छोटी रकम न थी कि देवताओं के इस दास को गरां न गुज़रती, उन्होंने ठकुराइन से नाराज़ी के लबोलहजे में शिकायत की। कृष्ण का सेवक अपना नेग आसानी से छोड़ने को तैयार न था।

ठकुराइन को पहले तो यकीन ही न आता था कि उनके मन्दिर से भोग गायब भी हो सकता है? पर, जब पुरोहित जी ने कस्में खाकर यकीन दिला दिया, तो उनके गुस्से की कोई इन्तिहा न रही। वह एक राजपूतनी की तरह बफर पड़ी और एक शेरनी की तरह दहाड़ने लगी। उन्होंने हंटर उठा लिया, और नौकर-चाकर, महरी-कहारी, हर एक से धमका-धमका कर पूछा—ठीक-ठीक बताओ, यह किस की हरकत है।

मगर जब मर्द-औरत, छोटे-बड़े, बूढ़े-वाले, हर एक ने श्री कृष्ण ही की सौगन्द खाई, तो उन्होंने पुरोहित जी से चुपके से तय किया—आएं, हम आप आज रात मन्दिर में छिप कर बैठें, देखें कौन चोरी करता है।

दोनों ने अपनी इस तदबीर की किसी को कानों-कान खबर न होने दी। ग्यारह बजे रात को जब सारी कोठी में सूना पड़ गया, तो पुरोहित जी और ठकुराइन मन्दिर में दबे पांव

दाखिल हुए। पुरोहित जी पश्चिम की तरफ एक बड़ी मूर्ति की आड़ में चले गए। ठकुराइन ने पूर्व की तरफ अपने लिए एक अंधेरा कोना चुना।

पुरोहित जी तो उसी तालाब की मछली थे। उनके लिए तो मन्दिर गोया घर था, वह तो थोड़ी ही देर में इत्मीनान से पैर फैला कर सो गए। उनकी तोंद बराबर फूलती पिचकती रही। उनका मुंह खुलता और बन्द होता रहा, उनके खर्राटे मन्दिर के दरो-दीवार से टकराते रहे, मगर ठकुराइन देवताओं की उस महफ़िल में अपने को अजनबी महसूस करती रहीं। यूं भी जब से ठाकुर साहब बैकुंठवासी बने थे, उनकी नींद उचाट-सी हो गई थी। आज तो इस नई जगह पर वह बिनती करने पर भी आने वाली न थी।

हां, उसकी जगह बहुत-सी यादें अलबत्ता चली आ रही थीं। जब वह दुल्हन की सूरत में पहली बार उस कोठी में आई थीं, तो उनको मोटर से उतारते ही सीधे इसी मन्दिर में अपने दूल्हा ठाकुर के साथ आना पड़ा था। कैसे शरीर थे वह भी। मूर्ति के सामने तो गर्दन झुकाए उन्हीं की तरह मन ही मन प्रार्थना करते रहे। पर जैसे ही उठ कर चलने लगे, उन्होंने ठकुराइन को कुछ ऐसी नज़र से देखा था कि वह पसीने-पसीने हो गई थीं। पांच-चार दिन बाद, तो उन्होंने उनसे इस नज़र की शिकायत की थी। वह आंख चमका कर बोले थे—वाह, मैंने तो यही दुआ मांगी थी कि मेरी पत्नी को भी अपनी राधा जैसी मेरी मतवाली बना दीजिए।

और ठकुराइन के दिल में इस याद से ऐसा दर्द उठा, कि उन्होंने जब तक कृष्ण भगवान के चरण जाकर न छू लिए, वह अपने दिल को संभाल न सकीं।

फिर उन्हें वह दिन याद आया जब वह अपने ठाकुर के बैकुंठवासी होने पर अपने कुमार को लेकर यह प्रार्थना करने आई थीं कि वह बालक बिल्कुल अपने बाप जैसा हो, वैसा ही हंसमुख, वैसा ही निडर, वैसा ही भाग्यवान, और उन्होंने अपने लिए भी उसकी शक्ति मांगी थी, कि वह कुमार के सयाने होने तक रियासत के सारे काम संभाल लें। फिर उन्हें वह शाम भी याद आई, जब वह कुमार के हाई स्कूल पास होने पर उसे साथ लेकर इसी पवित्र स्थान पर लाई थीं। और उन्होंने दुआ मांगी थी कि बस इतने ही दिनों और मुझको जिन्दा रखना कि बी० ए० पास हो जाए और मैं घर में चांद-सी बहू ले आऊं। और वह सोचने लगीं—अब बहुत दिन बाकी नहीं रह गए। हिज्र की रात कट गई। अब मैं भी जल्द ही अपने पिया से जा मिलूंगी।

और वैसे ही किसी के पांव की चाप सुनाई दी।

ठकुराइन ने आंखें मल कर मन्दिर के दरवाज़े की तरफ देखा। एक साया-सा अन्दर की तरफ बढ़ता दिखाई दिया। वह ज़रा संभल कर बैठ गईं। साया चबूतरे की बगल वाले, बड़े दिए के सामने आ गया। उन्होंने देखा एक औरत सिमटी-सिमटाई कुछ सहमी-सहमी-सी चली आ रही है। मूर्ति के करीब पहुंच कर उसने हाथ जोड़ कर प्रणाम किया, भगवान के चरणों में कुछ फूल डाले, और पांचों आम समेट कर आंचल में बांध लिए।

ठकुराइन ने अपनी जगह से डांट कर पूछा—कौन ?

औरत घबराई, डरी, पलट कर भागने लगी कि पुरोहित जी न भी जागकर 'चोर चोर' की हांक लगा दी और मूर्ति की तरफ दौड़ पड़े। औरत ने जल्दी से मूर्ति के पांव पर हाथ रख दिए और वहीं सिमट कर बैठ गई।

ठकुराइन ने पास जाकर देखा तो लतिया मेहतरानी निकली। वह गुस्से से थरथर कांपने लगीं। अछूत और उनके मन्दिर में, और इस पर भोग की चोरी, बस न चलता था कि उसे

वहीं अपने हाथ से नोच-नोच कर टुकड़े-टुकड़े कर डालें। पुरोहित जी भी थप्पड़ मारने को हाथ उठा कर रह गए। लतिया उस वक्त ऐसे की पनाह में थी, जिसके करम की पनाह ठकुराइन भी मांगती थीं और पुरोहित जी भी। जब उसके चरण पर लतिया का हाथ हो तो उसे मारने के लिए किसी का हाथ कैसे उठे, फिर भी वह इस तरह छोड़ी न जा सकती थी। नौकर-चाकर, चौकीदार, कहार, सबको पुरोहित जी की 'चोर चोर' की चीख खींच लाई थी। सब ठकुराइन के हुक्म के पाबन्द थे। उन्होंने गुस्सा ज़ब्त करके पूछा—यहां क्यों आई? क्यों आम चुराए?

लतिया ने कहा—सवा महीना होता है, मेरे मुनवा का बुखार नहीं जाता, बैद जी ने कहा, इसे लू लगी है। जब तक उसके शरीर भर में कच्चा आम कुचल कर न मला जाएगा और आम का रस न पिलाया जाएगा, बुखार न जाएगा। आम अब कहीं मिलता नहीं। हम भगवान कृष्ण के यहां मुंह अंधेरे, प्रार्थना करने आए स्नान करके, सब से छिप के आए और उनकी ठोकरों में आम पड़े पाए। उन्होंने हमको दिया, हमने नहीं चुराया। मुनवा के लिए खुद भगवान ने दवा भेज दी।

ठकुराइन ने कुछ सोच कर कहा—इसे बरामदे के खम्भे से बांध दो, मैं स्नान करके पहले भोग चढ़ा लूं फिर फैसला करूंगी।

पुरोहित जी बोले—और जब तक सब कहार मिल कर जल लाएं, म सारा मन्दिर धो कर पवित्र करूंगा।

ठकुराइन ने फूलों और आमों की थाली हाथ में ली और कृष्ण जी की मूर्ति की तरफ बढ़ीं, मगर जैसे ही थाली रखने को झुकीं, लड़खड़ा गईं। थाली टेढ़ी हो गई और आम गिर कर बिखर गए।

ठकुराइन ने आम इकट्ठा कराए। गंगाजल में उन्हें धुलवाया, फिर थाली में उन्हें रख कर ले चलीं। हवा का एक झोंका-सा आया, साड़ी का निचला हिस्सा फड़फड़ा कर पांव में फंसा, वह गिरते-गिरते बचीं और आम फिर बिखर गए।

उन्होंने अब के आमों को गऊ माता के दूध में अपने हाथों से निहलाया, थाली के बीच में उन्हें रखा, चारों तरफ फूल सजाए। थाली दोनों हाथों से मजबूती से पकड़ी और चबूतरे की तरफ चलीं। अचानक मूर्ति पर नज़र पड़ गई। न जाने क्या देखा कि जिस्म भर में कंपकंपी पड़ गई। थाली हाथ से छूट गई और आम फिर फर्श पर आ रहे; ठकुराइन का चेहरा तमतमा उठा। वह मूर्ति के सामने सिर झुकाए, आंखें बन्द किए बहुत देर तक बैठी रहीं। फिर उठीं, थाली में आरती का सामान लगाया, रोज के आमों की जगह मिठाई का भोग चढ़ा दिया।

जब आंखों में आंसू भरे वह पलटीं, तो उन्होंने देखा पुरोहित जी ज़मीन से आम चुन रहे हैं। वह बोलीं—पुरोहित जी, अब आप इन आमों को हाथ नहीं लगा सकते, ये भगवान ने लतिया को दे दिए।

वह मुख खोले इस नादरी हुकम का मतलब समझने की कोशिश ही कर रहे थे, कि उन्होंने एक कहारी से कहा—लतिया को बुलाओ।

पुरोहित जी बड़बड़ा उठे—यह क्या, यह क्या, क्या वह शूद्र फिर इस मन्दिर में आएगी।

ठकुराइन ने कहा—मैं क्या करूं। जो अपना भोग देना चाहता है, उसी का तो घर है।

और लतिया के आने पर वह बोलीं—लो जी, यह उठाओ अपने आम और तुम ही उन्हें भोग चढ़ा के मुनवा के लिए ले जाओ।

लतिया ने ज़मीन से आम चुने, उन्हें साड़ी के आंचल से पोंछा और थाली में रख कर भगवान

के चरणों में रख दिया। फिर उसने हाथ जोड़ कर प्रार्थना की, और सारे आम अपने आंचल में बांध कर मन्दिर से चली गई।

पुरोहित जी पल्थी मार कर बैठ गए और झूम-झूम कर कहने लगे—हे भगवन्त तेरी लीला है, भगवन्त तेरी लीला !

—लखनऊ से प्रसारित

मूर्ख दर्ज़ी

बालकृष्ण राव

एक दर्ज़ी था, हमारे शहर में ही
मूर्ख था सबसे बड़ा अपने समय का
खो गई उसकी सुई गिर कर किसी दिन
बैठ कर दूकान में जब सी रहा था।
कुछ उठा रक्खा न उसने खोजने में
पर न पाई वह सुई दूकान में फिर।
ढल चला दिन, रोशनी कम हो चली थी
ढूंढ़ता दूकान में बेकार था अब,
इसलिए जा कर सड़क पर ही लगा वह
ढूंढ़ने दूकान में खोई सुई को—
क्योंकि बाहर शाम को भी रोशनी थी।
मूर्ख था वह, पर हमारी बुद्धि कहती
'शांति जीवन के अंधेरे में न खोजो
धर्मग्रन्थों के उजाले में मिलेगी।'

—इलाहाबाद से प्रसारित

मेगस्थनीज़

कमला केतकर

भारतवर्ष सदा से ही पश्चिमी राष्ट्रों के लिए आकर्षण का केन्द्र रहा है। अतः हज़ारों वर्ष पूर्व मनु ने भी लिखा था कि :

एतद्देशप्रसूतस्य एकाशादग्र जन्मनः
स्वं स्वं चरितं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः

अर्थात प्राचीन सभ्य देशों में से एक होने के कारण भारत में प्राचीनकाल से ही विदेशियों का आगमन होता रहा है। कोई धन के लिए, कोई धर्म-ज्ञान के लिए, कोई भ्रमण के लिए यहां आया। उस प्रकार धन, धर्म और भ्रमण हर प्रकार की भावना लेकर यहां यात्रियों के काफिले आए। सिकन्दर व सेल्यूकस के भारत से लौट जाने पर यूनानी लेखक, राजदूत या यात्री के रूप में भारत आए। कुछ पाश्चात्य लेखकों ने तो उन्हीं के लेखों के आधार पर भारत के बारे में लिखा, जिससे भारतीय इतिहास की प्रचुर सामग्री प्राप्त होती है। उनमें मेगस्थनीज़, प्लिनी, टाल्डेगी, फाह्यान, युआन च्वांग, एरियन आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। यदि इन लेखकों, यात्रियों, राजदूतों द्वारा हमारे प्राचीन इतिहास का परिचय न मिलता, तो हम अपने महान अतीत से अपरिचित ही रहते। अतः इन यूनानी राजदूतों, चीनी यात्रियों के हम बहुत ऋणी हैं।

मेगस्थनीज़ सीरिया के शासक सिल्यूकस निकेटर के राजदूत के रूप में ३०३ ईसा पूर्व में पाटलिपुत्र में चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में आया था। पाटलिपुत्र को प्रारम्भ से ही भारतीय साम्राज्यों की राजधानी बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। मेगस्थनीज़ सम्भवतः ६ वर्षों तक पाटलिपुत्र में रहा। उसने भारत की तत्कालीन सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थिति के विषय में बहुत कुछ लिखा है। अत्यन्त शोक की बात है कि मेगस्थनीज़ की 'इण्डिका' पुस्तक की मूल प्रति उपलब्ध नहीं है, किन्तु अन्य पाश्चात्य लेखकों ने उसके उद्धरण लिए हैं। उन्हीं ग्रंथों के उल्लेखों से पर्याप्त ऐतिहासिक तथ्य ज्ञात होते हैं। उसी पुस्तक के आधार पर ही कतिपय यूनानी तथा रोमीय लेखकों ने भारतवर्ष का वर्णन किया है। यही उसके महत्व का द्योतक है। राजदूत के रूप में आने वाला यह पहला यूनानी राजदूत था, जो विदेशों के प्रति हमारे सौहार्द पूर्ण सम्बन्धों की साक्षी देता है।

चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य तथा शासन प्रबन्ध आदि का ज्ञान हमें मेगस्थनीज़ की 'इण्डिका' तथा कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' से होता है। यद्यपि दोनों के विवरण में पूर्ण साम्य नहीं तथापि हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि यूनानी राजदूत ने अपने अध्ययन से देश का वर्णन किया। राजअतिथि के रूप में वह केवल पाटलिपुत्र में रहा अतः देश की सर्वसाधारण जनता से पूर्ण परिचित न हो सका।

मेगस्थनीज़ ने अपने यात्रा विवरण में पाटलिपुत्र, वर्तमान पटना, का विशद वर्णन किया है। उसने लिखा है कि यह विशाल नगर गंगा व सोन के संगम पर स्थित है। उस समय पाटलिपुत्र की लम्बाई साढ़े आठ मील (८० स्तदिया) और चौड़ाई १३.४ मील (१५०

स्तदिया) थी। यह नगरी समानान्तर चतुर्भुज के आकार की बनी थी और उसकी रक्षा के लिए चारों ओर लकड़ी की प्राचीर थी। प्राचीर के साथ चारों तरफ ४५ फुट गहरी और ६०० फुट चौड़ी खाई खुदी हुई थी। लकड़ी की प्राचीर में ६४ द्वार तथा ५०० गुम्बद थे।

चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन प्रवन्ध के बारे में मेगस्थनीज़ ने लिखा कि चन्द्रगुप्त एक महान शक्तिशाली सम्राट था। अतः पूर्ण शासन सत्ता राजा के हाथ में होती थी। राजा शासन व्यवस्था को छोटी-छोटी बातों को स्वयं देखता था। उसका कार्यक्रम इतना व्यस्त रहता था कि वह मालिश करवाते समय भी प्रजा के दुखों को सुनता तथा राजकर्मचारियों से राज्य की खबरें सुन लेता था।

चन्द्रगुप्त का शासन प्रबन्ध बहुत सुव्यवस्थित था। इसीलिए उसके राज्य में न तो विद्रोह हुआ और न देश की शांति ही भंग हुई। नगर शासन का पूर्ण विवरण हमें मेगस्थनीज़ की 'इण्डिका' द्वारा प्राप्त होता है। वह लिखता है कि नगर प्रबन्ध के लिए ५-५ सदस्यों की ६ समितियां थीं।

एक शिल्पकला समिति थी, जो कलाकारों, मिस्त्रियों और अन्य श्रमिकों का पारिश्रमिक निर्धारित करती थी और औद्योगिक कलाकारों की सुरक्षा का उत्तरदायित्व भी इसी समिति पर था।

वैदेशिक समिति का कर्त्तव्य विदेशियों के आवागमन, निवास स्थान आदि का प्रबन्ध करना था। विदेशियों की मृत्यु के बाद यही समिति उनकी अन्तिम क्रिया करती थी और उनकी धन-सम्पत्ति को उचित उत्तराधिकारियों को देती थी।

जनसंख्या समिति जन्म-मरण का पूर्ण लेखा रखती थी। वाणिज्य व्यवस्था समिति व्यापारियों तथा वणिकों की देखभाल के लिए बनाई गई थी। वस्तु निरीक्षण समिति का कार्य उत्पादित वस्तुओं को देख कर उनके दाम निश्चित करना था, जिससे उद्योगपति अनुचित लाभ न उठा सकें।

कर समिति का कार्य बिक्री की वस्तुओं पर कर वसूल करना था। यह भी काफी महत्वपूर्ण समिति थी। जो व्यापारी कर से बचने का प्रयत्न करता था, उसे प्राण दण्ड तक दिया जाता था।

यह था चन्द्रगुप्त का म्युनिसिपल शासन। जो आपके किसी भी समुन्नत नगर के शासन के लिए सुंदर उदाहरण प्रस्तुत करता है। मेगस्थनीज़ नगर शासन का वर्णन समाप्त करते हुए लिखता है कि पृथक-पृथक विभाग का निरीक्षण पूरे उत्तरदायित्व से किया जाता था। ग्राम का प्रवन्ध ग्रामवासी ही करते थे। गांव का मुखिया गांव के वृद्धों की सलाह से मामलों का निपटारा करता था।

राजदूत मेगस्थनीज़ चन्द्रगुप्त के सैन्य संगठन का विवरण देते हुए लिखता है, कि सेना विभाग का संगठन भी पांच-पांच सदस्यों की छः समितियों द्वारा होता था। फौजी अफसर छः समितियों में विभक्त थे। नौ सेना, पदाति सेना, अश्व सेना, रथ सेना, गज सेना, यातायात व युद्ध सामग्री वाहिनी सेना। सैनिकों की दशा के बारे में मेगस्थनीज़ ने लिखा है, कि ये संख्या में किसानों के बाद सबसे अधिक थी। सैनिकों को नियमित रूप से वेतन मिलता था। उसकी सेना बहुत शक्तिशाली थी, सैनिकों को राज्य द्वारा सब सुविधाएं प्राप्त थीं।

नगर के सैन्य शासन के अतिरिक्त चन्द्रगुप्त के ज़िला शासन पर भी मेगस्थनीज़ ने प्रकाश डाला है।

मौर्य कालीन समाज व सभ्यता का पूर्ण परिचय भी हमें मेगस्थनीज़ की 'इण्डिका' द्वारा प्राप्त होता है। उसके अनुसार भारत की सम्पूर्ण बस्ती दार्शनिक या ब्राह्मण, किसान, गडरिये आदि, कारीगर, गुप्तचर, सभासद व सेना अधिकारी इन सात वर्गों में विभक्त थी। इससे निष्कर्ष निकलता है कि उस समय जाति-पांति का भेदभाव नहीं था।

कौटिल्य व मेगस्थनीज़ दोनों ही के ग्रंथों के अनुशासन से ज्ञात होता है कि मौर्य काल में स्त्रियों की स्थिति वैदिक काल की भांति उन्नत नहीं थी। वह लिखता है कि स्त्रियों को स्वतन्त्रता नहीं थी। ब्राह्मण लोग स्त्रियों को दर्शन की शिक्षा नहीं देते थे। कुछ हिस्सों में स्त्रियों को खरीदने व बेचने की प्रथा थी। पंजाब में सती प्रथा का ज़िक्र मेगस्थनीज़ ने किया है।

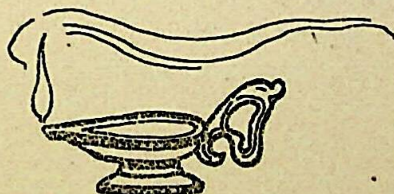
मेगस्थनीज़ भारतीयों की सादगी व सत्य से बहुत प्रभावित हुआ था, अतः उसने लिखा है कि लोग बड़ी सादगी से रहते थे। वे विशेष अवसरों के अतिरिक्त मदिरा नहीं पीते थे। भारतीयों को न्यायालयों में जाने की ज़रूरत नहीं पड़ती। उसने आगे लिखा है कि भारतीय ऐसे ईमानदार थे कि उन्हें गिरवीं या धरोहर के लिए मुहर की ज़रूरत नहीं पड़ती थी। धन-सम्पत्ति की रक्षा के लिए पहरेदार नहीं रखे जाते थे। ये लोग घरों में ताले नहीं लगाते थे। सचाई व आचरण की पवित्रता पर बहुत ध्यान दिया जाता था। देश में मूर्ति पूजा का प्रचार था। भारतीय बड़े अतिथि-प्रिय होते हैं इसलिए यहां विदेशियों तक के लिए कर्मचारी नियुक्त होते थे।

लोगों की आर्थिक दशा के बारे में मेगस्थनीज़ ने लिखा है कि आर्थिक दृष्टि से भारत समृद्ध था। यहां का मुख्य व्यापार कृषि ही था। राजा के आमोद-प्रमोद का वर्णन करते हुए वह लिखता है कि राजा आदर्श विलासिता का जीवन व्यतीत करता था।

इस प्रकार भारतीय इतिहास की सामग्री हमें मेगस्थनीज़ जसे राजदूत और फाह्यान व युआन च्वांग जैसे धर्मनिष्ठ उत्साही यात्रियों व विदेशी इतिहासकारों से प्राप्त होती है। जहां हिंदू, जैन व बौद्ध ग्रंथ मौन हो जाते हैं, वहां ये विदेशी विवरण ही हमारे अतीत पर प्रकाश डालते हैं।

आज हज़ारों वर्ष बीत जाने पर अब उस वैभवशाली पाटलिपुत्र की इमारतें शेष नहीं पर मेगस्थनीज़ के इन विवरणों द्वारा उसका परिचय हमें आज भी मिलता है। अतः उस यूनानी राजदूत के हम आभारी हैं, जिसने भारत आकर भारत के अतीत की गौरव गाथा को निवेदित किया है।

—हैदराबाद से प्रसारित



आग लगे इस फैशन में

रज़िया सज्जाद ज़हीर

नागो ख़ाला जैसी बात करने वाली बीवी अगर चुप दिखाई दें, समझिए कुछ गड़बड़ है। मेरी शामत के पूछा ! बस या तो सांप सूंघा हुआ था या ज्वालामुखी उबल पड़ा। और बात सिर्फ़ इतनी सी थी कि अभी दो-तीन दिन हुए वह अपनी भाभी के घर से लौटी थीं।

—तो क्या ख़ातिर मदारात में कुछ कमी की गई ख़ाला ? —मैंने दबी ज़बान पूछा।

—ऐ है ! ख़ातिर तो बहुतेरी ही की, पर उनके घर का हाल देखके तो मेरा जी जले था के क्या कहूं ? . . . . अरे क्यूं का एक जवाब है। मैं तो कहूं हूं के यह फैशन निगोड़ा आख़िर किस-किस के वज़ा बिगाड़ेगा ? अल्ला मियां ने औरत को बाल दिए हैं, सजावट के लिए या रौनक़ के लिए ! बालों की चोटी गुंथी हो, जूड़ा बंधा हो क्या प्यारा लगेगा. . . . न ! मगर हुवां तो यह है : एक उठीं, जाके बालों में बिजली लगवा आईं—बाल सुकड़ के हब्शी के से हो गए, लम्बे लम्बे, ऐंठूं-ऐंठूं; जा पहुंचे चन्दी पर। . . . . एक उठीं उन्हूं ने खेंच खांच जो खोपड़ी पर धागा कसा तो बाल दुम की तरह लटकने लगे। . . . . एक ने सिरे से ही प्रेस्च कर दिया। एक ज़माना आया था के सारियों में बार्डर जो लगते-लगते बड़े हुए, तो होते-होते इतने बड़े हुए के लगे था अब बार्डर ही बार्डर दिखेगा, सारी खत्म हो जाएगी। फिर वह आड़ी-आड़ी पट्टियां सारी में लगने लगीं, जैसे लिहाफ में गोट, फिर एक सिरे से सब कुछ ही खत्म हो गया। 'नीचे कोरी, ऊपर कोरी पहने मेरी गोरी' वाला हिसाब हो गया। अब तो अजीब ही हाल है. . . गोटा, लचका, बेल सब कुछ ऊपर लगे था और आजकल नीचे लगे है। सारी के पीछे और वह भी तीन साढ़े तीन गज़ ही लगा और बाकी यह ही लटक रहा है और वह जो सारी के साथ पहने हैं, शलूका क्या कहें हैं उसे ?

—बलाऊज़ —मैंने आहिस्ता से कहा।

—ऐ हां हां वही ! बिलाज़ के बिलोज़ जो कुछ भी हो, तो क्या-क्या उसके फैशन बदले हैं। पहले तो वह नीची आस्तीन चली थी।

—पफ —मैंने हंस कर कहा।

—तो ढेरों कपड़ा चुन्नट में जावे था। फिर वह आड़ी चली के कंधों पर झन्डे से खड़े रहते थे। . . . . फिर जो बढ़नी शुरु हुई आस्तीन तो कोहनी पार करती हुई कलाई के पास जा पहुंची और अब के तो मैंने ज़रीना की छोटी लड़की को देखा के अपना बिलोज़ काट रही थी तो न आस्तीन, न बगल, न मोढा, बस यों कैंची चलाती गई जैसे हम लोग छटी-छल्ले में बच्चों के लिए थैले नहीं बनाया करें थे। . . . . कहने लगी आजकल के हिसाब से बहुत ठीक है। औरतों को अब इतनी फुरसत नहीं के बैठी आस्तीन और बगल गढ़ा करें। . . . . मैंने कहा बीबी फिर इतना भी काटने की क्या ज़रूरत, मुए फैशन को आग लगे। चौखुंटा ही पहन लिया करो। . . . . जूतों का भी वही हाल है. क्या अच्छी लगें थी पावें में सलीमशाही और राठीली जूतियां। पहले तो वह ऊंची एड़ी चली, के बीबियां झूलें थी जैसे राजी मियां का बांस। फिर एक वह चला जिस पर रेलगाड़ी रुके है।

मैंने हैरान हो कर पूछा—रेल जूते पे रुके है, जूते पे ?

ऐ ! नहीं बेटी तू तो समझती नहीं है, वह जो उसकी एड़ी होवे थी वह....। अभी अभी दिखाई दिए हैं वैसे जूते, ले कुछ भला सा नाम है....।

—अच्छा वह प्लेटफ़ार्म एड़ी !

हां, हां वही प्लेटफ़ार्म ! नोचे से सपाट, ऊपर से टेढ़ी।.... फिर रस्सियों वाले चले के समझ में न आता था किधर से किधर को बंधी है ! गोरखधन्धा अच्छा खासा, और वह चप्पलें के जने अमा से आई थीं, के जापान से; अंगूठा और ऊंगली चिर कर अलग अलग हो जाती थीं और अब तो जिसे देखो मोटर का पहिया पहने है, ऊपर रंग-बिरंगे फीते लगे और नीचे मोटर के पहिए का तल्ला !

मैंने जरा नईमा को चप्पल अटकाई ऊंगलियों में तो ऐसा लगा जाने छछुंदर पर पांव पड़ गया, मैंने तो उतार फेंकी के आग लगे पांव में कैसी गलगली-गलगली लगे हैं।

—और यह सब तो खैर अलग रहा—सिंगार को देखो। न वह उबटन, न वह मसाले, न मेंहदी न मिस्सी, न पान, न लाखा ! मुंह पर चूना पोत ले हैं और होटों पर असी सुर्खी लगावें हैं के गिलास प्याले सब पर लग जावे।

—कहां वह मसालेदार बीड़े, के घंटों मुंह से खुशबू आवे, कहां वह मेंहदी के हाथ रंगीन भी हों और मुलायम।

—लेकिन नाखूनों पर तो अब जो पालिश लगती है वह —मैंने उनकी बात काटी।

—अरे हां जानू हूं पालिश ! मुंह काला उस पालिश का ! शीशी खोलो तो अस्पताल की सी बदबू भक से आवे है और नाखुन तो सुब्हान अल्लाह। खैर, कोई बात ना है। मैंने तो नईमा से कह दिया के बीबी कोई दिन जाना है के मियां की सूरत पर उसी के खरोंटे नजर आवेंगे।

—तो आपको कपड़ों और श्रृंगार के फैशन पर एतराज है, मगर........

—सदके ! ले कपड़े और सिंघार—नागो खाला जल कर बोलीं। —यही एक बात है। आजकल तो यह भी चला है कि जिसे देखो ढचर जा रही है।

—ढचर ?

—ऐ हां। वह जहां तस्वीरें उछलें-कूदें हैं।

—हां पिक्चर—मैंने कहा।

—हां वही ! क्या तू भी देखे है ?

—जी नहीं —मैं साफ़ झूठ बोलूंगी—मैंने तो आज तक पिक्चर देखी नहीं।

—अच्छा किया—नागो खाला ने दुआएं देते हुए बीड़ा मुंह में रखा —भला यह भी कोई बात, के घर में दाल-चावल बनने को पड़े हैं और बीबी मरदों के कन्धों से कन्धा भिड़ाए पुतलियों का नाच देखें हैं। आग लगे इस फैशन में। शाम हुई और बीबियां बन-सज कर बाज़ार में खड़ी हैं; इस दूकान झांकी, उस दूकान झांकी ; यह चीज़ देखी, वह चीज़ देखी। अब मियां के पल्ले कुछ है के नहीं, पर बीबी को सनीमा की किसी पुतली का ब्लाउज़ पसन्द आ गया और अड़ी हैं कि वैसा ही लेंगी। आज तक कभी न देखा था कि बीबियां होटलों में खाएं, सो अब वह भी देखा। मैं कहती हूं औरतों को शर्म ना आती गर मरदों के आगे चपर-चपर खाते। हम लोग तो घर के मरदों को खिला पिला कर तब खाते थे। जभी तो बरकत थी। घर की बीबियां चटोरपन दिखावेंगी, खुले आम चटक-मटक करेंगी, तो गेहूं आठ ही रुपये का दो सेर मिलेगा। आग लगे इस फशन में।

—लखनऊ से प्रसारित

हिन्दी की सामान्य भूलें

डा० विनयमोहन शर्मा

'हिन्दी' शब्द देश के व्यापक क्षेत्र में व्यवहृत भाषा के लिए प्रयुक्त होता है। डा० ग्रियर्सन ने हिन्दी के दो मुख्य भेद किए हैं, एक पश्चिमी हिन्दी और दूसरा पूर्वी हिन्दी। उन्होंने पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत खड़ी बोली, बांगरू, ब्रज, कन्नौजी और बुंदेली तथा पूर्वी हिन्दी के अन्तर्गत अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी की गणना की है और राजस्थानी जिसकी मालवी, मारवाड़ी, जयपुरी और निमाड़ी उपबोलियां हैं और बिहारी को जिसमें मगही, भोजपुरी तथा मैथिली सम्मिलित हैं, हिन्दी से पृथक माना है। पर कतिपय अन्य भाषाविज्ञानी राजस्थानी और बिहारी भाषाओं को भी 'हिन्दी' के ही अन्तर्गत मानते हैं। इस प्रकार हिन्दी का क्षेत्र वर्तमान पूर्वी पंजाब, दिल्ली, उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश और राजस्थान राज्य है। इन ६ बड़े राज्यों में हिन्दी के विभिन्न रूप बोले जाते हैं और भाषाविज्ञान की दृष्टि से सब शुद्ध हैं, क्योंकि भाषा जन सामान्य के कण्ठ में सतत अपना रूप धारण करती रहती है। संस्कृत का धर्म पालि में धम्म और हिन्दी में धरम बन कर अपने प्रत्येक रूप में शुद्ध है। इसी प्रकार खड़ी बोली का खाट और बुन्देली की खटिया दोनों शुद्ध हैं। प्रान्त-भेद के अनुसार अनेक शब्द भिन्न-भिन्न रूप में बोले जाते हैं। खड़ी बोली का संख्या वाचक 'सौ' बुन्देली में 'सो' पश्चिमी मालवी में 'हो' और पूर्वी हिन्दी में 'सै' बोला जाता है। इसी प्रकार खड़ी बोली का नकारात्मक 'नहीं' बुन्देली में 'नइं' मालवी और छत्तीसगढ़ी में 'नी' बोला जाता है। भूल का प्रश्न तभी उठता है, जब हम भाषा के परिनिष्ठित साहित्यिक रूप पर विचार करते हैं। प्रत्येक भाषा का यह रूप व्याकरण सम्मत होता है और व्याकरण भाषा की स्वाभाविक प्रकृति और प्रवृत्ति के अनुरूप उसके सिद्ध रूप को प्रस्तुत करता है। उसी के द्वारा हमें भाषा के शब्द, उनके रूपों, और प्रयोगों आदि का ज्ञान होता है। अतः जब हम हिन्दी की सामान्य भूलों की बात करते हैं, तब हम उसकी खड़ी बोली के परिनिष्ठित (स्टेण्डर्ड) रूप को ही सम्मुख रखते हैं।

सबसे पहले हम परिनिष्ठित हिन्दी के शब्दों के उच्चारण पर विचार करेंगे। शब्दों के उच्चारण वक्ता के क्षेत्र और शिक्षा-संस्कार के अनुसार भिन्न-भिन्न पाए जाते हैं। 'रत्न' पंजाबी हिन्दी भाषी के मुख से रतन बन कर निकलता है। मराठी क्षेत्र का हिन्दी भाषी 'ऋषि' को 'रूषि' और हिन्दी-क्षेत्र का 'रिषि' कहता है। सबसे बड़ा अन्तर तो तब प्रतीत होता है, जब संस्कृतज्ञ 'अपभ्रंश' को 'अपपभ्रंश' और 'अपव्यय' को 'अपपव्यय' उच्चरित करता है। संस्कृत की दृष्टि से ये उच्चारण ठीक हैं, पर हिन्दी की प्रकृति के अनुरूप नहीं है। हिन्दी में विदेशी शब्दों की संख्या बढ़ती जा रही है, और यह जीवित भाषा की प्रगति का शुभ लक्षण है। विदेशी शब्द हिन्दी की बोलियों में तो उनकी प्रकृति के अनुरूप ढल गए हैं, उनका तत्सम रूप बहुत कुछ परिवर्तित हो गया है, परन्तु परिनिष्ठित हिन्दी में उनके तत्सम और तदभव दोनों रूप चलते हैं। उदाहरणार्थ, अंग्रेजी के 'रिपोर्ट' का तत्सम रूप 'रिपोर्ट' और तद्भव रूप रपट दोनों स्वीकार्य हैं। विदेशी भाषाओं के उभय रूपी अनेक प्रचलित शब्दों के उदाहरण दिए

जा सकते हैं। हिन्दी के राष्ट्रभाषा या राजभाषा हो जाने के परिणामस्वरूप यह देश के प्रत्येक प्रान्त में बोली जाती है, परिणामतः प्रत्येक प्रान्त का हिन्दी प्रेमी अपनी क्षेत्रीय मातृभाषा के लहजे को उसमें जोड़ देता है। अतएव हिन्दी शब्दों के उच्चारण में एकरूपता रहना संभव नहीं है। अंग्रेजी शब्दों के उच्चारण के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। उसका जहां-जहां प्रचार है, उसमें वहां-वहां के व्यक्तियों के लहजे समाविष्ट हो गए हैं। हिन्दी विभक्तियों के प्रयोग में अहिन्दी भाषियों से ही नहीं, हिन्दी भाषियों से भी भूल हो जाया करती है। 'ने' विभक्ति बहुतों का सिर दर्द बनी हुई है। हिन्दी-व्याकरण के अनुसार कर्म और भाववाच्य भूतकालिक कृदन्त-प्रयोगों में यह विभक्ति लगती है। हिन्दी की उपभाषाएं व्रज तथा अवधी में इसका प्रयोग नहीं होता। यह विभक्ति हिन्दी में कहां से आई, इसके सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। बहुतों का मत है, कि यह संस्कृत की तृतीया विभक्ति 'ऐण' से निकली है। पं० किशोरीदास वाजपेयी के अनुसार यह संस्कृत के 'बालकन' से 'इन' अलग करके बनी है। 'इन' वर्ण-व्यत्यय से 'न' 'इ' बना और फिर 'अ' तथा 'इ' में संधि होने से 'ने' रूप को प्राप्त हो गया। जो हो 'ने' के प्रयोग में हिन्दी के कतिपय प्रसिद्ध लेखकों में भी प्रमाद पाया जाता है। उदाहरणार्थ, मैंने पुस्तक लिखा है, मैंने रोटी खाया है आदि प्रयोग भोजपुरी क्षेत्र के अधिकांश लेखकों की कृतियों में सामान्य रूप से पाए जाते हैं। इसके विपरीत जहां 'ने' का प्रयोग होना चाहिए वहां कहीं-कहीं उसका प्रयोग नहीं किया जाता। जैसे, 'मैंने तुम्हारा संदेश कह दिया है' के स्थान पर 'मैं तुम्हारा संदेश कह दिया हूं' प्रचलित मिलता है। पंजाब और पश्चिमी मध्य-प्रदेश के कई लेखक 'को' के स्थान पर 'ने' का प्रयोग करते हैं। जैसे, 'सबको मिल कर काम करना चाहिए' के स्थान पर 'सबने मिल कर काम करना चाहिए' बोला और लिखा जाता है। 'को' का प्रयोग भी बहुत बार अनावश्यक होता ह। जैसे, 'मुझे यह नहीं मालूम' के स्थान पर 'मुझको यह नहीं मालूम,' सामान्य रूप से प्रयोग में आता है। 'तुम्हें' और 'मुझे' के स्थान पर क्रमशः तुमको और मुझको का इतना अधिक प्रयोग होने लगा है, कि भूल का भान ही नहीं रहता। हिन्दी में लिंग की भूलें प्रायः होती रहती हैं। हिन्दी क्षेत्र में ही इस सम्बन्ध में एकरूपता नहीं है। एक ही शब्द विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न लिंग धारण कर लेता है। सामान्य रूप से हाथी पुल्लिग शब्द है, परन्तु बिहारी बोलियों में वह स्त्रीलिंग बन गया है। इसी प्रकार कहीं दही 'खट्टी' और कहीं 'खट्टा' है, कहीं गेंद 'उछलती' है और कहीं 'उछलता' है। कहीं गिलास 'रखा' है और कहीं गिलास 'रखी' है। कहीं मोटर 'जाती' है, कहीं मोटर 'जाता' है। कहीं चर्चा 'होता' है और कहीं चर्चा 'होती' है। हिन्दी में विदेशी भाषाओं से अनेक शब्द आए हैं। उनमें से बहुतों ने अपना लिंग हिन्दी भाषा की प्रकृति के अनुसार स्वीकार कर लिया है, पर कुछ अपना मूल लिंग धारण किए हुए हैं। हिन्दी के जो लेखक विदेशी शब्दों का मूल लिंग जानते हैं, वे उनको उसी लिंग में प्रयुक्त करते हैं। उदाहरण के लिए 'चर्चा' शब्द उर्दू में पुल्लिग है। अतः उर्दूदां की ज़बान और कलम में भी वह पुल्लिग है, परन्तु शुद्ध हिन्दी भाषी की जिह्वा और लेखनी में वह स्त्रीलिंग है। अंग्रेजी की 'कार' हिन्दी की गाड़ी के अर्थ में गृहीत होने के कारण गाड़ी के लिंग के अनुसार स्त्रीलिंग मान ली गई है। इस प्रकार बहुत से विदेशी शब्द हिन्दी भाषा के पर्याय शब्दों के लिंग के अनुसार स्त्रीलिंग या पुल्लिग प्रयुक्त हो गए हैं। विदेशी शब्दों के अतिरिक्त कुछ संस्कृत के तत्सम शब्द भी हिन्दी में उभयलिंगी बने हुए हैं। उदाहरण के लिए 'आत्मा' जो संस्कृत में पुल्लिग है, हिन्दी में पुल्लिग और स्त्रीलिंग दोनों हैं। परन्तु कुछ शब्द हिन्दी में उभयलिंगी स्वीकार नहीं किए जा सके। उदाहरणार्थ संस्कृत का स्त्रीलिंगी देवता हिन्दी में सदैव पुल्लिग ही स्वीकार किया गया है।

अहिन्दी प्रान्तों के हिन्दी-प्रेमियों का आग्रह है, कि यदि हिन्दी की वाक्य-रचना में क्रिया का रूप कर्त्ता या उद्देश्य के लिंग के अनुसार न रहे तो हिन्दी सीखने में सरलता होगी। इस सम्बन्ध में यही कहना है कि प्रत्येक भाषा की अपनी प्रकृति होती है। उसी के अनुरूप वह अपने को ढालती चलती है। उसे कृत्रिम रूप से सुधारा नहीं जा सकता। हो सकता है, भविष्य में कभी क्रिया के रूप कर्त्ता या उद्देश्य के लिंग का अनुसरण न करें और शब्दों के लिंग भी प्राकृतिक लिंग का अनुसरण करने लगें। लिंग के सम्बन्ध में एक और भूल प्रायः होती है। उदाहरण के लिए एक वाक्य सुनिए:—इस टोकनी में आम, नीबू, सेब और लीचियां रखे हैं। यह वाक्य व्याकरण सम्मत नहीं है। इसमें क्रिया का लिंग अन्तिम संज्ञा के लिंग के अनुसार होना चाहिए था। शुद्ध वाक्य इस प्रकार होगा, टोकनी में आम, नीबू, सेब और लीचियां रखी हैं। उसी प्रकार 'सब का मत यह है' के स्थान पर 'सबों का मत' लिखना उचित नहीं है। प्रमादवश 'अनेक बार' के स्थान पर 'अनेकों बार', 'एक-आध बात' के स्थान पर 'एक-आध बातें' लिखना भी गलत है। लोग प्रायः लिख देते हैं 'कि हम इन्हें कई वर्षों से जानते हैं' यह भी शुद्ध नहीं है। हम इन्हें वर्षों से जानते हैं, बोलना या लिखना चाहिए। उर्दूदां 'चाहिए' का बहु बचन 'चाहिएं' लिखते हैं, जो हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल नहीं जान पड़ता। 'शब्द सबके समझने योग्य होना चाहिएं' न लिख कर 'शब्द सबके समझने योग्य होना चाहिए,' लिखना चाहिए।

अनेक शब्दों की वर्तनी भी गलत लिखी जाती है। 'ब' के स्थान पर 'व' और 'व' के स्थान पर 'ब' का प्रयोग बरावर होता रहता है। जैसे 'वन' के स्थान पर 'बन', 'वीर' के स्थान पर 'बीर', 'बातचीत' के स्थान पर 'वातचीत', कई बार सुना जाता है और लिखा जाता है। 'उपर्युक्त' के स्थान पर 'उपरोक्त' की भूल सामान्य हो गई है। संस्कृत के 'माधुर्य' और 'पूज्य' आदि हिन्दी में 'माधुर्यता' और 'पूज्यनीय' के रूप में गलत लिखे जाते हैं। 'प्रकट' के स्थान पर 'प्रगट' बार-बार दिखाई देता है।

जावेंगे, जायेंगे, जाएंगे ; चाहिये, चाहिए ; राष्ट्रीय, राष्ट्रिय ; राजनीतिक, राजनैतिक; घबराना, घबड़ाना में कौन सा रूप सर्वथा शुद्ध है, अभी तक अनिर्णीत है। संस्कृत में राष्ट्रिय, राजनीतिक लिखते हैं, पर हिन्दी में राष्ट्रीय, राजनैतिक धड़ल्ले से चल रहा है। और अब ये रूप टकसाली हो जाने के कारण मान्य हो गए हैं। इसी प्रकार प्रान्त भेद के रोचक कथन सुनिए—कहीं से 'रेलगाड़ी खुलती है' और कहीं से 'रेलगाड़ी छूटती' है। कहीं विद्यार्थी परीक्षा में 'फ़ेल होता है' कहीं 'फ़ेल कर जाता है' और कहीं 'परीक्षा हार जाता है।'

अंग्रेजी के अनेक मुहावरे हिन्दी में ज्यों के त्यों अनूदित होकर चल पड़े हैं, जो अभी भाषा के स्वभाव में खप नहीं पाए। अंग्रेज़ी के 'काट रेड हैंडेड' का हिन्दी अनुवाद 'रंगे हाथों पकड़ा गया' प्रचलित है, जो अंग्रेज़ी न समझने वाले हिन्दी भाषी के लिए सर्वथा अग्राह्य है। वह तो 'चोरी करते पकड़ा गया' या 'अपराध करते पकड़ा गया' जैसी अभिव्यक्ति को समझ सकता है। कई बार अंग्रेज़ी शब्दों का अनुवाद भी हास्यास्पद हो जाता है। एक पत्र में 'टैंक' नामक युद्ध गाड़ी का अनुवाद 'तालाब' किया गया था, जिसका मूल शब्द के अर्थ से कोई सम्बन्ध भी नहीं है। इसी प्रकार 'रेडटेप' का 'लाल फीता' अनुवाद भी हिन्दी में ठीक अर्थ का बोध नहीं देता। मध्य प्रदेश के मराठी से प्रभावित भागों में साथ-साथ चलने के स्थान पर मिल कर चलने का प्रयोग चल रहा है, उदाहरणार्थ, हम-तुम मिल कर चलेंगे। इन्हीं क्षेत्रों में 'आपत्ति' के लिए मराठी में प्रचलित 'हरकत' शब्द चल रहा है। जैसे 'यदि आप की पुस्तक मैं ले लूं तो कोई हरकत तो नहीं है ?' कई हिन्दी भाषी 'इंकार' करने के लिए 'मना' करने का प्रयोग करते हैं, जो उचित नहीं है। उदाहरण के लिए यदि मैं कहूं कि एक मासिक पत्र के सम्पादक ने मुझे

लेख भजने को लिखा, पर मैंने मना कर दिया तो यह ठीक अर्थ नहीं देगा। मना कर दिया के स्थान पर इंकार कर दिया होना चाहिए।

भाषा स्थान-काल भेद के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। परन्तु यह परिवर्तन सहसा नहीं होता। जब विभिन्न भाषा-भाषी एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं, तब परस्पर शब्दों मुहावरों आदि का आदान-प्रदान होता रहता है। हिन्दी का क्षेत्र अखिल देशीय हो गया है। अतः उसके जिन प्रयोगों को हम आज अशुद्ध मानते हैं, वे भविष्य में अति प्रचार क कारण अशुद्ध नहीं रह जाएंगे।

—भोपाल से प्रसारित

हंसी के पाश

डा० जगदीश गुप्त

हा हा हा !!!
खोखली हंसी हम सब हंसते हैं
गूंजते हुए लम्बे पाशों से हंसी के
इसको, उसको, खुद को, कसते हैं
जानते हैं—हंसी यह
खोखली है, झूठ है, दिखावटी है,
फिर भी हम इसी की कसौटी पर
कंचन से निर्मल सम्बन्धों को कसते हैं।

कहते हैं एक ज़हर ऐसा भी होता है
खा लेने पर जिसके
डूबता नहीं है मन
ऐंठता नहीं है तन
सिर्फ़ हंसी आती है
सिर्फ़ हंसी आती है।

—इलाहाबाद से प्रसारित



कश्मीर के मुग़ल उद्यान

रामचन्द्र टंडन

कश्मीर को प्रकृति ने यों भी क्या कम सौन्दर्य दिया है, फिर भी मनुष्य उसे संवारने में लगा रहा है। इस प्रयत्न ने यहां विशेषकर उद्यानों की रचना का रूप लिया है। मुग़ल बादशाहों के ज़माने में, कश्मीर में, कितने ही उद्यान बनाए गए, जिनमें से कुछ की शोभा और सजावट क अवशेष आज भी दीखते हैं। उद्यानों की परम्परा इस प्रदेश में बहुत पुरानी है। यहां के पर्वतों, नदी-नद-निर्झरों ने प्राचीन शैवों को, उपवनों के निर्माण की प्रेरणा दी। बौद्धकाल में कश्मीरी भिक्खु और विद्वान तुर्किस्तान और चीन गए और उद्यानों की परम्परा वहां ले गए और फिर यह परम्परा चीन से जापान पहुंची, जहां यह आज भी जीवित है। समरकंद और फरग़ना में, उद्यान प्रेमी बाबर ने, जो उद्यान देखे उन पर भारतीय उद्यान-कला का प्रभाव पड़ चुका था। उसने ईरानी उद्यान-कला को भी देखा-भाला। मुग़ल बादशाहों ने तुर्किस्तान और ईरान के उद्यानों की समन्वित कला को भारत में उतारा।

कश्मीर पर सबसे पहले अकबर ने १५८७ में अधिकार किया। तभी मुग़ल उद्यानों की यहां नींव पड़ी। कश्मीर का जलवायु, यहां की प्रकृति और भूमि इस प्रयोग के बहुत अनुकूल ठहरी और बताते हैं कि केवल डल झील के किनारे लगभग ७०० मुग़ल उद्यान बने। अब तो उनमें से चार-पांच ही बच रहे हैं।

डल झील के किनारे-किनारे बने उन उद्यानों में कुछ समान बातें हैं। इनके लिए स्थानों का चुनाव पर्वत की सहज ढलानों पर हुआ है। यह बाग सीढ़ियों जैसे अनेक उत्तलों पर फैले हैं। सबमें पानी का सुपास है। पानी निर्झरों से जलाशयों में इकट्ठा होता है और वहां से छिछली पक्की नहरों द्वारा उद्यानों के सभी स्तरों पर उतरता है, कहीं ढालुआं और कहीं खड़े निर्झर के रूप में छोटे-बड़े हौज़ों में आता है, जिनमें फव्वारों का प्रबन्ध है। बाग़ हरी घास के फर्श, फूलों, कुंजों, क्यारियों, छोटे-बड़े वृक्षों से सजा होता है। बीच बीच में बारादरियां या मंडप होते हैं। प्रवाह का पानी आकर डल में मिल जाता है।

डल के किनारे बने चार उद्यानों की चर्चा करूंगा।

पहला उद्यान, जो राजधानी श्रीनगर से सबसे निकट और सबसे छोटा है, परन्तु बहुत ही रमणीक है, वह है चश्माशाही। बस, मोटर, तांगे से यहां (बल्कि सभी मुग़ल उद्यानों में पहुंचा जा सकता है। डल के किनारे सुन्दर-पक्की सड़क बनी हुई है। पर बहुत से सैलानी, जल-मार्ग से, शिकारों पर यहां आना पसन्द करते हैं। बहुत थोड़ा रास्ता चल कर आप बाग के द्वार पर पहुंच जाएंगे। यह ऊंची चहारदीवारी से घिरा हुआ है। बहुत सीढ़ियां चढ़ कर आप एक बारा-दरी में पहुंचेंगे, फिर सामने वह मण्डप मिलेगा, जिसमें चश्माशाही निर्झर रूप में गिर रहा है। सच पूछिए तो इस चश्मे का पानी इतना मधुर, शीतल, और पाचक है कि इसी को पीने के लिए बहुत-से लोग श्रीनगर से पांच मील यहां आते हैं। श्रीनगर के कुछ निवासी तो बराबर यहीं का पानी पीते हैं। दो नलों से आकर पानी एक छोटे से संगमर्मर के कुण्ड में गिरता है।

इन्हीं नलों से पानी लेकर पीजिए। हमने तो अंजुलियों से जी भर कर पानी पिया, फिर भी और पीने की इच्छा बनी रही। पानी इतना स्वच्छ है कि कुण्ड में चवन्नी डाल कर उसे तल से उठा लीजिए। सामने डल का दृश्य अत्यन्त रमणीक है। पास के एक पर्वत पर परी महल—सत्रहवीं सदी की एक वेधशाला—के अवशेष दिखते हैं। यह उद्यान, शाहजहां की आज्ञा से, १६४२ में, यहां के राज्यपाल मर्दान खां ने बनवाया था। यह इतना छोटा है कि इसकी लम्बाई ३४० फुट और चौड़ाई बस सवा सौ फुट है।

चश्माशाही से दो-ढाई मील की दूरी पर, डल से लगा हुआ, एक बड़ा मुग़ल उद्यान है—निशातबाग। यह लगभग अठारह सौ फुट लम्बा और ग्यारह सौ फुट से अधिक चौड़ा है। इसे नूरजहां के भाई आसफ खां ने १६३० में बनवाया था। शायद सबसे अच्छा मुग़ल उद्यान यही है। यह दस स्तरों या बड़ी सीढ़ियों पर बना है। सबसे ऊपर की सीढ़ी से डल का दृश्य देखिए। पानी के प्रवाह के लिए दसों सीढ़ियों से गिरता हुआ पक्का जलमार्ग है, जो तरह-तरह के झरने बनाता है और अनेक जलकुण्डों में फव्वारों द्वारा गिरता है। सप्ताह में एक दिन ये सब झरने चलते मिलेंगे। यात्रियों और नागरिकों का जमघट देखिए और लता-वितानों और पुष्पराशि की शोभा! प्रवेशद्वार के पास एक उसी समय का मण्डप है और एक दूसरा मण्डप कुछ ऊपर के स्तर पर है। दोनों में लकड़ी की अच्छी कारीगरी मिलेगी। इस बाग के विस्तार और स्थिति पर जहांगीर मुग्ध हुआ था लेकिन शाहजहां तो १६३३ में इस पर इतना मुग्ध हुआ कि इसे शाही बाग बना लेने की उसकी इच्छा हुई। लेकिन आसफखां इस पर अपना मोह न छोड़ सका। कहते हैं कि नाराज़ होकर शाहजहां ने निशात को सींचने वाली नहर का पानी कटवा दिया। निर्झर और फव्वारे बन्द हो गए। पेड़-पल्लव सूखने लगे। आसफखां उदास, पर विवश था। अपने स्वामी की यह दशा देख कर और जान पर खेल कर, माली ने बादशाह की आज्ञा के विरुद्ध नहर का पानी फिर निशात बाग में खोल दिया। अन्त में बादशाह ने उदारता दिखाई और नहर के पानी से उद्यान की सिंचाई की आज्ञा दे दी।

निशात से दो मील और आगे, डल के किनारे, प्रसिद्ध शालीमार बाग मिलेगा। किंवदंती है कि इस जगह को प्रवरसेन द्वितीय ने, जो ईसा की दूसरी सदी में कश्मीर का राजा था, उद्यान के लिए चुना था। राजा के गुरु सुकर्म स्वामी का आश्रम, यहां से और दो मील ऊपर हरवन में था। मार्ग में आते-जाते वह राजा यहां विश्राम किया करता था और यहां उसने एक घर और एक बाग़ बना लिया था। इनके अब कोई चिह्न नहीं। १६१९ में, जहांगीर ने नूरजहां के आमोद-प्रमोद के लिए, इसी स्थल पर एक नया बाग़ बनवाया। यह निशात से छोटा है और इसमें चार ही स्तर हैं बाकी बातें निशात जैसी हैं। सिंचाई, झरनों और फव्वारों के लिए नहर द्वारा हरवन से पानी आता है। इस शाही बाग के तीन खण्ड थे। पहला आम लोगों के लिए खुला था। दूसरे में बादशाह का निवास था, तीसरा खास बेगमों का विहार-स्थल था। इसी में एक काले पत्थर का सुन्दर मण्डप है, जिसके चारों ओर हौज़ और फव्वारे हैं। रात में इनकी दीपमालिका के लिए जाने कितने आल बने हैं, जिन पर रखे दीपों का प्रकाश जल पर पड़ता रहा होगा। इस बाग में होने वाले राग-रंग की अब तो कल्पना मात्र हो सकती है। कहते हैं, यहां के विशाल चिनार जहांगीर की आज्ञा से रोपे गए थे।

डल झील के दूसरी ओर, निशात के ठीक सामने, नसीम बाग है। इसकी भी पहले जैसी शोभा नहीं रही। मुग़लों की कश्मीर विजय के बाद, अकबर की आज्ञा से यह बाग लगाया गया था। यहां चिनार-वृक्षों का समूह है। यह स्थान हजरतबल के पास, श्रीनगर से ७ मील की दूरी पर है। बाग के सामने झील का पाट बहुत कम चौड़ा है। फव्वारों, जलप्रवाहों और

लतावितानों के निशान यहां नहीं हैं। हां, चिनारों की शोभा यहां देखिए। कहते हैं, यहां शाहजहां ने चिनार के १,२०० बूटे लगाए थे, और उन्हें दूध और पानी से सींचा जाता था। झील के तट पर, ऊंचाई पर, बाग है और संध्याकालीन समीर के सेवन के लिए बड़ी अच्छी जगह है। इसी से इसका नाम नसीम बाग पड़ा है। झील का दृश्य यहां से भी बहुत सुहाना लगता है। किसी फारसी कवि ने कहा है:

सुब्ह दर बाग़े निशातो, शाम दर बाग़े नसीम।
शालामारो लालाज़ारो सैरे कश्मीरस्तो बस्त॥

सुबह निशात में काटी, शाम नसीम में और शालीमार की पुष्पवाटिकाएं देख लीं तो कश्मीर में देखने योग्य क्या रह गया?

पर श्रीनगर के पड़ोस के इन उद्यानों से कश्मीर के मुग़ल उद्यानों की इतिश्री नहीं होती। दो और उद्यानों की बात करना चाहूंगा, जिन्हें देखने का अवसर हमें मिला।

इनमें से पहला है वेरीनाग का उद्यान। जम्मू से श्रीनगर जाते हुए बानिहाल की लम्बी सुरंग पार करनी पड़ती हैं। सुरंग पार करके कुछ ही दूर आगे जाने पर, सड़क की एक शाखा दाहिनी ओर मुड़ती है और दो मील जाने पर बानिहाल के दामन में वेरीनाग पड़ता है। यहां पानी का एक चश्मा है, जिसे जेहलम का स्रोत बताया जाता है। यहां जहांगीर ने एक अठपहल सरोवर १६२० में बनवाया। पास ही एक उद्यान बनवाया। शाहजहां ने बाद में यहां से एक नहर निकाली, जो बाग के बीच से निकलती है और जिसमें फव्वारे भी लगे हैं। बाग में एक प्राचीन हिंदू मन्दिर है। सरोवर का पानी स्वच्छ है और इसमें मछलियां पली हुई हैं—थोड़ा सा दाना बिखेरिए और इनका जमघट देख लीजिए। जगह शांत है। चिलकती धूप में भी किसी घने चिनार के नीचे बैठिए कि आराम से आंखें मुदने लगती हैं। पास में धरती फोड़ कर पानी का एक सोता निकलता है—यह पानी बड़ा पाचक कहा जाता है। सरोवर के किनारे की दीवार पर एक फारसी लेख है, जिससे पता चलता है कि १०३० हिज्री में शाहजहां की आज्ञा से हैदर नाम के किसी व्यक्ति ने उसे अंकित किया था। आस-पास कुछ पुरानी इमारतों के अवशेष हैं।

श्रीनगर से बाहर के जिस दूसरे उद्यान के बारे में कहना चाहता हूं, वह है अच्छबल। यह श्रीनगर से चालीस मील की दूरी पर है। अनन्तनाग होते हुए पक्की सड़क यहां तक लगी हुई है। अनन्तनाग से सात मील पर यह स्थान है। कश्मीर के मुग़ल उद्यानों का यह एक सुन्दर नमूना है।

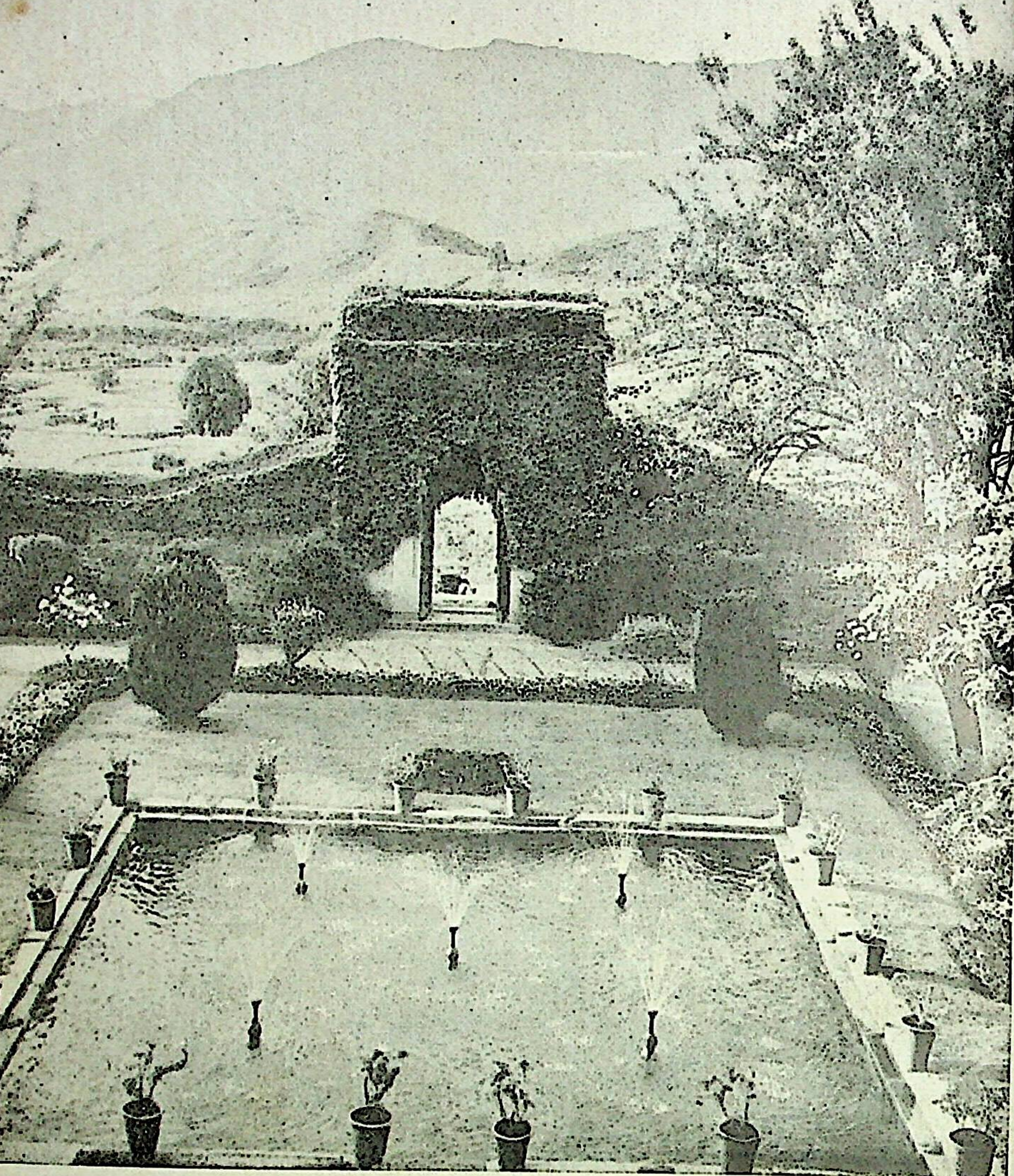
छठी सदी के अन्त और सातवीं के आरम्भ में अवश नाम का राजा कश्मीर में हुआ था। उसी के नाम पर इस जगह के चश्मे का नाम अवशबल पड़ा जो अब 'अच्छबल' हो गया है। पहाड़ की ढलान पर चश्मे का पानी जगह-जगह से फूटता है। एक स्थान पर मुंह इतना बड़ा है कि आदमी तैर कर भीतर जा सकता है। १६२० में नूरजहां ने अच्छबल की सैर की, तो उसके मन में बाग को बड़ा करने का विचार उठा। जगह का नाम बेगमाबाद पड़ा पर पुराना नाम न मिट पाया। इस बाग में भी विशाल चिनार के वृक्ष हैं। बाग बहुत बड़ा नहीं। पत्थर की फसील से घिरा है। चश्मे का पानी नहर द्वारा बाग के भीतर से गुज़रता है। एक बड़ा झरना है, बारहदरी है, फव्वारों और फूलों की बहार देखने को मिलती है। बर्नियर ने १६३३ में जब कश्मीर यात्रा की थी, तो इस स्थान का सुन्दर वर्णन किया था। जल यहां का भी बहुत अच्छा कहा जाता है।

मुग़ल उद्यान तो कश्मीर में और भी अनेक हैं। ये केवल ऐतिहासिक स्थल नहीं, इनमें आज भी ऐसा आकर्षण है, जो कश्मीर के यात्री को अपनी ओर खींचता है और उसे मोहित करता है।

—दिल्ली से प्रसारित

डल झील





चश्माशाही श्रीनगर

दाएं ऊपर—निशात बाग़ में फव्वारे

दाएं नीचे—शालिमार बाग़

वेरीनाग

अच्छबल का मुग़ल उद्यान

रंगमंच की दृष्टि से हिन्दी नाटकों का अध्ययन

वीरेन्द्र नारायण

मैं तो यह नहीं मानता कि रंगमंच के अलावा भी नाटकों को देखने का कोई दृष्टिकोण हो सकता है । हां, रंगमंच की व्याख्या को थोड़ा फैलाना पड़ेगा, क्योंकि नाटक के प्रदर्शन का माध्यम सिर्फ़ रंगमंच ही नहीं रह गया है। रेडियो और टेलीविज़न जैसे माध्यम भी इसमें शामिल हैं।

नाटकों पर विचार करते समय यह प्राय: देखने और सुनने को मिलता है कि अमुक नाटक रंगमंच के अनुकूल नहीं । अच्छा तो यह होता कि हम पहले नाटक और रंगमंच की परिभाषा ही निश्चित कर लेते। लेकिन नाटक और रंगमंच का साधारणत: जो अर्थ समझा जाता है, उसे ही हम मान लें तो नाटकों के प्रकार की ही तरह रंगमंच और उस पर होने वाले प्रदर्शन के भी प्रकार होते हैं।

साधारणत: रंगमंच और प्रदर्शन का प्रकार नाटक द्वारा ही निर्धारित होता है। कुछ नाटक घोर यथार्थवादी होते हैं। उनका प्रदर्शन भी, जिसमें रंगमंच भी शामिल है, यथार्थवादी ही होता है। तो नाटक पर रंगमंच की दृष्टि से विचार करते समय हमें देखना यह चाहिए कि एक नाटक जिस प्रकार के रंगमंच और प्रदर्शन की अपेक्षा रखता है, उस प्रकार का प्रदर्शन सम्भव हो, तब उसका क्या असर होगा ? अगर इन सारी सुविधाओं के बावजूद नाटक का कोई असर नहीं होता तो नाटक असफल है।

इसी कारण हिन्दी में आलोचकों और नाटककारों के बीच एक खाई-सी बनती जा रही है । आलोचक यह लिख कर सन्तोष कर लेते हैं, कि अमुक नाटक रंगमंच के अनुकूल नहीं। नाटककार की यह मान्यता होती है कि रंगमंच को नाटक के अनुकूल होना चाहिए। अधिकांशत: मैं नाटककार की मान्यता से सहमत हूं। लेकिन साथ ही यह भी कहना असंगत नहीं कि हर रचना को लेखक का हठ नाटक की संज्ञा का अधिकारी नहीं बना सकता।

उदाहरण के लिए प्रसाद जी के नाटक यह कह कर टाल दिए जाते रहे कि रंगमंच की दृष्टि से ये अनुपयुक्त हैं । शायद आलोचकों के ध्यान में यथार्थवादी प्रदर्शन ही रहा हो और इसी कारण हर दस-पन्द्रह मिनट पर बदलने वाले दृश्यों को देख कर आलोचकों ने यह धारणा स्थिर कर ली हो । अच्छे साधन हों, तो प्रसाद जी के नाटकों को यथार्थवादी शैली में भी प्रस्तुत किया जा सकता है। लेकिन उनके नाटक को पढ़ते समय संस्कृत नाटकों की यथार्थवादी परम्परा ही सामने आती है। इसलिए स्वभाव और प्रवृत्ति के अनुसार अयथार्थवादी प्रदर्शन ही प्रसाद जी के नाटकों के अनुकूल पड़ेगा । प्रसाद जी की रचनाओं के प्रति न्याय तभी हो सकता है, जब इस दृष्टि से उनके नाटकों पर विचार किया जाए। रंगमंच की दृष्टि से नाटकों पर विचार करने का एक और दृष्टिकोण है। नाटक के संभाषणों को यों पढ़ने पर उनसे चरित्र-चित्रण इत्यादि बातों का तो पता चलता ही है, रंगमंच की दृष्टि से उन्हें देखा जाए तो रंगमंच पर पात्रों के इधर से उधर जाने का, घटनाक्रम की तीव्रता और गति आदि

का भी उससे संकेत मिलता है। यही कारण है कि शेक्सपीयर की रचनाओं को पढ़ते समय जो अनुभूति होती है, रंगमंच पर उन्हें देखते समय, जैसे उस अनुभूति का स्तर ही बदल जाता है और उसमें एक नया क्षितिज झांकने लगता है। मेरा विश्वास है कि हिन्दी के भी अयथार्थवादी नाटकों को विशेषकर प्रसाद जी की रचनाओं को रंगमंच की दृष्टि से देखा जाए, तो हमें उस क्षितिज का आभास मिलेगा, जो प्रदर्शन में स्पष्ट होकर सामने आ सकेगा।

उदाहरण के लिए स्कंदगुप्त में विजया के प्रेम-निवेदन वाला वह पद्य सामने रखता हूं——

अगरु धूम की श्याम लहरियां उलझी हों इन अलकों से,
मादकता लाली के डोरे इधर फंसे हों पलकों से।
व्याकुल बिजली सी तुम मचलो आर्द्र-हृदय-घन माला से,
आंसू बरुनी से उलझे हों, अधर प्रेम के प्याला से।
इस उदास मन की अभिलाषा अटकी रहे प्रलोभन से,
व्याकुलता सौ-सौ बल खाकर उलझ रही हो जीवन से।

इत्यादि, इत्यादि।

रंगमंच की दृष्टि से देखा जाए, तो इन पंक्तियों का संकेत कुछ इस प्रकार का समझा जाएगा :

विजया अपने बालों से खेलती हुई स्कंद की ओर आंखों में आंखें डाल कर देखती है। स्कंद अशांत है, इसलिए चंचल विजया का निमंत्रण मुखर हो उठता है——वह आर्द्र-हृदय घन-माला में व्याकुल बिजली सी मचलने का आमंत्रण देती है या स्वयं उस तरह मचलने की कामना प्रकट करती है। उस समय की कल्पना करती हुई वह आगे की दो कड़ियां कहती है। इत्यादि, इत्यादि!

दरअसल रंगमंच वह साधन है, जिससे नाटक को साकार किया जा सकता है। रंगमंच की नाटक से अलग कोई आवश्यकता ही नहीं। इसलिए रंगमंच की दृष्टि से नाटक पर विचार करते समय साधन की सीमाएं ध्यान में रहनी ही चाहिएं और साधन को साध्य मानने की गलती से बचना चाहिए। इस समय यथार्थवादी रंगमंच और प्रदर्शन को एकमात्र कसौटी मान कर जिस तरह नाटकों का मूल्यांकन किया जा रहा है, उससे नाट्य-रचना पर दो प्रकार का अवांछित प्रभाव पड़ रहा है।

पहला प्रभाव तो यह है कि यदि एक ही सेट पर किसी नाटक का स्थापत्य नहीं बैठता, तो लेखक दुनिया भर की कलाबाजियां खाकर नाटक को एक सेट पर फिट करता है। इस सरकसबाजी में बहुत सारे ऐसे कमजोर स्थल आ जाते हैं, जिन्हें आसानी से अलग किया जा सकता था।

कथानक, स्थापत्य और विचारों की दृष्टि से नाटकों की परिकल्पना की परिधि सिमट कर बहुत छोटी रह गई है। जब से 'रंगमंच की दृष्टि से नाटकों' के अध्ययन की यह घातक प्रणाली चल पड़ी है, प्रकाशित नाटकों का विषय और परिधि के अनुसार अध्ययन किया जाए, तो बड़ा ही संकुचित और सीमित चित्र सामने आएगा।

यथार्थवादी प्रदर्शन का जन्म पश्चिम में हुआ, लेकिन वहां भी यह लेखक की सर्जनात्मक प्रतिभा का बन्धन नहीं बन सका। अमेरिका के कई ख्यातिप्राप्त लेखकों की ऐसी रचनाएं सर्वश्रेष्ठ मानी गई हैं, जिनके एक-एक अंक में कई दृश्य हैं और शायद औसत दृश्य १०–१२ मिनट से अधिक का नहीं। उदाहरण के लिए मैक्सवेल ऐंडरसन का 'विंटर सेट' और हाइटोर पोल ग्रीन का 'जौनी जौनसन' और फिलिप बैरी का 'द एनीमल किंगडम' काफी होना चाहिए। मैं यह नहीं

कहता कि यथार्थवादी नाटक और रंगमंच के लिए कोई स्थान ही नहीं। मैं सिर्फ यह कहना चाहता हूं कि एक विशेष प्रकार के प्रदर्शन और रंगमंच की बेड़ी नाटक रचना को नहीं पहनाई जानी चाहिए।

यही स्थिति संभाषणों के बारे में भी है। साधारणतः यह कहा जाता है कि अमुक नाटक के संवाद चुटीले नहीं, बड़े लम्बे-लम्बे संभाषण हैं, इत्यादि, इत्यादि। रंगमंच की दृष्टि से संभाषणों के विषय में भी कोई ऐसा चलता-फिरता फ़तवा दे देना खतरे से खाली नहीं। कुछ स्थलों पर छोटे, चुटीले और तीखे संवाद अच्छे लगते हैं। कुछ नाटकों की प्रवृत्ति ऐसी होती है कि हल्के-फुल्के संभाषण ही उसके साथ खिलते हैं। इसके विपरीत ऐसे भी नाटक होते हैं, जिनमें लम्बे संभाषणों के बिना काम ही नहीं चलता। आलोचक और निर्देशक की कैंची के फलस्वरूप आए दिन आचार्यों की रचनाओं का जो रूप देखने को मिलता है, वह सिर्फ इस बात का द्योतक है कि आलोचक और निर्देशक ने लेखक का अभिप्राय ही नहीं समझा है, नाटक की पंक्तियों को लेकर उनके साथ निर्दयतापूर्वक खिलवाड़ मचाया जा रहा है। यही कारण है कि एक रचना पढ़ने पर हमें जो आनन्द मिलता है, उसे रंगमंच पर देखने में हमारी आशाएं टूट जाती हैं और हम ठगे-से रह जाते हैं।

नाटक लेखक की कल्पना में आकार ग्रहण करता है। निर्देशक और अभिनेता उस पर हाड़-मांस चढ़ा कर उसे हमारे जाने-पहचाने पात्रों का रूप देते हैं। दर्शकों की कल्पना में लेखक, निर्देशक, अभिनेता की सम्मिलित कल्पना से एक नया ही चित्र बनता है। इस जटिल सर्जनात्मक प्रक्रिया में रंगमंच का जो महत्व है, उससे इंकार नहीं किया जा सकता। लेकिन उसे ही सब कुछ भी नहीं माना जा सकता।

—दिल्ली से प्रसारित

सलाह की दो बातें

शान्ति मेहरोत्रा

नीम को नीम कहने वाले
ओ दकियानूसी मित्र!
जरा होश कर,
मेरी सलाह की दो बातों पर
ध्यान धर!
कल्पना दी है भगवान ने
तो निमौलियों को अंगूर मान!
सदा दे आदर,
इसी से खुश होंगे
तेरे भाई-बिरादर।

ढंग से जीना है
तो बुद्धि को सुला,
सूझ को जगा,
नीम को और कुछ नहीं
तो कह आम का सगा,
तभी सुख पाएगा,
चैन की बंसरी बजाएगा।

—इलाहाबाद से प्रसारित

संगीत और नृत्य को दक्षिण की देन

रुक्मणी देवी

दक्षिण भारत ने भारतीय संस्कृति की श्रीवृद्धि में महत्वपूर्ण योग दिया है। दक्षिण भारत की भौगोलिक स्थिति ऐसी है कि उस पर इतने विदेशी आक्रमण नहीं हुए, जितने उत्तर भारत पर हुए थे। फलतः मुसलमानों के आने से पहले देश में जो संस्कृति सर्वत्र प्रचलित थी, वह दक्षिण भारत में मुसलमानों के आक्रमण के बाद भी सुरक्षित रही।

जब तक मुसलमान दक्षिण भारत पहुंचे तब तक वे भी भारतीय संस्कृति से प्रभावित हो चुके थे और एक प्रकार से विदेशी नहीं रह गए थे। बहमनी और बीजापुर के मुसलमान शासकों ने हिन्दू कला तथा साहित्य को काफी प्रोत्साहन दिया।

दक्षिण भारत में शास्त्रीय संगीत और नृत्य शैलियों का प्रचलन है। हां, दक्षिण ने उनमें और सौन्दर्य एवं गम्भीरता का समावेश किया है।

यह सभी जानते हैं, कि शास्त्रों में नृत्यों को संगीत के ही अन्तर्गत माना गया है। वास्तव में संगीत को ही मूर्त्त रूप देने के लिए नृत्य का जन्म हुआ। देश में संगीत की परम्परा तो प्राचीन काल से अब तक अक्षुण्ण चली आई है, परन्तु नृत्य के बारे में ऐसा नहीं हुआ और बीच में इसका ज्ञान लुप्त सा हो गया था।

देश में संगीत और नृत्य के माध्यम से धर्म और दर्शन का प्रसार किया गया, इसलिए यहां के लोगों के हृदय में संगीत और कला की जड़ें गहरी जम गईं। यहां नाटकों में, नृत्य में, मंदिरों, खेत-खलिहानों, महलों और झोपड़ियों में—सर्वत्र संगीत का प्रमुख स्थान रहा। यदि संगीत न होता तो देश के जीवन में बहुत बड़ी शून्यता आ जाती।

इधर देश में इस प्रकार की शिक्षा का प्रसार हुआ कि हम संगीत की उस अमूल्य परम्परा के प्रति उदासीन हो गए और उसका ज्ञान बिसरने लगे। फिर भी कुछ राजाओं और धनाढ्यों ने अपने दरबार में महान संगीतज्ञों को उच्च स्थान दिया और इस प्रकार उस महान परम्परा को जीवित रखने में समर्थ रहे। दक्षिण भारत में घर-घर में बच्चों को महान संगीतज्ञों की रचना की शिक्षा दी जाती रही। यही कारण है कि दक्षिण भारत में संगीत की परम्परा अक्षुण्ण बनी रही।

कोई भी देश संगीत के बिना जी नहीं सकता। भारत की तो यह आत्मा ही रही है। यहां के आदि महाकाव्य रामायण को, जो संसार का सबसे पहला महाकाव्य है, आदि कवि महर्षि वाल्मीकि ने संगीत की लय में लिखा है और भगवान राम के पुत्र लव और कुश, पूरी रामायण को इतने मधुर कण्ठ से गाते थे, कि उसे जो भी सुनता, वही मंत्रमुग्ध हो जाता था।

इस देश में संगीत को ब्रह्म कहा गया है। भगवान कृष्ण ने भी लोगों का हृदय जीतने के लिए बांसुरी का सहारा लिया। उनकी मुरली की धुन सुन कर मनुष्य क्या, पशु-पक्षी तक मुग्ध हो जाते थे।

संगीत और नृत्य भाव-प्रधान होते हैं, इसलिए देश में विभिन्न भावों के अनुरूप अनेक राग-रागिनियों की रचना हुई। पाश्चात्य देशों में संगीत में स्वर-संक्रम पर विशेष ध्यान दिया जाता है, परन्तु यहां राग को ही सर्वोपरि माना जाता है। राग व्यक्तिगत चीज़ है, इसलिए यहां संगीत की शिक्षा में गुरु-शिष्य की परम्परा है। भारतीय संगीतज्ञ अपने भाव से राग में और विशेषता ला देता है।

दक्षिण भारत की संगीत परम्परा में भी राग को ही मुख्य स्थान दिया गया है। शैव संत नायनमारों के भजन, उनके समय जिन रागों में गाए जाते थे, लगभग उसी बंदिश में आज भी गाए जाते हैं। आज भी उच्च कोटि की संगीत रचना की जा रही है। इस प्रकार दक्षिण में पुरानी शास्त्रीय संगीत की परम्परा अविच्छिन्न कर रखी गई है।

संगीत रत्नाकर के बाद दक्षिण भारत में संगीत के अधिकांश मुख्य ग्रन्थ रचे गए। वेंकट मही ने अपने ग्रन्थ चतुर्दण्डी प्रकाशिका में रागों का जो वर्गीकरण किया है, वह मौलिक चीज़ है। भातखण्डे और उनके शिष्यों पर वेंकट मही का काफी प्रभाव पड़ा है।

दक्षिण भारत में नृत्य परम्परा भी संगीत के साथ-साथ चलती रही। वहां अनेक प्रकार के बहुत सुन्दर लोकनृत्य प्रचलित हैं। तमिल, तेलुगु, कर्नाटक और केरल क्षेत्र में भाषा के साथ लोकनृत्य शैली में भी विभिन्नता है। प्रत्येक क्षेत्र में अपने अलग ढंग के नृत्य प्रचलित हैं। अब दुर्भाग्यवश इनमें से अनेक शैलियां लुप्त होती जा रही हैं, क्योंकि अब गांवों के बजाए शहरों को ही संस्कृति का केन्द्र माना जाने लगा है।

शास्त्रीय संगीत की भांति शास्त्रीय नृत्य का आधार भी धार्मिक रहा है। दक्षिण भारत में मंदिरों की देवदासियां उच्च कोटि की नर्तकी हुआ करती थीं। वे सभी पर्वों में मंदिरों के अलावा बाहर महलों, हवेलियों आदि में नृत्य किया करती थीं। इसे 'सदिर' नृत्य कहा जाता था। अनेक कारणों से यह नृत्य बदनाम होने लगा और धीरे धीरे लुप्तप्राय: हो गया। देवदासियां अपनी कला में पारंगत होती थीं। वे मंदिरों में नृत्य करते समय यह समझती थीं कि वे अपनी कला भगवान को समर्पित कर रही हैं। मंदिरों में भ्रष्टाचार फैलाने और इस प्रकार इस कला को नष्ट करने का दोष मुख्यत: समाज पर है, देवदासियों पर नहीं।

भरतनाट्यम परम्परा से नृत्य-नाट्य का जन्म हुआ। तंजौर, कूचुपुडि आदि स्थानों में पुजारी गण मंदिरों में नृत्य-नाट्य करते थे। इन पुजारियों को भागवतर कहा जाता था। इसीलिए ये नृत्य भागवत मेला नाटकम् कहे जाते थे। तंजौर के ये नृत्य-नाटक १८वीं शताब्दी के अन्त और १९वीं शताब्दी के आरम्भ में मेलट्टूर के वेंकटराम शास्त्री ने रचे थे, जो अभी तक प्रचलित हैं। कूचुपुडि नाटक १७ या १८वीं शताब्दी में सिद्धेन्द्र योगी ने रचे।

कुरवंजि नृत्य देवदासियां मंदिरों में करती थीं। सभी कुरवंजि नृत्यों की विषय वस्तु एक ही है। इनमें आत्मा के परमात्मा से मिलन का चित्रण है। इनमें से जो सबसे पुराना और सबसे अच्छा कुरवंजि नृत्य उपलब्ध है, वह १८वीं शताब्दी में कुट्रालम् में राजप्प कविराय ने लिखा था। अब मंदिरों में केवल सरफोजी कुरवंजि नृत्य किया जाता है। यह नृत्य तंजौर के महाराज सरफोजी के सम्मान में रचा गया था।

केरल में नृत्य की कथकली शैली का विकास हुआ। कथकली का सम्बन्ध भरतनाट्य से है। सम्भवत: यह स्थानीय नृत्य था, जिसे भरतनाट्य की शैली में ढाल दिया गया। इसमें भरत वर्णित चारों प्रकार के अभिनयों का उत्कृष्ट रूप है। कथकली वास्तव में नृत्य कम और नाटक अधिक है।

इधर देश में दक्षिण भारत की नृत्य कला का काफी प्रभाव पड़ा है। यहां तक कि दक्षिण या कर्नाटक संगीत भी, जिसे समझना कठिन है, अब देश के अन्य भागों में चाव से सुना जाने

लगा है। यहां यह उल्लेखनीय है कि दक्षिण में जितने लोग शास्त्रीय संगीत सुनते हैं, उतने उत्तर में नहीं। उत्तर भारत में कुछ लोग लड़कियों को संगीत की शिक्षा देना बुरा समझते हैं। संगीत में रुचि की कमी होने का यह भी एक कारण है।

परन्तु उत्तर और दक्षिण, दोनों ही क्षेत्रों में भजन खूब गाए जाते हैं। जब तक अधिकांश स्त्रियां संगीत नहीं सीखेंगी और उसमें रुचि नहीं लेंगी, तब तक घरों में संस्कृति नहीं पनप पाएगी।

उत्तर और दक्षिण भारत की संगीत शैली में जो अन्तर है, वह विदेशी आक्रमणों के फलस्वरूप हुआ है। मुसलमानों का सबसे अधिक प्रभाव उत्तर भारत पर पड़ा। मुसलमान कला प्रेमी होते हैं, अतः उत्तर में मुसलमानों में उच्च कोटि के संगीतज्ञ हुए। परन्तु यह स्पष्ट है कि वे उच्च कोटि के इसलिए हुए कि भारतीय संगीत ही उच्च कोटि का था। मुस्लिम देशों में संगीत का इतना विकास नहीं हुआ, जितना भारत में।

जिस प्रकार कथकली, मणिपुरी, कत्थक आदि सभी नृत्य-शैलियों का मूल भारत का नाट्य शास्त्र है, उसी प्रकार भारतीय संगीत का मूल भी एक ही है। विभिन्न प्रभाव पड़ने के कारण ही, विविध शैलियों का जन्म हुआ। दक्षिण में इस प्रकार के प्रभाव कम पड़े, इसलिए यह कहा जा सकता है, कि दक्षिण भारतीय संगीत मूल शास्त्रीय संगीत के अधिक निकट है।

इसकी पुष्टि के लिए उड़ीसा को लिया जा सकता है। पहले उड़ीसा का संगीत और नृत्य दक्षिण भारतीय शैली से अधिक मिलता-जुलता था, उत्तर भारतीय शैली से कम। उड़ीसा और आंध्र की कला में वहुत अधिक समानता थी। प्राचीन काल में उड़ीसा से जो लोग दक्षिण पूर्वी एशिया गए, उन्होंने वहां अपने नृत्य चलाए। अब दक्षिण-पूर्वी एशिया के नृत्य मूलतः भारतीय हैं, और ये दक्षिण भारत से अधिक मिलते हैं, जैसा कि कम्बोदिया और आस-पास के देशों में देखा जा सकता है।

कला तभी जीवित रह सकती है, जब उसमें प्राणों का संचार करने वाले भी जीवित रहें। भारतीय संगीत और नृत्य यदि केवल मात्र शास्त्रीय पद्धति से ही चिपके रहें, तो वे रूढ़िग्रस्त और नीरस हो जाएंगे। देश भर की कला को जिस वस्तु ने एकरूपता दी है, वह है—भक्ति। मुसलमान संगीतज्ञों ने भी, जिनके पुरखे हिन्दू से मुसलमान हुए थे, संगीत को धर्म से अलग नहीं किया। यही कारण है कि भगवान कृष्ण को मुसलमानों ने भी अपनाया। कहा जा सकता है कि भगवान कृष्ण ने अपनी बांसुरी और अपने मधुर नाम से, विभिन्न धर्मों में मेल किया।

भारत धर्मप्रायण देश है, इसलिए उसके संगीत और नृत्य में धर्म का समावेश रहा। परन्तु जब नृत्य कला अपने उच्चासन से उतर कर दरबार की चीज़ बनी, तब वह नष्ट हो गई।

अब हमारे सामने प्रश्न है—क्या नृत्य कला को बाजारू और सस्ते प्रदर्शन की चीज बना दिया जाए?

किसी कला के पनपने के लिए केवल बुद्धि या धन नहीं, त्याग की भी ज़रूरत होती है। दक्षिण में संगीत के विकास के लिए अभी भी आशा की किरण दिखाई दे रही है, क्योंकि वहां अभी धार्मिक भावनाओं की जड़ें काफी गहरी हैं। हां, नृत्य के लिए अवश्य ही खतरा पैदा हो गया है। फिर भी यदि संगीत जीवित रहेगा, तो सभी कलाएं जीवित रहेंगी, क्योंकि संगीत सभी कलाओं की आत्मा है।

—दिल्ली से प्रसारित

गुलाबी नशा

डा० बरसानेलाल चतुर्वेदी

क्या आपका नाम किसी अखबार में छपा है ? अच्छा तो सच-सच बताइए, आपने कभी अपने नाम को कहीं छपाने की कोशिश की है ? अगर छप गया होगा तो आप अवश्य प्रसन्न हुए होंगे और कोशिश करने के उपरान्त भी न छप पाया होगा, तो बिगड़े भी होंगे। खैर छोड़िए, आप बताएं या न बताएं ये 'माडर्न मर्ज़' आपको भी लगा अवश्य होगा। रोग अनेक हैं, दवा भी सब की है लेकिन नाम छपाने का मर्ज़ अपनी विशेषता रखता है। अन्य रोगों की दवा है, लेकिन इसकी दवा कोई नहीं है। सच पूछा जाए तो इस मर्ज़ के बारे में कोई बिगड़े दिल पहले ही कह गए हैं— मर्ज़ बढ़ता ही गया, ज्यों-ज्यों दवा की।

मैं तो नहीं जानता लेकिन नशेबाजों को कहते सुना है कि पीने के बाद आदमी जीवित अवस्था में ही इस भूलोक को छोड़ कर स्वर्ग-लोक की यात्रा करने लगता है। नशेबाजों के कोश में एक शब्द है 'गुलाबी नशा' अर्थात हल्का और जो आपको बेहोश न कर दे बल्कि मस्ती में ला दे और आप हाथ पैर भी न फेंकने लगें। तो जनाब, आदमी हो या औरत, जब अपना नाम कहीं छपा हुआ देखता है तो उस पर 'गुलाबी नशा' चढ़ जाता है। वो समझने लगता है कि इस दुनिया में उसके भी रंग हैं, उसके भी चाहने वाले हैं। जिस तरह भंग पी कर व्यक्ति झूमने लगता है, उसी प्रकार अपना नाम छपा देख कर वह झूमने लगता है। ज्यों-ज्यों उसे निहारता है, त्यों-त्यों मादकता बढ़ती जाती है।

इस मर्ज़ के डाक्टर हैं पत्रकार, सम्पादक, सम्वाद्दाता तथा प्रकाशक आदि। अन्य डाक्टरों की फीस तय होती है लेकिन इन डाक्टरों की प्रत्यक्ष में कोई नियमित फीस नहीं होती। आपने बचपन में व्याकरण तो पढ़ी ही होगी। 'भाव-वाचक' संज्ञा याद है न? मिठाई तो दीखती है लेकिन 'मीठापन' दृष्टिगोचर नहीं होता। ठीक इसी प्रकार इस मर्ज़ के डाक्टरों की फीस 'भाव-वाचक' संज्ञा में आती है किन्तु इस कृपा दृष्टि को प्राप्त करने के लिए साधक को साधना करनी पड़ती है। इस मर्ज़ के डाक्टरों की कृपादृष्टि भी रोग को दूर करने के लिए पर्याप्त होती है। ये मरीज़ का पहले निदान करते हैं। यदि मरीज़ नया-नया है, उसे यह बीमारी हाल ही लगी है, तो उसे ये बहुत परेशान करते हैं। पुराने बीमार इनकी अधिक परवा नहीं करते।

प्रेम-रोग और नाम छपने के रोग में अधिक साम्य है। प्रेमी जिस प्रकार अपनी प्रेमिका को देखने के लिए व्याकुल रहता है, ठीक उसी प्रकार अपने नाम रूपी प्रेयसि को प्रकाशित देखने के लिए ये लोग भी कम अधीर नहीं होते। विरह की छटपटाहट प्रेमी में दृष्टिगोचर होती है। अपने नाम को छपा हुआ न पाकर ये भी बेकरार पाए जाते हैं।

जिन लोगों के हाथों में नाम छापने की शक्ति है, उन्हें महीने में शायद ही किसी दिन संध्या को अपने घर भोजन करना पड़ता हो। कोई पार्टी, कोई सांस्कृतिक आयोजन,

कोई उद्‌घाटन हो, इनके चरण जव तक वहां न पधारें तब तक उसको मुक्ति नहीं मिल सकती। 'जंगल में मोर नाचा, किसने देखा?' ये ही महानुभाव उस चहारदीवारी में हुए नाच को विश्व का महत्वपूर्ण नाच घोषित कर सकते हैं।

कल्पना कीजिए एक संस्था है, आप उसे निस्संकोच अखिल भारतीय कह सकते हैं क्योंकि किसी संस्था को भी अखिल भारतीय कह देने पर कोई कानूनी रोक नहीं है। उसका अधिवेशन होने जा रहा है। आर्थिक व्यवस्था करनी है। नाम छपाने के रोग से ग्रसित किसी रोगी की खोज करनी पड़ेगी। इसके लिए अधिक खोज-बीन करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी, ऐसे रोगियों के लिए किसी अस्पताल में जाने की आवश्यकता नहीं है। ये भले चंगे आपको कहीं भी मिल जाएंगे। कहिए, स्वागताध्यक्ष की आवश्यकता है। लीजिए वह आ रहे हैं:—

> हम लोग अखिल भारतीय संगीत सम्मेलन करने जा रहे हैं, कृपया आप स्वागताध्यक्ष बन जाएं। भाषण हमने तैयार कर लिया है। आप की स्वीकृति की आवश्यकता है। प्रेस में मैटर सब छप चुका है। नाम छपना बाकी है। समाचार-पत्रों को भी उसकी प्रतियां भेजनी हैं ताकि अधिवेशन के दिन प्रातः ही आपका भाषण प्रकाशित हो सके।

लीजिए, शिकार मार दिया। चैक ले कर संयोजक चल दिए। यह तो आप समझ ही गए होंगे कि स्वागताध्यक्ष जी को 'सा रे ग म प ध नी' से कोई सरोकार नहीं है। रोगी का इलाज हो गया और अधिवेशन के खर्चे की समस्या हल हो गई।

नाम छपने के प्रलोभन में यार लोग सिद्धान्तों का भी विदाई-उत्सव तुरन्त मना लेते हैं। मेरे एक कवि मित्र हैं। प्रारम्भ से ही एक राजनीतिक पार्टी विशेष के सदस्य हैं। उसी पार्टी की वर्दी पहनते हैं। एक अन्य राजनीतिक पार्टी के अधिवेशन में एक कवि-सम्मेलन का आयोजन हुआ। उनसे उस पार्टी के सभापतित्व की प्रार्थना की गई। कमर कसके तुरन्त सेवा करने के लिए तैयार हो गए। पूछने पर कहने लगे—भाई, सांस्कृतिक आयोजनों में मैं संकुचित दृष्टि से काम नहीं लेता। यद्यपि कवि-सम्मेलनों में भाग लेने के फलस्वरूप उनका नाम कवियों की सूचियों में अनेक बार पहले प्रकाशित हो चुका था किन्तु सभापति के रूप में नाम छपने का आकर्षण ही और था।

शादी आपकी भी हुई होगी, नहीं हो पाई होगी तो भविष्य में हो जाएगी। आप यदि चेष्टा करेंगे तो आपकी शादी के समाचार छप जाएंगे, और थोड़ा प्रयास करेंगे, फोटो निकल जाएंगे, यहां तक कि आप चाहेंगे तो मुख्य बारातियों के नाम भी छप जाएंगे। जितना गुड़ डालिएगा उतना ही मीठा होगा। योजना बनाइए, सास का चाहेंगे उनका भी नाम छप जाएगा, ससुर जी का चाहेंगे उनका भी नाम और साथ में पद भी छप जाएगा।

आपने बाज़ार में 'चाट पकौड़ी' की दूकान खोली है। अच्छा काम किया है। बिक्री तो होगी ही। अगर नाम छपाना है तो उस दूकान का नाम 'राष्ट्रीय चाट भंडार' रखिए। किसी नेता से उद्‌घाटन कराइए। शहर के प्रतिष्ठित व्यक्तियों को सम्मिलित होने का निमन्त्रण दीजिए। दूसरे दिन चाट के साथ-साथ अपना और अपनी दूकान का छपा नाम देख कर उस अलौकिक रस का भी आस्वादन कीजिए।

एक लाला बारातों के सजावट का काम करते हैं। क्या मजाल कि आप उनसे एक नया पैसा भी कम करा दें। एक सज्जन को उनके 'गुप्त रोग' का पता लग गया। बारात

की सजावट कराई । दूसरे दिन स्थानीय अखबार में उनका नाम छाप दिया गया । लाला जी ने एक पैसा नहीं लिया । लाला बड़े शौक से कहते हैं, कि उनके सजावट के कार्य की प्रशंसा तो अखबारों में छप चुकी है । उस समाचार के 'कटिंग' को मढ़वा कर अपनी बैठक में लगा रखा है।

हिन्दी के एक प्रसिद्ध साहित्यिक हमारे यहां पधारे । वे काफी ख्याति प्राप्त हैं । वे 'नाम छपाने' के मशहूर रोगी हैं। एक दोस्त को मज़ाक सूझा । उनसे कह दिया—आपके एक नाटक का अनुवाद तो एक दक्षिणी भाषा में हो गया है, और उसकी बड़ी चर्चा है।

अब वह लगे विस्तृत विवरण पूछने । फल यह हुआ कि वह जिस शादी में आए थे, उन्हें छोड़कर बाजार के पुस्तक विक्रेताओं से पता लगाने चल दिए । बाहर के कई प्रकाशकों से 'ट्रंक-काल' मिलाया । कुछ पता नहीं चला । आखिर वे शादी को छोड़ कर चल दिए क्योंकि उनकी नींद और भूख दोनों गायब हो चुकीं थीं । यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि अनुवाद वगैरह का मामला तो सब कपोल-कल्पित था। जब पुराने बीमारों का यह हाल है, तो यदि किसी नए 'बांगड़' को यह समाचार मिलता, तो उसका न मालूम क्या हाल होता।

जब रोग पुराना पड़ जाता है, तो रोगी कोई 'पेटेंट' दवा का सहारा ले लेता है ताकि नित्य डाक्टर के पास जाने के झंझट से बच सके। कुछ लोग अपने ही हाथों से लिख कर अपनी ख्याति के समाचार भिजवा देते हैं । 'स्थितप्रज्ञ' होकर प्रतीक्षा करते हैं, छप जाता है, खुश हो लेते हैं। नहीं छप पाता सन्तोष कर लेते हैं । वे भी बिचारे क्या करें, बड़े डाक्टरों की फीस दे नहीं सकते, इलाज कराना ही होता है, खुद ही नुस्खा तैयार कर अपना इलाज कर लेते हैं।

आप विश्वास नहीं करेंगे, मैंने कुछ मित्रों को केवल नाम छपाने के प्रलोभन में अनशन करते देखा है, यद्यपि वे रात्रि में अपने भोजन की व्यवस्था कर लेते हैं। ऐसे लोगों को देख कर एक पुराने गीत की पंक्तियां याद आ रही हैं : 'मैंने लाखों के बोल सहे, सजनवा तोरे लिए ।'

एक हास्य लेखक मेरे यहां भोजन करने पधारे । भोजन समाप्त होते दस बज गए । एक दूसरे सज्जन जो साथ में भोजन कर रहे थे, उन्होंने उन हास्य रस के लेखक महोदय से कहा—भाई, 'हास्यरस के आधुनिक लेखक' शीर्षक लेख जो अमुक पत्र में प्रकाशित हुआ है, उसमें तुम्हारा भी उल्लेख हुआ है, ज़रा देख लेना।

लेखक महोदय ने अखबार वालों को रात में जगा कर पत्रिका खरीदी। उनके बारे में ये पंक्तियां प्रकाशित हुई थीं—इनकी रचनाएं निम्नकोटि की हैं। कविता पाठ करते समय ये भांड से लगते हैं।

इतने कष्ट करने के बाद जो अलौकिक सुख उन लेखक को हुआ होगा वह 'केशव कहि न जाइ का कहिए' ही कहा जाएगा।

नाम छपाने की कमज़ोरी व्यापक है । नेता वर्ग जितने प्यार से सम्वाददाताओं से बातें करते हैं, उतने प्यार से अपने बच्चों से भी नहीं करते । इस प्यार के पीछे नाम छपने का प्रलोभन ही रहता है । सो जनाब, कलयुग के इस माडर्न मर्ज़ के अनेक नुस्खे हैं, अनेक डाक्टर हैं । आप अपना पहले निदान कीजिए या करवाइए और फिर उनका यथोचित इलाज करवाइए। नाम छप जाए तो फूलिए मत, न छपे तो बिगड़िये मत।

—दिल्ली से प्रसारित

जनवासे में

कान्तानाथ पाण्डेय 'चोंच'

अर्जुन तिवारी के मंझले लड़के का विवाह था। अर्जुन तिवारी मेरे खास सम्बन्धी थे। मेरे मौसिया ससुर के फुफेरे भाई की सास की बड़ी लड़की उन्हीं के चचिया ससुर के ममेरे भाई की सास के बड़े लड़के से ब्याही थी। जाना ज़रूरी था। इसलिए गया। छुट्टियां समाप्त हो चुकी थीं। बड़े साहब छुट्टी देने के नाम से ऐसा भड़कते हैं, ऐसा भड़कते हैं कि कुछ न पूछिए। डाक्टर का सर्टिफिकेट देकर युग धर्मानुसार बीमारी की छुट्टी ली। तब कहीं अर्जुन तिवारी के मझले लड़के सहदेव तिवारी की बारात में जा सका।

द्वार पूजा हुई और हम लोगों को नाव द्वारा गंगा के उस पार जनवासे में पहुंचाया गया। तीन मील पैदल चल कर हम लोग घाट तक आए थे। वहां से नाव पर सवार होकर दूसरे किनारे पर पहुंचे। वहां से फिर दो मील चल कर आए जनवासे में।

मेरे साथ मेरे मित्र प्रोफेसर उद्भट राका चौबे तथा डाक्टर अबोधचन्द्र उपाध्याय भी थे। एक सज्जन ऐसे भी थे जो कविता लिखा करते थे। मुझे उनका नाम नहीं मालूम। उन्हें लोग कवि जी कह कर पुकारते थे। पण्डित मुंहफट शास्त्री भी उसी नाव से पार उतरे थे जिससे हम लोग। बाकी लोग दूसरी नाव की प्रतीक्षा में उसी पार खड़े थे।

शास्त्री जी चिल्ला उठे—लड़की वाले ने इतनी दूर जनवासा क्यों दिया ? घर से पूरे पांच मील पर। नदी के दूसरे किनारे पर। विवाह का लगन ८ ही बजे है। पुनः उस पार जाने और लड़की वाले के घर तक पहुंचने में ही तीन घण्टे लग जाएंगे। नज़दीक जनवासा देंगे तो बारम्बार जलपान का तकाजा आया करेगा।

हम लोगों ने जनवासे के एक-एक कमरे को घूम-घूम कर देखा। किसी प्रबन्ध का पता न था। जलपान के नाम पर एक मिट्टी के घड़े में पानी अवश्य रखा था।

डाक्टर अबोध चन्द्र उपाध्याय पुरातत्व के प्रेमी जीव हैं। वह उस घड़े को बारम्बार देखते और अपना सिर खुजलाते। मैंने उन्हें जब कम से कम सात बार सिर खुजलाते गिना तो पूछ ही बैठा—डाक्टर साहब ! क्या बात है ? किस विचार चिन्ता में निमग्न हो रहे हैं।

सोच रहा हूं—डाक्टर साहब बोले—कि ऐसा घड़ा इस समय गाजीपुर ऐसे स्थान में किस प्रकार दिखलाई पड़ा। यह तो गुप्त काल के भी ३०० वर्ष पहले का बना मालूम पड़ता है। इसमें जो काई लगी है वैसी सिर्फ गुप्तकाल के ३०० वर्ष पूर्व के घड़ों में ही लग सकती थी। इस घड़े को मैं बारात से लौटते समय चुपके से उठा ले चलूंगा।

कवि जी भूख-प्यास से कलावत्तू हो रहे थे। कहने लगे—ऐसा ही जनवासा रहा होगा, जिसे देख कर मेरे पितामह के पितामह महाकवि क्रोधी जी ने एक छन्द लिखा था।

हम लोग एक साथ ही बोल उठे—ऐं, क्रोधी जी आपके ही पितामह के पितामह थे। कौन-सा छन्द लिखा था उन्होंने। ज़रा सुनाइए न?

कवि जी बोले—शाहजहां के नाती शेरशाह के समय हुए थे मेरे पितामह के पितामह क्रोधी जी। एक बारात में गए थे। शायद उनके पड़ोसी बुलाकीदास के भांजे की शादी थी। वहां ऐसा ही जनवासा मिला होगा बरातियों को। सो मेरे पितामह क्रोधी जी से नहीं रहा गया। उनके मुंह से यह छन्द निकल ही पड़ा—

एक भी न खाट है, फटी-सटी दरी है पड़ी
इससे भला था जाएं टंगते अकास में।
पूड़ियां हैं या कि परदादी लिट्टियों की यह
इससे था भला खाते होटल या बासे में।
सड़ी है इलायची न मिर्च में है गन्ध
सारे कड़वे बदाम, बैठा भंग के हूं आसे में।
घर भर में लाग लगै, समधी को दाग लगै
क्रोधी कवि आग लगै ऐसे जनवासे में।

चारों ओर से वाह-वाह की ध्वनि गूंज उठी। कवि जी को ऐसी प्रसन्नता हुई, मानो वह कविता उनके पितामह के पितामह की न हो कर उन्हीं की हो।

प्रोफेसर साहब कुछ देर बाद बोले—कवि जी, उस समय होटल कहां थे? फिर शाहजहां का नाती शेरशाह कैसे हुआ? यह सब तो इतिहास के विरुद्ध है। शेरशाह तो हुमायूं का समकालीन था।

रहा होगा—कवि जी बोले——क्रोधी जी ने कविता लिखी है, इतिहास नहीं। फिर जैसे रासो में प्रक्षिप्त अंश आ गए हैं, उसी प्रकार क्रोधी जी की कविता में भी 'होटल' शब्द शायद मेरे पितामह या बाप ने मिला दिया होगा।

प्रोफेसर साहब बोले—हां, आपने ठीक कहा है। इतिहास में बड़ी गलत बातें घुसी पड़ी हैं। हुमायूं को लोग एक ही मानते हैं। मैंने खोज की है कि हुमायूं नाम के तीन बादशाह हो गए हैं। पहला वह जो कुमाऊं में रहता था, दूसरा वह जो बदाऊं का शासक था। तीसरा खड़ाऊं पहनता था।

बातचीत हो रही थी कि लड़की वालों की ओर से जलपान लेकर घराती प्रबन्धक आ पहुंचे। हम सबने उनका बड़े प्रेम से स्वागत किया। बाकी बराती भी आ गए। जलपान सामग्री अच्छी थी। चार मिठाइयां चार नमकीन। सब लोग जलपान करने बैठ गए। घराती जलपान देकर खुश होते चले गए।

पण्डित मुंहफट शास्त्री के सामने जब मिठाई का सकोरा आया तो वह चीख उठे—केवल चार मिठाइयां। यह लड्डू क्या है, कोई बटी है। होगा डेढ़ मासे भर। अरे साहब मैं एक बारात में गया था, वहां तीन-तीन पाव के लड्डू मिले थे जलपान में। गुलाबजामुन आध-आध सेर की। यह जलपान है या बच्चों का खिलवाड़! कैसे दुष्ट हैं ये सब सामान लाने वाले।

जलपान कर चुकने पर शास्त्री जी बोले—अब कोई क्या खाएगा और कोई क्या खिलाएगा? मेरे नाना हरबोंग जी सवेरे उठ कर ढाई सेर गरी की बर्फी से खरमिटाव करते थे, दोपहर में सवा दो सेर आटे की रोटी और सेर भर चावल का भात खाकर पक्का पांच सेर दूध पी जाते थे। उन्हीं के पूर्वज पण्डित विरूपाक्ष शास्त्री से पाणिनि ने

व्याकरण और कालिदास ने साहित्य पढ़ा था। कालिदास के माघ काव्य का संशोधन भी उन्होंने किया था।

अबोध चन्द्र जी ने टोका—शास्त्री जी माघ काव्य तो माघ कवि का लिखा है कालिदास का नहीं है ?

मुंहफट शास्त्री बिगड़ उठे—आप सब नए ढंग के विद्वान यह सब क्या जानें। कालिदास ने प्रत्येक मास में एक-एक काव्य लिखा है— चैत्र काव्य, वैसाख काव्य, ज्येष्ठ काव्य, माघ काव्य आदि । आषाढ़ काव्य को ही मेघदूत कहते हैं।

लगन का समय हो गया । बहुत से लोग विवाह-मण्डप में चले गए पर हमारी मण्डली जनवासे में ही डटी रही । रात डेढ़ बजे हमारे लिए भोजन आया । तीन दिन पहले की बनी पूड़ियां थीं, जो सूख कर पापड़ बन गई थीं।

शास्त्री जी बोले—देखा आपने बारात का स्वागत ! मेरे मामा के यहां बारात आई थी तो मामा जी ने गांव के सारे कुओं में दस-दस बोरे चीनी के छुड़वा दिए थे। पिओ शरबत कितना पिओगे । पूड़ियां इतनी बनी थीं कि बारात के वापस चले जाने पर पूरे पन्द्रह दिन तक सारे परिवार ने खाया। ये लोग क्या स्वागत करेंगे ? पूड़ियां हैं या कागज ! मेरे मामा के यहां जो पूड़ियां बनी थीं, उन्हें दांत से काटते समय चौदह बरातियों के दांत ही टूट गए थे । एक-एक पूड़ी डेढ़-डेढ़ पाव की । आज के नौजवान वैसी एक पूड़ी खा कर हाजमे की गोली या सोडा-वाटर खोजने लगेंगे। और उस बारात में ऐसे-ऐसे बाराती आए थे कि पैंसठ-पैंसठ पूड़ियां खा गए।

—अब कल देखो दाल चावल कैसा खिलाते हैं ये लोग। देखना है घी असली छोड़ते हैं दाल में या वही वनस्पति और है तो दो ही चार चम्मच या अधिक !

—क्यों शास्त्री जी दो-चार चम्मच से अधिक घी दाल में कौन खा सकता है ? —मैंने पूछा।

—आपने कभी घी खाया भी है। तभी तो लकलक दिखाई पड़ते हैं। मेरे मामा की लड़की के ब्याह में एक आदमी लगा घी परोसने, तो बरातियों ने मौन धारण कर लिया । किसी ने नहीं कहा कि बस करो अब घी न चाहिए । परोसने वाले ने समझा कि अब तो मैं अमुक महोदय की थाली में काफी से अधिक घी छोड़ चुका, तो वह आगे दूसरे महाशय की ओर बढ़ा । बस इतने में तो नाराज होकर सारी बरात उठ खड़ी हुई, भोजन की थाली छोड़ कर। मामा जी ने घबड़ा कर पूछा—क्या बात है ? कौन सी त्रुटि हुई ?

—आप पूछ रहे हैं अभी कौन सी त्रुटि हुई—लड़के के पिता ने गरज कर कहा— घी परोसना इस आदमी ने अपनी इच्छा से बन्द क्यों कर दिया । जब तक खाने वाले न मना करें उसे सामान परोसना बन्द न करना चाहिए। यह हम लोगों का बड़ा अपमान हुआ है।

बड़ी-बड़ी मिन्नत के बाद समधी साहब दुबारा खाना खाने बैठे। मामा जी का गांव में बड़ा दबदबा था । सारे गांव के लोग घी का कनस्तर ले लेकर दौड़े आए। घी का परोसना प्रारम्भ हुआ । थालियां घी से डूब गईं । आंगन में घी ही घी दिखाई पड़ने लगा । सारे बाराती घी के अन्दर डूबने से लगे। मामा जी ने आंगन की नाली बन्द करवा दी । घी ऊपर उठता-उठता बरातियों की नाक तक पहुंचा । जब नाक में घी घुसने लगा तब बरातियों ने नाक रगड़ना शुरू किया—क्षमा करो, क्षमा करो। अब ऐसी धृष्टता कभी न करेंगे । अब घी का परोसना बन्द करो, नहीं सभी बाराती मर जाएंगे।

हम लोग सुन कर दंग रह गए। शास्त्री जी ने हंस कर मुझसे कहा—देखा महाशय जी····· आप लोग टी के प्रेमी हैं। घी का महत्व क्या जानें? चाय भी आप पीते हैं तो एक प्याला। मेरे मामा जी के यहां गर्मी के मौसम में यदि बारात आती थी तो सारे बारातियों को एक-एक घड़े दूध से, और जाड़ों में बारात आने पर एक-एक घड़े चाय से नहलाया जाता था। दही से उनका उबटन होता था। पीने के लिए एक लोटा चाय तो नौकरों को मिलती थी। बरातियों को तो जबर्दस्ती एक-एक घड़ा चाय पिलाई जाती थी। जो नहीं पी पाता था, उसे हम लोग निकृष्ट और हेय समझते थे, दरिद्र समझते थे।

विवाह के बाद दूसरे दिन ही संध्या समय बराती लौटने वाले थे। यानी बरात की विदाई थी। कन्या की विदाई एक महीने बाद होने वाली थी। दूल्हे के फूफा पहलवान तिवारी बिगड़ उठे—यह क्या बात है। या तो लड़की विदा अभी कर दें या पूरे एक महीने बारात को टिकाए रहें। मेरे अजिया ससुर की नातिन के ब्याह में लड़की की विदाई का मुहूर्त तीन साल पर था। अजिया ससुर तीन साल तक बरात को खातिर के साथ अपने यहां टिकाए रहे। इन तीन सालों में आधे लोग तो अधिक भोजन करने के कारण मर भी गए। पर न बरात वाले बिना लड़की विदा करवाए लौटे, न लड़की वालों ने उन्हें लौट कर वापस जाने दिया। अब तो सब नई-नई बातें हैं। वह सुनहला पुराना जमाना स्वप्न सा हो गया है। न वे बराती हैं, न वे घराती, न वैसा स्वागत, और न वैसा जनवासा।

—इलाहाबाद से प्रसारित



मराठी रंगमंच पर शेक्सपीयर का प्रभाव

व० ह० गोले

मराठी नाट्यसृष्टि ने पिछले सौ सालों में भिन्न-भिन्न ढंग दिखाते हुए जो प्रगति की है, उसकी आलोचना करते हुए हमें देखना है कि शेक्सपीरिअन ढंग ने मराठी रंगमंच को कब और कैसे प्रभावित किया। पिछली सदी में १८६३ ईस्वी में स्व० खाडिलकरजी ने 'सवाई माधवरावयांचा मृत्यु' नामक नाटक लिखा। ऐसा कहना अत्युचितपूर्ण नहीं होगा कि आम तौर पर उस समय से स्व० गडकरी के निधन के समय तक मराठी रंगमंच का ढंग शेक्सपीयर के तौर पर रहा। इस ढंग की कुछ विशेषताएं हम देखेंगे।

मराठी रंगमंचीय आलोचनाएं, 'शेक्सपीरिअन धारा' और मोलियर की धारा ऐसे दो सम्प्रदाय माने जाते हैं। स्थूल रूप से हम यह कह सकते हैं कि त्रासदी (ट्रेजेडी) और कामदी (कामेडी) इन दो नाट्यप्रकारों के जो प्रधान लक्षण हैं, वे शेक्सपीयर और मोलियर की धाराओं में मौजूद हैं। त्रासदी का नायक सुसंस्कृत एवं अभिरुचिसम्पन्न होता है, किन्तु चरित्रदोष के या बाह्य परिस्थिति के कारण उसका पतन होता है। ग्रीक त्रासदी में नायक को दैवी प्रकोप से दुर्घटनाओं का मुकाबला करना पड़ता है, तो शेक्सपीरिअन त्रासदी में चरित्र दोषों के कारण नायक का जो पतन होता है, उसे लक्ष्य किया जाता है। यहां एक और बात की ओर हमें ध्यान देना चाहिए। शेक्सपीयर ने अपनी सामाजिक परिस्थितियों से अलिप्त रह कर अपने नाटकों की रचना नहीं की। कलानिर्मिति उसका एकमात्र उद्देश्य नहीं था। शेक्सपीयर एक व्यावसायिक नाटककार था। समकालीन समाज का रंजन करना उसका उद्देश्य था, तथा एलिज़ाबेथन रंगमंच पर प्रभाव डालने वाले नाटक उसने लिखे। इसीलिए उसने अपनी त्रासदियों की रचना दूसरों की लिखी हुई कहानियों के आधार पर की। इसलिए उसकी त्रासदियों में परम्परा का अंश पर्याप्त मात्रा में मिलता है। हत्या, आत्मघात, जहर का प्रयोग, शैतान का रंगमंच पर नाटक जब खेला जाता है, तब इनका असर पर्याप्त मात्रा में होता है, इसलिए शेक्सपीयर ने उन्हें चुना होगा। पर शेक्सपीयर का श्रेष्ठत्व इस बात में है कि इन घटनाओं का उपयोग करके उसने अपनी असामान्य प्रतिभा के बल पर प्रभावपूर्ण त्रासदियां लिखीं। इसके दो कारण हैं :— मनुष्य के स्वभाव का उसका व्यापक और गहन ज्ञान, जिसके सहारे उसने प्रभावशाली चरित्रचित्रण किया और दूसरा कारण उसका असामान्य भाषा-प्रभुत्व। उसकी भाषा ने सभी मूक भावनाओं को वाणी प्रदान की और प्रेक्षकों तथा पाठकों को बेहोश किया। पिछली सदी के अन्त में मराठी नाटककारों और अभिनेताओं को शेक्सपीयर की कामदी की अपेक्षा उसकी त्रासदी से अधिक परिचय था। स्व० आगरकर का 'विकार-विलसित' और स्व० देवल का 'झुंझारराव' ये शेक्सपीयर के हेमलेट और ओथेलो के अनुवाद अधिक लोकप्रिय थे। स्व० खाडिलकर ने 'सवाई माधवरावयांचा मृत्यु' यह नाटक १८६३ ईस्वी में लिखा। उसके प्रस्ताव में सवाई माधवराव और केशवशास्त्री का चरित्रचित्रण हेमलेट और यागो के ढंग से प्रेक्षकों के सम्मुख रखने का उद्देश्य खाडिलकर ने जाहिर किया है।

यागो जैसे खलनायक के प्रति अभिनेताओं के मन में अधिकतर रुचि थी, इसका एक कारण यह है कि नायक की अपेक्षा खलनायक का दर्शन रंगमंच पर करवाने के अभिनय-कौशल की चरम-सीमा है, ऐसी उनकी निश्चित धारणा थी। और यह धारणा यागो के प्रभावपूर्ण चरित्रचित्रण के कारण ही आविर्भूत हुई। खलनायक के प्रभावपूर्ण चरित्रचित्रण का शेक्सपीरिअन ढंग स्व० गडकरी के नाटकों में हम देखते हैं। खास तौर पर कमलाकर, वृंदावन और भन:शयम ये पात्र शेक्सपीयर के ढंग से रचे गए हैं। शेक्सपीयर का अनुकरण करते हुए गडकरी ने अपने नाटकों में हत्या, जहरप्राशन, आत्मघात आदि भावोद्दीपक घटनाओं की भरमार की है। रंगमंच प्रभावपूर्ण होने वाले भावोत्कट प्रसंगों का चित्रण करने में गडकरी एक समर्थ कलाकार हैं किन्तु कथावस्तु में जो घटनाएं घटती हैं, उनमें आंतरिक कार्य-कारण भाव का होना ज़रूरी है, जिसका गडकरी के नाटकों में अभाव है। इसलिए उनकी बहुत सी घटनाएं कृत्रिम सी लगती हैं। गडकरी 'सिचुएशन' के नाटककार हैं और उनकी अधिकतर घटनाएं नाट्यपूर्ण (ड्रेमेटिक) नहीं हैं, बल्कि रंगमंचीय यानी 'थिएट्रिकल' हैं। साथ ही अलंकारों के प्रयोग से वह कृत्रिमता की ओर झुकती है। इसलिए उनके नाटक में शेक्सपीरिअन ढंग का जो दर्शन होता है, वह पारम्पारिक स्वरूप का परिचायक है। गडकरी के 'प्रेमसंन्यास', 'भावबंधन', 'एकचप्याला', आदि नाटक सामाजिक परिस्थिति के परिचायक हैं और घटनाओं की कृत्रिमता ज्यादा महसूस होती है। ऐसी घटनाएं ऐतिहासिक नाटकों में शायद शोभा देती हों।

पात्रों और दृश्यों में शेक्सपीयर ने तीव्र विरोध (वायलेन्ट कन्ट्रास्ट) की उपयोजना की। उसकी यह और एक विशेषता है। गडकरी के नाटक में विरोधी स्वभाव के कई पात्र हैं। उदाहरणस्वरूप कमलाकर-जयंत, ललिता-मालती, सिन्धु-गीता इन जोड़ियों को हम प्रस्तुत कर सकते हैं। करुण या प्रक्षोभक घटनाओं के बाद हास्यपूर्ण दृश्यों का उपयोग गडकरी ने और खाडिलकर ने किया है। गडकरी के भावुक प्रसंगों के साथ-साथ उनके हास्यपूर्ण प्रसंग भी रंगमंच पर प्रभाव डालते हैं। किन्तु खाडिलकर के बहुतेरे हास्यपूर्ण प्रसंग कृत्रिम से लगते हैं।

संस्कृत का ढंग छोड़ने के अनन्तर मराठी नाट्य रचना ने जब शेक्सपीयर का अनुसरण करना शुरू किया, तब उसमें और हेर-फेर हुआ। संस्कृत ढंग का अनुसरण करते हुए जो नाटक लिखे गए, उनमें सूत्रधार-नटी नाट्यवस्तु का परिचय करवाते हैं। यूरोपीय नाटकों में नाटक के प्रारम्भ के दृश्य—जिन्हें एक्सपोज़ीशन कहते हैं—अधिक महत्व के होते हैं। एक्सपोज़ीशन के द्वारा कथा वस्तु और उसके साथ-साथ पात्रों का परिचय जितने अधिक स्वाभाविक ढंग से नाटककार करवा देगा, उतना उसका कलात्मक यश अधिक माना जाता है। मराठी नाटकों ने जब शेक्सपीयर का अनुसरण किया तब पात्र आरम्भ के दृश्य में सीधे रंगमंच पर आने लगे। पहले या दूसरे दृश्य में प्रमुख पात्रों के संभाषणों के द्वारा स्वाभाविक रूप में नाट्य वस्तु और अन्य पात्रों का परिचय करवा देने की परम्परा बन गई। शेक्सपीयर के समय रंग-मंच के सामने परदा लटकाने की रीति नहीं थी। रंगमंच के तीनों बाजू प्रेक्षक बैठते थे। सत्रहवीं सदी के उत्तरार्ध में 'रेस्टोरेशन' के समय अंग्रेज़ी रंगमंच पर सामने के परदे का व्यवहार होने लगा और 'प्लेटफार्म स्टेज' के बदले 'पिक्चर-फ्रेम स्टेज' आ गया। रंगमंच पर सामने एक परदे का व्यवहार करना और उसके अलावा पीछे एक 'कव्हर' का पर्दा लटकाना तथा हास्यकारक प्रसंगों का 'कव्हर' के परदे के सामने खेला जाना और गंभीर दृश्यों के लिए पूरे रंगमंच का उपयोग करना, इस मराठी परम्परा का शेक्सपीयर से ताल्लुक नहीं है।

मराठी नाट्यसृष्टि का अंग्रेज़ी और यूरोपीय नाट्यसृष्टि से पहला परिचय पिछली शताब्दी के अंत में हुआ। यह परिचय शेक्सपीयर के नाटकों द्वारा हुआ। मोलियर,

शा, इब्सन आदि नाटककारों का परिचय प्राप्त कर उनकी विशेषताएं सीखने का कार्य १६२० ई० के लगभग आरम्भ हुआ। शेक्सपीयर के नाटकों में भी उसकी त्रासदियों ने मराठी रंगमंच को ज्यादातर प्रभावित किया। उसकी 'ट्वेल्थ नाइट', 'मिड समर नाइट्स ड्रीम', 'एज़ यू लाइक इट', आदि कामदियां प्रायः उपेक्षित रह गईं। केवल श्रेष्ठ कवि यशस्वी शोकांती त्रासदी लिख सकता है और शेक्सपीयर का सम्पूर्ण अनुकरण करके भी उसके स्वर की त्रासदियां लिखने में गडकरी समर्थ न बने। शेक्सपीयर के नाटकों में कला की दृष्टि से जो गौण परम्परा थी, केवल उसी का अनुकरण मराठी नाट्यसृष्टि ने किया। आशा है कि शेक्सपीयर के सच्चे श्रेष्ठत्व का परिचय मराठी के नए नाटककारों को हो जाएगा। स्व० नाना जोग का हेमलेट का अनुवाद, श्री० शिरवाडकर का मेकबेथ अनुवाद, और हाल में शामराव ओक का किया 'कामेडी आफ एरर्स' का अनुवाद—ये सब सावित करते हैं कि अभी तक शेक्सपीयर का प्रभाव मराठी नाटककारों पर पूरे रूप से है।

नए नाटकों का झुकाव त्रासदी की अपेक्षा कामदी की ओर अधिक है। मतलब यह है कि आजकल की सामाजिक समस्याओं पर नाटकों की रचना करने की ओर यह झुकाव है। और यह उचित भी है। इसलिए मराठी रंगमंच के शेक्सपीरिअन ढंग का केवल ऐतिहासिक महत्व है। शेक्सपीयर का रास्ता छोड़ अब हमारा रंगमंच दूसरे रास्ते पर कदम बढ़ा रहा है। अब इस रास्ते से हमारा रंगमंच कहां पहुंचेगा, इस बात का निर्णय करना भविष्य के हाथों में है।

—पूना से प्रसारित

तोड़ो मौन की दीवार

रवीन्द्र भ्रमर

तोड़ो मौन की दीवार !
झांकने दो मुझे
अपने हृदय के उस पार !
ये बहुत खामोश
कुम्हलाई हुई आंखें,
शिथिल संध्या तीर
श्यामा खगी की पांखें,
कह रहीं तुम कहीं आए
दांव कोई हार।
तोड़ो मौन की दीवार !
मलिन मुख
ज्यों वेदना की भाप का दर्पन,
यहां विम्बित है
तुम्हारा चोट खाया मन,
मूक अधरों पर तड़पते
बेबसी के ज्वार।
तोड़ो मौन की दीवार !
सुनूं तो मैं
कहो अपनी पीर मुझसे कहो,
बह सको तो बहो
मेरी चेतना में बहो,
मैं करूं हलका
तुम्हारे वक्ष का दुख-भार।
तोड़ो मौन की दीवार !
झांकने दो मुझे
अपने हृदय के उस पार !

—इलाहाबाद से प्रसारित

नीच जात

शिवप्रसाद सिंह

और शाम होते-होते जब सचमुच ही मलिकाने का चौतरा गैस बत्ती की रोशनी में चमकने लगा, तो गांव के नौजवान और बूढ़े सभी भौंचक रह गए। मलिकाने में इस तरह का जशन कोई नई बात नहीं थी, पर एकाएक ठाकुर के छोटे लड़के का जन्म दिन कैसे आ गया, यह किसी को मालूम न हुआ। मालूम भी कैसे हो, इसके पहले कभी आया हो तब तो लोगबाग याद रखें? केले के खम्भे, रंगीन कागज की झंडियां, और पीले गेंदे के फूलों की मोटी-मोटी मालाओं से चौतरा नई दुलहन की तरह सज गया था। ऐसे मौके पर एक गाही यानी पूरे पांच नचनिये नाचने वाले थे। सैयदराजा की मशहूर नाच मंडली की देस-दिहात में शुहरत थी।

अचंभे की वजह यह हुई कि कुल दो ही चार दिन बीते होंगे कि गांव में एक अजीब वाकिआ हो गया। ऐसा अजीब जैसा किसी ने कभी सुना न देखा। गांव सभा के चुनाव की थोड़ी-बहुत चर्चा तो तीसेक दिन से चला करती थी, पर किसे मालूम था कि इसके चलते इस गांव में ऐसी वारदात हो जाएगी, जमींदारी नहीं रही तो क्या हो गया। गोजर की एक दो टांगें टूट जाने से कुछ बनता-बिगड़ता है कहीं? सो आज भी ठाकुर जैपाल सिंह का करैता गांव पर वैसा ही दब-दबा था, जैसा जंगल में शेर का या पानी में घड़ियाल का होता है। तीस साल पहले इस गांव को जैपाल सिंह के ददुआ जी ने अस्सी हज़ार रुपया नगद देकर खरीदा था। इस तीस साल में ठाकुर ने गांव वालों की भलाई के लिए क्या नहीं किया। तालाब बनवाया, मंदिर बनवाया। स्कूल भी बनवा ही देते, पर गांव के दो-चार अच्छर पढ़े-लिखे छोकरे उन्हें करने दें, तब न। गांव-सभा के पिछले चुनाव में गांव की जनता ने उन्हें बिना मीन-मेख किए सभापति बना दिया। क्यों न बनाएं भला? तीस साल से करैता में एक भी ऐसी पंचायत या बटोर नहीं हुई, जिसमें दरी के बीचोबीच वाली तोशक पर मलिकाने के अलावा कोई और बैठ गया हो। पर जाने क्या हो गया है दुनिया को, जाने कैसी हवा बह गई है कि किसी में लाज-सरम का नाम-निसान नहीं रह गया है। इस बार जब पंचायत का चुनाव हुआ, तो किसान-नेता सुखदेव ठाकुर साहब के मुकाबले में खड़ा हो गया। और वोट के दिन जब हाथ उठाने का मौका आया तो नमकहरामों ने सुखदेवा के लिए हाथ उठाया। किसी की आंखें शरम के मारे ऊपर नहीं उठती थीं, हाथ ऊपर था आंखें नीचे। ठाकुर के चेहरे पर रत्ती भर फ़रक नहीं आया। उल्टे हंस कर उन्होंने सुखदेवा की पीठ ठोंकी और शाबासी दी। ऐसा करने के लिए भी हाथी का हिरदा चाहिए। मुसकराते हुए बोले—लो भाई सुखदेव, गांव ने तुमको अपना सरगना मान लिया, अब संभालो सब कुछ। पंच का आसन परमेश्वर का आसन है।

दयाल पंडित यह सब कुछ एक सांस में कह कर चुप हो गए। देवी चौधरी के बैठके में सभी पुराने लोग इकट्ठे थे, जिन्होंने ठाकुर के साथ ही बचपन बिताया था, और उन्हीं की छत्र-छाया में जवानी के दिन मेहनत-मजूरी करते गुजार दिए थे। सब चुप थे, जैसे पाप की सजा सुनने बैठे हों।

—सो तो हुआ, पर आज यह नाच-बाजा काहे को—देवी चौधुरी मुस्कराते हुए बोले—हारने की खुशी में क्या ?

दयाल पंडित इस तरह हंसे गोया देवी चौधुरी के भेजे में अकल की जगह खालिस गोबर भरा है—रह गए वही बैल की पूंछ मरोड़ने वाले, अरे गोबरदास ! भला हाथी चिउंटी की क्या दुश्मनी। हारे तो लाज, जीते तो लाज। यह कौन सा महाभारत था भाई, तुम एक नहीं सौ पंच चुन कर बैठा लो पलंगड़ी पर····इससे क्या होता जाता है, आखिर बैठने का सहूर भी तो चाहिए····ओरदवानी में बैठने वाले की देह में सिरहाने की मसनद गड़ नहीं जाएगी क्या?······अरे, वो तो बुट्टन बाबू का जन्म दिन है, सरकार ने सोचा बनारस से किरतन मंडली बुला लें, पर जल्दी में इंतजाम नहीं बैठा, सैदराने वाले लच्छू उस्ताद कहने लगे····सरकार हमसे कौन सी खता हो गई है······दयाल महाराज, कुछ तो खियाल करो····हम भी बोले क्या याद करेगा, सट्टा में डेढ़ सौ बोला, मैंने कहा १० रुपया और मगर काम दिलोजान से होना चाहिए········बस !

लच्छू उस्ताद की मंडली शामियाने में बैठ गई थी, बाजे पर गत बजने लगी, ढोलक की आवाज गांव भर में घुमड़-घुमड़ कर सबको मलिकाने के जशन की खबर देने लगी। लोगबाग बिना वजह ठाकुर के चौतरे के बगल से गुजरते, एक नजर गैस-बत्ती पर, फिर पौडर वाले छोकरों पर डालते, इधर-उधर ताक-झांक करके धीरे से फुदक कर दरी पर बैठ जाते। ठाकुर की नजर नाच पर नहीं, अपने बाहरी दरवाजे पर लगी थी, कोई अहमियत वाला आता तो वे ज़ोर से पुचकारते—आओ, आओ चाचा, इधर जाजिम पर आ जाओ, दयाल पंडित अरे ज़रा चाचा को पान इलायची देना, रन्नू और फब्बू कहां मर गए, अरे कोई है रे, बनारस वाली खमीरा भर के लाना, हां तावा रख कर ।

चाचा की झुकी गरदन जाजिम पर सट जाती। कल ही तो अभी सुखदेव को वोट दिया था चाचा ने। उन्हें कहां मालूम था कि ठाकुर की नजर उन्हीं पर पड़ जाएगी। मगर जैपाल भी एक ही मरद है, वोट में हार गया तो शान में ज़रा भी कमती नहीं आने दी।

यह थी चोट ठाकुर जैपाल की, जिसे सभी लजाते-हंसते झेल गए। चुनाव के दो महीने के बाद ही कुछ पढ़े-लिखे लड़कों की कोशिश और नए पंच सुखदेव के उत्साह के कारण एक सभा बुलाई गई, जिसमें बेसिक स्कूल की पुरानी कच्ची इमारत को गिरा कर नई और पक्की इमारत बनाने का 'प्रस्ताव' पास हुआ। चन्दा वसूल करने के लिए सुखदेव ने एक कमेटी बनाई। बड़े हौसले के साथ चन्दा उगाहने का काम शुरू हुआ। उस दिन सवेरे के समय कमेटी के दो-चार मेम्बर लोग और सुखदेव ठाकुर जैपाल सिंह के चबूतरे पर पहुंचे, तो वे बीरा नाई से तेल की मालिश करा रहे थे और उसके सात पुश्त को कामचोर होने का खिताब मुफ्त बांट रहे थे। बीरा सुबह के समय भी पसीने-पसीने हो रहा था और ठाकुर के दोहरे बदन पर उसकी दोनों हथेलियां रोहू मछली की तरह छलक-छलक जाती थीं। ठाकुर ने सुखदेव और दूसरे लोगों को आते देखा, तो मूंछ के भीतर ही भीतर मुसकराए······दयाल पंडित को बुलाया कि रन्नू या फब्बू से कह कर लोहे वाली तीन-चार कुर्सियां बाहर निकलवा दें। लोहे वाली ये कुर्सियां भी खास मकसद से खरीदी गई थीं। जिन्हें ठाकुर जरूरतवस कुर्सी तो देना चाहते थे, पर मन ही मन उन्हें ज़मीन पर बठाए जाने लायक समझते थे, उनके लिए ये कुर्सियां काम में लाई जाती थीं। सुखदेव कुर्सी पर बड़ी अकड़ के साथ बैठा, क्योंकि ऐसी कुर्सी उसके खानदान के किसी भी आदमी को कभी मलिकाने के चबूतरे पर नसीब नहीं हुई थी।

—कैसे चले भाई सुखदेव—ठाकुर ने आंखों में अजीब भलमनसाहत का रंग भर कर कहा··

—स्कूल की इमारत बनाने का प्रस्ताव पास हुआ है ······हुजू········ सुखदेव ने बड़ी सफाई से सम्बोधन को उड़ाया, एक लमहे के लिए वह इतना घबड़ा गया कि जल्दी में कोई बात न निकल सकी, फिर धीरे-धीरे बोला—चन्दे के लिए आना हुआ है आपके यहां। आप इस गांव के धनी-मानी आदमी हैं, आप चाहेंगे तो इमारत आसानी से बन जाएगी।

—कितना चन्दा लगा है भई?—ठाकुर ने फिर उसी तरह मुसकराते हुए कहा—पंचायत की जो राय हो, हम उसे पूरा करने के लिए दिलोजान से हाज़िर हैं······बाकी सुनें तो, आदमी पीछे कितना चन्दा लगा है।

जैसी जिसकी हैसियत है, उसे वैसा ही चन्दा देना चाहिए।

कमेटी के एक मेम्बर ने धीरे से कहा— हां हां ठीक है, ऐसा तो होना ही चाहिए।

ठाकुर ने सुखदेव के चेहरे पर एकटक देखते हुए कहा—पर आप लोग कुछ बुरा न मानें तो एक बात पूछूं—उन्होंने इस नम्रता से कहा कि श्रोता लोग पानी-पानी हो गए।

—पूछिए····पूछिए·····सभी एक साथ बोल उठे।

—अब भाई सुखदेव जी की ही मिसाल लीजिए। इनके तीन चाचा, नव भतीजे और घर की औरतों को मिला कर कुल बीस-इक्कीस जन हैं, क्यों हैं न?

एक ने धीरे से कहा —हां।

—मेरे घर में देखिए—ठाकुर ने कहा—मेरे घर में मैं, ठकुराइन और बुट्टू, कुल ढाई आदमी हुए, हुए कि नहीं?

एक ने फिर धीरे से कहा—हां।

—हमारे घर और सुखदेव भाई के घर में आठ गुना फर्क है, इसलिए जितना चन्दा ये देंगे, उसका आठवां हिस्सा अदा करना मेरा फर्ज़ है, अब आप बोलिए, है कि नहीं।

कमेटी के सब मेम्बर चुप। एक ने फिर कोशिश की—पर हैसियत में फर्क है न ठाकुर साहब!

ठीक बात है, ठीक बात है, सिरी बेटा, तुम्हारी बात मैं मानता हूं—ठाकुर ने सिरी का पहली बार नाम लिया गोया, यह सवाल करके उसने अपनी अहमियत बता दी थी—पर यह तो बताओ, भला, इस ज़माने में हैसियत का क्या मोल भाई, जिसके पास वोट देने के जितने ज्यादा हाथ हैं, उसकी हैसियत उतनी ही बड़ी है, है कि नहीं।

कमेटी के सभी मेम्बर एकदम चुप होकर····ज़मीन की तरफ देखने लगे। कोई ठाकुर की तरफ छिप कर भी नहीं देख पा रहा था। तभी ठाकुर की आवाज़ सुनाई पड़ी—दयाल पंडित, अरे इन लोगों को ज़रा पान-इलायची देना—ठाकुर ने फिर धीरे से कहा—इसमें दुखी होने की कोई बात नहीं है, मैं जानता हूं कि आप लोग मेरे पास बड़ी उम्मीद से आए हैं, और यह भी सही है कि हजार-पांच सौ रुपये चन्दा देना मेरे लिए कुछ भी नहीं है, पर यह तो मैं एक बात कह रहा था, वैसे आप लोग आज जाइए, किसी दिन भाई सुखदेव जी आप आकर रुपया ले जाइए···पांच सौ चन्दा मेरी ओर से लिख लीजिए।

झुकी गरदनें नीचे से ऊपर उठीं, चेहरों पर एक अजीब किस्म की शर्मीली हंसी छा गई। कमेटी वालों ने ठाकुर को आदर से नमस्कार किया और खुशी-खुशी घर लौटे। यह थी ठाकुर जैपाल की दूसरी चोट। पर इनका घाव तन पर नहीं होता था, इसलिए इसे भांप सकना आसान नहीं था। करैता गांव की पंचायतें अब मलिकाने के चबूतरे पर नहीं होतीं, अब इन पंचायतों में ठाकुर जैपाल सिंह मुखिया के आसन पर नहीं बैठते, अब गांव के लोग उनकी राय और फैसले के लिए उनका मुंह नहीं ताकते, पर यदि कोई भी आदमी पिछले पांच-सात महीने के दौरान

करैता गांव में हुई वारदातों और उनके फैसलों का लेखा-जोखा करे, तो उसे यह जान कर बड़ी हैरत होगी कि एक भी फैसला ठाकुर के मन के खिलाफ नहीं हुआ। जाहिरा तौर पर सुखदेव ही पंच था, पर फैसले ठाकुर की मर्ज़ी से होते थे। गांव वालों को एक फायदा ज़रूर हुआ कि मामूली जुर्म के लिए पहल से दूनी सजाएं मिलने लगीं। क्योंकि करैता में एक नहीं दो पंचों का राज था।

उस दिन शाम का समय था, ठाकुर की चौपाल में सुखदेव बैठा था। सुखदेव था और ठाकुर····बाकी कोई नहीं।

—अब तक तो हुआ, पर यह मामला बड़ा संगीन है—सुखदेव ने धीरे से कहा·····

—तुम मामूली-सी बात स घबड़ा जाते हो—ठाकुर ने कहा—मामला संगीन है, तो आमदनी भी संगीन होगी? एक हज़ार से कम पर राज़ी मत होना। दो-तीन हज़ार से कम के गहने देवा के हाथ नहीं आए ह, फिर खून का मामला है, एक हज़ार आसानी से दे देगा वह। उसमें पांच सौ से कम पर थानेदार राज़ी न होगा। आने तो दो कल, देखना चुटकी बजाते सब ठीक कर दूंगा······ठाकुर ने यों चुटकी बजाई जैसे मक्खी उड़ा रहे हों।

करैता गांव पर एक अजीब तरह का सकता छाया हुआ था। यह तो सभी जानते थे कि देवा नम्बरी चोर और बदमाश है, पर आखिर है गांव का आदमी। यदि भंडाफोड़ हुआ तो बड़ी बदनामी होगी। आस-पास के गांवों में मुंह दिखाना मुश्किल हो जाएगा। बात यों हुई कि पिछले हफ्ते देवा किसी दूर के गांव की एक औरत भगा कर ले आया। औरत नाक-नक्शा और कपड़े-लत्ते से किसी अच्छे घर की मालूम होती थी। पता नहीं देवा ने क्या सब्जबाग दिखाया उसे, वह शायद अपन ससुराल वालों से नाराज़ थी, एक रात गहनों की पोटली छिपाए वह देवा के साथ चल पड़ी। दवा ने गांव में हल्ला किया कि औरत रेल के नीचे कटने जा रही थी, उसने ऐन मौके पर पहुंच कर उसे बचाया और अपने साथ ले आया, दो-एक दिन में सुस्थिर हो जाएगी, तो उसका अता-पता पूछ कर वह उसके घर पहुंचा आएगा। फूला, यही नाम था उस औरत का, बीस-बाइस के उम्र की जवान औरत थी, बहुत सुन्दर तो नहीं थी, पर उसकी बात-चीत, चाल-ढाल से मालूम होता था, कि उसमें जीने की ख्वाहिश है और अपने मन मुताबिक जीने के लिए वह कोई भी कदम उठा सकती है। देवा पर उसे पूरा यकीन था। गांव की औरतें सुबह से शाम तक देवा के घर जुड़ी रहतीं। फूला के बारे में तरह तरह की खबरें गांव में उड़ा करतीं। कुछ औरतें उसकी शौकीनी की निन्दा करतीं, कुछ उसके हंसमुख स्वभाव की तारीफ़ करते नहीं अघातीं।

अभी कल की ही बात है, शाम तक फूला हंसती-खेलती रही, औरतों के सामने अपने मायके और ससुराल के लोगों की चुटकियां लेती रही, आधी रात के करीब देवा के धाड़ मार कर रोने की आवाज़ से सभी चौंक कर उठ बैठे। मुहल्ले के तमाम लोग उसके दरवाजे पर टूट पड़े। भीतर क दालान की बल्ली में मोटी रस्सी से फूला की लाश झूल रही थी और नीचे बैठा देवा बच्चों की तरह फुक्का मार कर रो रहा था—कहती थी कि मुझे घर मत भेजो चाहो तो कुएं में काट कर डाल दो, पर मैं ससुराल नहीं जाऊंगी, वह मेरी गरदन मरोड़ कर रख देगा, उसकी मां जलते चिमटे से मेरी देह दाग-दाग कर काली कर देगी···कसाई की औलाद हैं सब····पर भला आप सब लोग ही कहिए मैं पराई औरत को कब तक घर में रख सकता था, जब तक मुझे उसके नैहर-सासुरे का पता-ठिकाना नहीं मालूम था, मैंने उसे बहिन बोल कर अपने घर में रखा, पर जब मुझे सब पता-ठिकाना मालूम हो गया, तो एक पल भी दूसरे की बहू-बेटी को अपने घर मैं कैसे रहने देता? उसके रोने-गिड़गिड़ाने का

बिना खयाल किए मैंने डाट कर कहा कि यह नहीं हो सकता। कल सुबह ज़रूर उसे अपने ससुराल जाना होगा······और उसे जाने किस बात का इतना डर था कि धरन में रस्सी डाल कर झूल गई। इसने तो मुझे किसी ओर का नहीं रखा—देवा बिना पूछे ही ये सारा बयान सुना कर सिसक-सिसक कर रोने लगा।

गांव वाले फूला की मौत पर दुखी हुए, उन्होंने देवा को समझाया-बुझाया। पर सबके दिल में पुलिस का भयंकर हादसा छाया हुआ था। जाने किस-किस की शामत-सलामत होगी। थोड़ी देर तक अजीब सन्नाटा छाया, फिर धीरे-धीरे लोग-बाग अपने-अपने घरों की ओर चल दिए। सुखदेव पंच और ठाकुर जैपाल एक साथ ही देवा के घर में घुसे और बाहरी फाटक वन्द करके आंगन में चले आए। देवा के रोने-कलपने का गांव वालों पर जैसा भी प्रभाव पड़ा हो, ठाकुर जैपाल सिंह पर तो उसका रत्ती भर असर नहीं था।

—क्यों, कै हज़ार के गहने होंगे—आते ही उन्होंने देवा के चेहरे पर घूरते हुए पूछा।

—गहने कहां थे उसके साथ··आप भी हुज़ूर—देवा डर के मारे थूक निगलने लगा।

—चुप रहो, हम तुमको आज से नहीं जानते, यह रस्सी की फांसी असली भेद नहीं छुपा सकेगी, पुलिस के आते ही सारा भंडाफोड़ हो जाएगा, गांव की बदनामी जो होगी वह होगी ही, तुम्हारी भी इस बार खैर नहीं है।········

देवा ने सब कुछ कबूल कर लिया। एक हज़ार रुपया देना भी उसने स्वीकार कर लिया। ठाकुर ने उसे पूरा विश्वास दिलाया कि कल थानेदार के आने पर वे मामला रफा-दफा कर देंगे, गांव की इज्जत बचाने के खातिर वे कुछ भी उठा न रखेंगे। सुबह-सुबह ही भय के आतंक से बदहवास गांव में घूम-घूम कर दयाल पंडित तरकारियां, दही, मुर्गे, घी, चीनी आदि इकट्ठा करते रहे। मुसकरा-मुसकरा कर सबसे बोलते और इत्मीनानदार आदमी के कान में धीरे से कहते—फांसी लगा कर नहीं मरी थी, देवा ने मार डाला है गला दबा कर, वह तो कहो गांव की बदनामी के खियाल से ठाकुर साहब बीच में पड़ गए, मुदा अब कोई फिकिर नहीं, जज कलक्टर का हाथ पकड़ कर फैसला बदलवाय दें, ये तो दरोगा थानेदार की बात है···

दयाल पंडित की बातों से लोगों को थोड़ी राहत मिली।

सत्कार-तवज्जह में किसी तरह की कमी न हुई। चौकीदार, कांस्टेबिल, मुंशी, थानेदार सब प्रसन्न थे, क्योंकि इस ज़माने में इस तरह का स्वागत कम ही होता है पर ठाकुर जैपाल खानदानी आदमी थे, बड़े-बड़े अफसरों से उनकी दोस्ती थी, इस बात को अदना सिपाही से थानेदार तक सभी जानते थे, चाहे थानेदार पुराना हो या नया, करैता गांव में जाने के पहले ठाकुर जैपाल के बारे में सब कुछ जान लेना उनका फर्ज़ था।

—अब आप ही देखें साहब, नेकी करते हाथ जलता है, कहां तो बिचारे ने रेल से कटने से उसकी जान बचाई, कहां वह उसी के घर में फांसी पड़ कर मर गई·······गरीब आदमी ऊपर से आफत····!

देखिए ठाकुर साहब, मैं आप से यह उम्मीद नहीं करता, यह सीधा मरडर का केस है, औरत की गरदन में अब तक उंगलियों के निशान बने हैं······नहीं, नहीं ये रुपये आप रखिए···क्या समझा कि आप·····

देवा की उसी दिन चालान हो गई। फूला की लाश भी थाने भेज दी गई।

\+ \+ \+

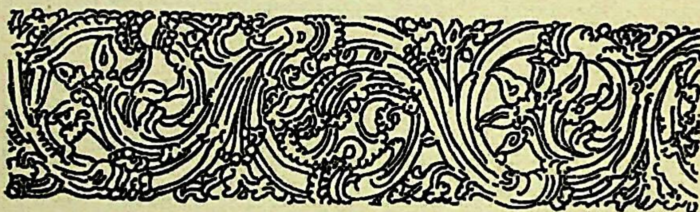
सुबह ठाकुर जैपाल चबूतरे पर मालिश करा रहे थे, उनकी आंखें रात भर जगाने के कारण बुरी तरह लाल थीं। सुखदेव सामने कुर्सी पर मनमारे बैठा था।

—क्या कहा उसने···?

—कहेगा क्या साला नीच ज़ात की यही हालत है। ऊंचे ओहदे पर पहुंच भर जाने से कहीं शराफत आ जाती है, शराफत तो खानदानी चीज़ होती है····· कहने लगा, मरडर का केस है। अरे मरडर का केस न होता तो क्या चोरी-डकैती के केस के लिए हम तुम्हारी सिफारिश करते......—ठाकुर गुस्से में बड़बड़ाए—नीच ज़ात कहीं का?

सामने दयाल पंडित खड़े थे, ठाकुर उनकी ओर आशा लगाए ताक रहे थे, पर दयाल पंडित ने जाने क्यों रोज की तरह हामी में गरदन नहीं हिलाई।

—इलाहाबाद से प्रसारित



रूसो

डा० देवराज

विश्व के जिन लेखकों ने अपने जीवन के बारे में लिखा है, उनमें जीन जैक रूसो का नाम विशेष प्रसिद्ध है। रूसो की आत्मकथा का नाम 'कन्फैशन्स' है, जिसके मानी हैं कि वह उसमें मुख्यतः अपने पापों व अपराधों का विवरण देना चाहता है। मतलब यह है कि रूसो ने अपने जीवन की कथा कहते हुए अपनी बुराइयों को छिपाने का बिलकुल प्रयत्न नहीं किया है। उसने पुस्तक के शुरू में लिखा है—मैं एक ऐसा काम करने जा रहा हूं जिसकी पुराने साहित्य में कोई मिसाल नहीं है और भविष्य में कोई नकल नहीं होगी, मैं अपने सम्बन्ध में सम्पूर्ण, नग्न सत्य कहने जा रहा हूं।..... यहां मैंने अपने को जैसा मैं था वैसा दिखाया है: क्षुद्र तथा घृणा के योग्य, अच्छा, ऊंचे मन और हृदय का इत्यादि। हे भगवान! मैंने अपने को वैसा दिखाया है, जैसा तूने मुझे देखा है। लोग मेरी स्वीकृतियां सुनें, मेरी बुराइयों पर खेद प्रकट करें और लजाएं। किन्तु उनमें से प्रत्येक अपने बारे में भी सही रहस्य प्रकट करे, और फिर हिम्मत हो तो कहें कि मैं इस मनुष्य से भला था।

अपनी बुराइयों तथा कमियों पर प्रकाश डालते हुए रूसो ने वस्तुतः मनुष्य मात्र की दुर्बलताओं पर रोशनी डाली है, यही उसकी आत्मकथा का सांस्कृतिक व साहित्यिक महत्व है।

रूसो का जन्म जेनीवा नगर में १७१२ में हुआ। अठारहवीं सदी के फ्रेंच विचारकों में रूसो का महत्वपूर्ण स्थान है। वह उन विचारकों में है, जो फ्रांस की राज्य क्रान्ति के लिए उत्तरदायी थे। वह साहित्य के रोमांटिक आन्दोलन का भी जन्मदाता था। रूसो मनुष्यों की स्वतंत्रता तथा प्रकृति के अनुसार जीवित रहने के आदर्श का हामी था।

रूसो की ज़िन्दगी पर स्त्रियों का बड़ा प्रभाव पड़ा। जीवन भर वह एक या दूसरी स्त्री के सम्पर्क में आता रहा, जिससे उसकी जीवन दिशा प्रभावित होती रही। रूसो को जन्म देकर उसकी मां मर गई थी। उसका पिता घड़ीसाज था और उसे बहुत प्यार करता था। शुरू से ही रूसो का हृदय बड़ा संवेदनशील था, और उसे स्नेह की भूख थी। बचपन से ही उसे पढ़ने का शौक था और उसे यूनानी जीवनीकार प्लूटार्क बहुत प्रिय लगता था। छोटी सी ही अवस्था में उसमें प्रेम सम्बन्धी आवेग जागने लगे थे। रूसो का कहना है कि उसका संवेदनशील हृदय ही उस के अधिकांश कष्टों का कारण बना।

बचपन में उसमें अनेक दोष थे: बहुत बोलने की आदत, भोजन प्रेम, झूठ बोलने तथा चोरी का स्वभाव। लेकिन वह किसी को कष्ट नहीं पहुंचाता था और न किसी की चुगली ही करता था। अपनी चाची से उसने संगीत में रुचि प्राप्त की थी। कुछ दिनों वह एक गांव में रहा, और गांव के जीवन को बहुत पसंद करने लगा। बालक रूसो की यह बड़ी इच्छा रहती थी कि सब उसे प्यार करें। इन दिनों उसे लाम्बेर्सिए नाम की एक प्रोटेस्टैन्ट नारी के साथ शिक्षा के लिए रहना पड़ा। एक बार उस नारी ने रूसो को शारीरिक दण्ड दिया, जिससे उसके मन और हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उस समय वह सिर्फ आठ वर्ष का था, लाम्बेर्सिए की अवस्था लगभग तीस वर्ष की

थी। उस समय से ही रूसो में स्त्रियों के प्रति आकर्षण होने लगा था। छोटी ही उम्र में उसकी आंखें कमज़ोर हो गईं। पुस्तकें पढ़ने के प्रेम ने उसे कल्पनाशील बना दिया। उसे आस-पास की दुनिया उतनी यथार्थ नहीं मालूम पड़ती थी, जितनी कि कल्पना की चीज़ें। पन्द्रह-सोलह वर्ष की अवस्था में ही उसमें तेज़ महत्वाकांक्षा उत्पन्न हो गई कि वह खूब प्रसिद्ध बने।

सोलहवें वर्ष में उसकी भेंट एक अट्ठाईस वर्ष की नारी से हुई, जिसने उसके जीवन पर सब से अधिक प्रभाव डाला। इस नारी का नाम था श्रीमती वारेन्स। वह एक विधवा थी, जो पेंशन पाती थी। श्रीमती वारेन्स कोमल प्रकृति, लापरवाह, स्वप्नदर्शी और उदार स्वभाव की थीं। रूसो की भांति वह भी पहले प्रोटेस्टैंट थी और फिर कैथोलिक बन गई थी। रूसो ने उसमें एक साथ ही प्रेमिका और मां के सम्बन्धों का आरोप किया। उसके सम्पर्क से रूसो के हृदय में प्रसन्नता, निराकुल शान्ति और गम्भीर विश्वास की भावनाएं उठती थीं। रूसो लिखता है—क्या यह सम्भव है कि एक व्यक्ति दूसरे को, इच्छाओं के बिना नहीं, ईर्ष्या के बिना प्यार कर सके? मेरे मन में कभी यह प्रश्न भी नहीं उठा कि वह मुझे बदले में प्यार करती है या नहीं। कुछ दिनों बाद रूसो को जीविका के लिए श्रीमती वारेन्स के पास से अलग होना पड़ा। वह अपने को उनकी कृति, शिष्य, मित्र और प्रेमी सब कुछ समझता था।

श्रीमती वारेन्स से पहली भेंट होने के कुछ ही दिनों बाद रूसो ट्यूरिन गया और वहां कैथोलिक बन गया। इस प्रकार जीविका मिली, पर शीघ्र ही उसे ट्यूरिन छोड़ना पड़ा। कुछ दिनों बाद उसकी श्रीमती बेसिली से भेंट हुई। वह सदैव बढ़िया पोशाक में रहती थीं और वैसे भी सुन्दर थीं। उनका पति ईर्ष्यालु स्वभाव का था। श्रीमती बेसिली उसे चिढ़ाने के लिए उसके सामने ही रूसो के प्रति प्यार प्रदर्शित करती। रूसो उन्हें प्यार करने लगा। किन्तु बेसिली के प्रति उसकी भावना वैसी नहीं थी, जैसी कि मिसेज़ वारेन्स के प्रति। इसके कुछ दिनों बाद रूसो एक दूसरी महिला के यहां नौकरी करने चला गया। श्रीमती वारसेली विधवा थी। वह बड़ी प्रतिभाशालिनी और बड़ी मनस्वी थीं। उन्होंने रूसो के पिछले जीवन में रुचि दिखाई, और उसके द्वारा लिखे गए कुछ पत्र पढ़े। किन्तु वह स्वयं कभी रूसो के प्रति कोमलता प्रकट नहीं करती थीं। रूसो के पहुंचने के तीन ही महीने बाद वह मर गई। रूसो ने उसका एक रिबन चुरा लिया था, बाद में पकड़े जाने पर उसने एक स्त्री पर दोष डाल दिया। उस बेचारी को सजा मिली, जिसका रूसो को बहुत पछतावा रहा।

इसके बाद वह फिर श्रीमती वारेन्स के पास पहुंच गया। वह लिखता है—श्रीमती वारेन्स के प्रति मेरी जो भावना थी वह सिर्फ मित्रता नहीं थी, वह प्रेम भी नहीं था, वह प्रेम से ऊंची चीज़ थी, जिससे मुझे शान्ति व संतोष मिलता था। उनके साथ रहना भर, और बात करते रहना, मेरे लिए बड़ा सुख था। वह मेरे लिए कोमल माता, प्रिय बहन और मित्र सब कुछ थीं।

१७४५ के आस-पास रूसो ने पैरिस के होटल की एक नौकरानी थैरेसी को साथ रख लिया। उसके साथ उसका कभी विवाह नहीं हुआ, पर वह जन्म भर साथ रही। उसने कभी इसकी परवा न की कि रूसो किन दूसरी स्त्रियों से सम्बन्ध बना रहा है।

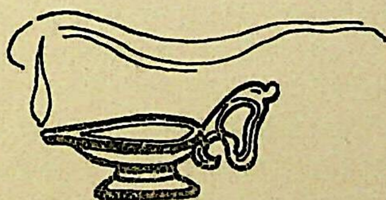
रूसो को साहित्यिक सफलता काफी देर से मिली। दिजान की ऐकेडेमी ने एक पुरस्कार की घोषणा की। पुरस्कार एक निबन्ध पर मिलना था जिसका विषय था 'क्या विज्ञान तथा कलाओं ने मनुष्य का हित किया है।' रूसो ने अपने निबन्ध में दिखलाया कि इन चीज़ों से और सभ्यता मात्र से मनुष्य की क्षति ही अधिक हुई है। विज्ञान आदि ने मनुष्य की ज़रूरतें बढ़ाई हैं, जिससे उसकी नैतिकता का ह्रास हुआ है और उसकी गुलामी की नींव पड़ी है। १७५० में रूसो को इस निबन्ध पर इनाम मिला। वह प्रसिद्ध होने लगा। १७५४ में उसने एक और पुस्तक

लिखी, जिसका नाम था 'असमानता पर व्याख्यान।' उसमें रूसो ने यह दिखलाया कि मनुष्य निसर्गतः भला होता है, और समाज की संस्थाओं द्वारा बुरा बना दिया जाता है। निष्कर्ष यह कि सभ्यता और समाज की संस्थाएं मनुष्य के लिए अभिशाप रूप हैं। रूसो निजी सम्पत्ति के खिलाफ था। असमानता सम्बन्धी निबन्ध के प्रकाशन के बाद रूसो एक मित्र के साथ गांव की एक कुटी में रहने लगा। १७५५ में रूसो ने उक्त निबन्ध की एक प्रति प्रसिद्ध लेखक वाल्तेयर के पास भेजी, जिसने उसका मज़ाक उड़ाया। गांव की कुटी में वह जिस परिवार के साथ रहा था, उसकी स्वामिनी का नाम श्रीमती एपिने था। कुछ दिनों बाद रूसो उनकी एक सम्बन्धिन से प्रेम करने लगा। उसने अपने पर नियंत्रण करने की कोशिश की पर व्यर्थ। उसकी शान्ति भंग हुई, और वह कुछ दिनों बाद एक दूसरे परिवार में चला गया।

१७६२ में उसकी दो प्रसिद्ध पुस्तकें निकली 'एमिली' जो कि शिक्षा सम्बन्धी पुस्तक है और 'द सोशल कान्ट्रेक्ट'। 'एमिली' पुस्तक के, विशेषतः उसके चौथे भाग के, खिलाफ बड़ा आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। अब तक रूसो के अनेक शत्रु पैदा हो चुके थे जैसे रानी पाम्पाडूर, जो फ्रांस के सम्राट की बड़ी प्रिय थी, फ्रांस का प्रधान मंत्री तथा श्रीमती देफ़ाल्द, जो पेरिस के लोगों की राय बनाती थीं। फ्रांस की पार्लियामेन्ट ने 'एमिली' को जलाने का हुकुम दिया। ग्यारह जनवरी १७६२ को 'एमिली' पेरिस में जलाई गई। कुछ लोग साफ-साफ कह रहे थे कि उसके लेखक को भी जला देना चाहिए। कुछ दिनों बाद रूसो की जन्म भूमि जेनीवा में उक्त पुस्तक को जलाया गया। उसके बाद बर्न और न्यूशातेल में। सारे योरप में 'एमिली' के खिलाफ शोर होने लगा। इस सबका रूसो के मानसिक स्वास्थ्य पर खराब असर पड़ा।

'एमिली' में इस मत का प्रतिपादन है कि बालक की शिक्षा प्रकृति के अनुसार होनी चाहिए। रूसो पुस्तकों के खिलाफ़ था, और सभ्यता की परम्पराओं का विरोधी। सोशल कान्ट्रेक्ट, पुस्तक में मनमानी करने वाली सरकार, विशेषतः राजतंत्र का, विरोध है और जनतंत्र का समर्थन। इस पुस्तक ने फ्रांस की राज्य क्रान्ति के लिए भूमि तैयार की।

—लखनऊ से प्रसारित



दैनिक जीवन और कानून

गोवर्धनदास अग्रवाल

किसी भी स्वतंत्र देश के कानूनों का परिचय उसके नागरिकों को होना चाहिए। उससे उन्हें पता चलता है कि उनके अधिकार एवं कर्तव्य क्या हैं और यदि वे उनका ठीक से पालन नहीं करेंगे अथवा अधिकारों की सीमा का उल्लंघन करेंगे, तो उन्हें क्या दण्ड भोगना पड़ेगा। कानून का तात्पर्य उन विविध प्रकार के नियमों से होता है, जिनके अनुसार सामान्यतः हमारा आचरण होता है और जिन्हें राज्य अपनी अदालतों के ज़रिए लोगों पर लागू करता है। कानून, राज्य द्वारा बनाए गए आचरण के नियमों को दिया गया ही एक दूसरा नाम है।

प्राचीन काल में कानून का मुख्य स्रोत प्रथा या चलन था। हमारी ही तरह प्राचीन जातियों के भी अपने कानून थे। अपने कानूनों को वे कानून प्रदायकों से ग्रहण करते थे, जो प्रायः राजा, योद्धा, कबीले के मुखिया, पंडे, पुजारी या पैगम्बर होते थे। हिन्दुओं के कई कानून प्रदायक थे जो ऋषि-मुनि थे और उनमें सबसे प्रसिद्ध मनु थे। भारत के स्वतंत्र होने के पश्चात भारत का संविधान उसका सर्वोच्च कानून है, क्योंकि भारत के कानूनों में उसकी सत्ता सर्वोपरि है और अन्य सभी कानून उसके उपबंधों के अनुसार ही बनाए और लागू किए जा सकते हैं। यह खुद भारत वासियों ने बनाया है। यह उनके चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा, उनकी बढ़ती हुई आवश्यकताओं के अनुसार, लगातार बनाया, बदला तथा परिवर्द्धित किया जा रहा है। हमारा राष्ट्र ज्यों-ज्यों आगे बढ़ रहा है, उसके कानूनों में तेज़ी से परिवर्तन एवं संशोधन हो रहा है। कानून बुनियादी तौर पर नैतिकता के सर्वोच्च आदर्शों और समाज के सब अंगों के साथ न्यायपूर्ण व्यवहार पर ही आधारित होता है। कानून बनाने की मंशा यह होती है कि वे सबके लिए न्यायपूर्ण और समान हों। यह बात नहीं कि सिर्फ हमारा राजनीतिक ढांचा ही कानून की बुनियादों पर आधारित है, बल्कि उन पर हर समाज एवं व्यक्ति का दैनिक, सामाजिक एवं आर्थिक ढांचा खड़ा हुआ है।

अदालत में वकालत करते हुए यह तथ्य मेरे सामने आए कि किसी न किसी तरह समाज के हर तबके के लोग अदालतों में पहुंचते हैं। तरह-तरह के लोगों पति और पत्नी, मां-बाप और उनके बच्चे, संरक्षक और संरक्षित, वकील और उनके मुवक्किल, डाक्टर एवं मरीज़, व्यापारी और ग्राहक के बीच के सभी झगड़े-झमेले फैसलों के लिए अदालतों में पहुंचते हैं। तिस पर भी हम यह महसूस नहीं करते कि हमारा दैनिक जीवन कानूनों की कड़ी में कितना जकड़ा हुआ है।

कानून का मूल सिद्धांत है कि कानून को न जानना, बचाव की कोई दलील नहीं है। हर व्यक्ति कानून का जानकार माना जाता है। कोई भी व्यक्ति कानून भंग करने के बाद उसके परिणाम से यह कह कर नहीं बच सकता कि उसे कानून का ज्ञान नहीं था। यदि वह अपराध करता है, दूसरे के शरीर या सम्पत्ति को हानि पहुंचाता है अथवा अपने किए हुए कानूनी करार को पूरा नहीं करता, तो उसे हरजाना देना होगा अथवा दण्ड भुगतना पड़ेगा। हर प्रकार हर साधारण व्यक्ति का कानून से सम्बन्ध होता है। हो सकता है कि किसी व्यक्ति के पास सम्पत्ति हो, वह कर देता हो, स्वयं नौकरी करता हो या दूसरों को नौकर रखता हो, उसे किसी अन्य

के विरुद्ध दावा या अपने विरुद्ध किए गए दावे का प्रतिरोध करना पड़े। सम्भव है, वह एक सार्वजनिक क्षेत्र में उच्च पद पर हो, किसी मन्दिर-मस्जिद या अन्य दान संस्था का प्रन्यासी (ट्रस्टी) हो, किसी नाबालिग का संरक्षक, संसद, राज्य विधान सभा, स्थानीय बोर्ड का सदस्य अथवा राज्य की प्रतिरक्षा सेवा का सदस्य हो। इन तथा अन्य परिस्थितियों में कानून का जानना और उसके अनुसार आचरण करना उसके अपने हित की बात होगी।

मनुष्य रोटी से ही जिन्दा नहीं रहता। उसकी और भी ज़रूरतें होती हैं। वह सबसे एकाकी जीवन यापन नहीं कर सकता, उसे अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क-साहचर्य की आवश्यकता होती है। वह परिवार, कबीले, समुदाय व राज्य आदि समूहों में संगठित होकर उनसे सम्पर्क स्थापित करता है, किन्तु वह ऐसा तभी कर सकता है जब कि वह और दूसरे व्यक्ति आचरण के उन नियमों का पालन करें, जो उनके बीच व्यवस्थित सम्बन्धों की स्थापना करते हैं। जब बड़ी संख्या में लोग सह-नागरिकता का फायदा उठाना चाहते हैं, तो उन्हें शरीर, घर और उनकी चीज़ों की सुरक्षा मिलती है। इस फायदे को वे बाह्य शत्रुओं से रक्षा के लिए और आपस में व्यवस्था बनाए रखने के लिए संगठित होकर प्राप्त करते हैं। ऐसा करने के लिए वे भौतिक या शारीरिक सुख, ज्ञानार्जन, मस्तिष्क व आत्मा का विकास और लोक हित जैसे अन्य फायदों को पाने के लिए योग दे सकते हैं। यह तभी सम्भव है जब कि सब नागरिक शान्ति और मेल से रहें और आचरण के सर्वसम्मत आदर्शों का पालन करें।

हमारे देश का आजकल का लक्ष्य लोकतन्त्रात्मक समाजवादी समाज रचना होने के कारण हमारा जीवन दिन प्रतिदिन कानूनी शिकंजों में जकड़ा जा रहा है। अगर हम अपने चारों तरफ प्रतिदिन नए-नए कानूनों को लागू होने की ओर दृष्टि डालें, तो हमें प्रतीत होगा कि एक तरह से हमने अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता राष्ट्रीय स्वतंत्रता में समाविष्ट कर दी है और हमने अपने आप को सार्वजनिक कानूनों से बांध दिया है।

आजकल हम मकान मालिक हैं, तो हमें अधिकार नहीं है कि हम उसे स्वेच्छा से किसी को किराए पर दे दें। मकान मालिक को मकान को किराए पर उठाने के लिए, दुकानदार को सामान बेचने के लिए, कारखानेदार को अपने सेवकों को रखने एवं निकालने के लिए, भू-स्वामी को अपनी भूमि बेचने एवं उसमें उत्पादन करने के लिए राज्य की अनुमति लेनी होती है एवं नियमों के अनुसार आचरण करना पड़ता है।

आजकल दुकानदार को यह स्वतंत्रता नहीं है कि वह चाहे जब अपनी दुकान खोले और बंद करे। उसे नियमानुसार निर्दिष्ट समय पर दुकान खोल कर बंद कर देनी होती है। वह निर्दिष्ट समय से अधिक अपने सेवकों से कार्य नहीं करवा सकता। अब कोई भी व्यक्ति एक निर्दिष्ट संख्या से ज्यादा एकड़ भूमि अपने पास नहीं रख सकता है। बच्चों की शिक्षा के लिए भी नियम बने हुए हैं। अगर बच्चा उच्च क्रमांक प्राप्त न कर सका, तो उसकी आगे की शिक्षा में बाधा आ जाती है। यह हर नागरिक के लिए अनिवार्य है, कि वह अपने बच्चे को कम से कम प्राथमिक शिक्षा अवश्य दे, वर्ना वह दण्ड का भागी होगा।

हमारे पारिवारिक सम्बन्धों का विकास बहुत सी समस्याएं पैदा करता है, जैसे वैध विवाह, का ढंग, आश्रित सम्बन्धियों के भरण-पोषण का कर्तव्य, नाबालिग बच्चों के शरीर व सम्पत्ति की रक्षा तथा उत्तराधिकार का अधिकार। पारिवारिक कानून के नियमों में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं, और हो रहे हैं। अब मृत हिन्दू की सम्पत्ति में पुत्रियों को एवं महिला सम्बन्धियों को पुरुष सम्बन्धियों के समान अधिकार दिए गए हैं। विधवाओं की स्थिति अब हिन्दू समाज में कानून के द्वारा काफी प्रगतिशील हो गई है।

अब तो सरकार ने संसद में यह भी कानून पेश किया है कि कोई भी अपनी पुत्री के दहेज में २,००० रु० से अधिक न दे सकेगा, देगा तो उसे कारावास का दण्ड तक दिया जा सकेगा। इन सब नए सरकारी कानूनों ने हिन्दू सनातन धर्म की परिपाटी को एकदम बदल कर आधुनिक बना दिया है, जिससे कि समाज अधिक प्रगतिशील हो और वह नियमानुसार आचरण करे।

कहने का तात्पर्य यह है कि अब हमें अपने पारिवारिक जीवन के हर पहलू पर कानून की शरण में जाना पड़ता है। इस तरह हम देखते हैं कि अब हम पूर्णरूप से कानून के शासन में रह रहे हैं। हमारे दैनिक जीवन का एक भी पहलू ऐसा शायद ही निकले कि जिसके लिए राज्य ने कुछ नियम आचरण के लिए न बनाए हों। इसलिए अब यह अत्यन्त आवश्यक हो गया है कि स्कूलों तथा कालेजों में हर विद्यार्थी को कानून के बुनियादी उसूलों की शिक्षा दी जानी चाहिए। मानना ही होगा कि आधुनिक प्रजातांत्रिक युग में कानून सर्वोपरि है, जिसके नियमों द्वारा हमारा दैनिक जीवन संचालित होता है।

—नागपुर से प्रसारित

मधुवन के कांटे कलियों से ज़्यादा शिष्ट लगे

देवराज दिनेश

कभी न घबराया मैं गहरी काली रातों से—
ऐसा कह कर जीवन का अपमान करूंगा मैं!

कई वार सिहरन व्यापी है इन सुनसानों में,
कई बार अन्तर मेरा कांपा वीरानों में।
किसी पथिक के लिए हृदय की अकुलता रोई,
एकाकीपन ने अन्तर में गहन व्यथा बोई।
दीप जलाए बहुत, पवन ने सभी बुझा डाले,
मन के अम्बर पर पाले हैं मेघ व्यथा वाले।
पीड़ाओं से मैंने कभी नहीं मुख मोड़ा है—
ऐसा कह कर क्रन्दन का अपमान करूंगा मैं!

जीवन के विष को पीना इतना आसान नहीं,
फटे हुए अन्तर सीना इतना आसान नहीं।

जब जब भी अन्तर की वीणा पर दुख ने गाया,
मेरे मानस की करुणा ने नवल रूप पाया।
जब जब भाव हुए आकुल भाषा खुद संवर गई,
पीड़ा मेरी स्वयं बन गई उस क्षण छन्दमयी।
कभी न रोया मैं जीवन के झंझावातों में —
ऐसा कह कर यौवन का अपमान करूंगा मैं !

वाती जली रोशनी फैली सूने अन्तर में,
लगा कि कोई गीत तड़पता है मेरे स्वर में।
तुमने मुझको दुलराया, दुलरा कर ठुकराया,
पर यह वैरागी मन तुम पर कभी न झुंझलाया।
मैंने चाहा शूल चुनूं मैं जग की राहों से,
बन्दी स्वप्न छुड़ा लूं निठुर नियति की बाहों से।
बन्धन में भी करुणा का वरदान मिला मुझको—
यह न कहूं तो बन्धन का अपमान करूंगा मैं !

तारों की बस्ती में चन्दा का यौवन पा कर,
जब जब गीत बनाए विरही मन ने अकुला कर।
चुभन भरी जिन कांटों ने उनको भी सहलाया,
कलियों की मुसकान निरख भंवरा बन कर गाया।
फिर भी मधुवन से ज्यादा मरुथल पर मोह रहा,
मरु का सूनापन अन्तर की ममता टोह रहा।
मधुवन के कांटे कलियों से ज्यादा शिष्ट लगे—
यह न कहूं तो मधुवन का अपमान करूंगा मैं !

मलयानिल बह रहा सुखद चन्दन की गन्ध मिली,
चिर युग से मुरझाई प्रिय की स्मृति फिर आज खिली।
मन में इतना मोह कि गति के बन्धन टूट गए,
चरण बढ़े आगे कुछ साथी पीछे छूट गए।
पहुंचा तो देखी चन्दन पर विषधर की छाया,
गन्ध मिली लेकिन विषधर का दर्शन भी पाया।
विषधर से घबरा कर मैंने चन्दन छोड़ दिया—
ऐसा कह कर चन्दन का अपमान करूंगा मैं !

—दिल्ली से प्रसारित

दिल्ली जो थी

अम्बिकाप्रसाद मिश्र

अब आज की दिल्ली शानदार है। कल की भी शानदार थी। पर कल की शान कुछ और ही थी। लाल किले के दीवान-ए-खास की एक मेहराब के ऊपर सुनहरे हरफों में लिखा है :

अगर फ़िरदौस बर रुए ज़मीं अस्त,
हमीन अस्तो, हमीन अस्तो, हमीं अस्त ।।

मतलब यह कि अगर इस ज़मीन पर स्वर्ग कहीं है, तो वह यहीं है, यहीं है। पर इसका मतलब यह नहीं कि स्वर्ग सिर्फ शाही दरबार या शाही महलों पर उतरा था। उसकी छाया पूरे शहर पर पड़ रही थी।

जिस शहर के आस-पास, और बागों के अलावा सिर्फ अंगूरों के ही १,२०० बाग लगवाए गए हों, जिसे नन्दन कानन बनाने के लिए शाही परिवारों ने कोर-कसर न रखी हो, जिसके खास-खास बाज़ारों में नहरें बहती हों, जहां नौका विहार के लिए बल्लियां लगाने वाले मल्लाहों के लिए 'बल्ली मारान' नाम से पूरा एक मुहल्ला आबाद हो, हुक्का पीने वालों का शौक पूरा करने के खातिर तरह-तरह की खूबसूरत निगालियों की बंधाई के लिए पूरा कूचे का कचा 'नेचाबन्दान' के नाम से मशहूर हो, कामदानी कामवालों के लिए 'कंदलेवाली गली', गोटा किनारी के लिए 'किनारी बाज़ार', और पराठे के शौकीनों के लिए 'गली परांठे वाली आबाद की गई हो, तरह-तरह के फन व हुनर के कामों के लिए अलग-अलग मुहल्ले बसे हों, जहां आए दिन सुनहरी अम्बारी और ज़रदोज़ी फूलों से सजे-धजे हाथियों के जुलूस निकलते हों, हुक्मरानों के लिए बर्फ न सिर्फ गढ़वाल बल्कि अमेरिका से आती हो, जहां जल्सों-जुलूसों का कभी तार ही न टूटता हो और जहां रोज ही मेले-ठेले के नज़ारे दिखाई देते हों, उसे आप स्वर्ग से आखिर कितना घट कर समझेंगे ?

जिस दिल्ली का ज़िक्र कर रहा हूं, उसकी हल्की सी झांकी मैंने देखी है, लेकिन उसकी ज़्यादातर कहानी उन लोगों से सुनी है, जिन्होंने उसे या तो अपनी आंखों देखा या उसकी दास्तान अपने बड़ों से सुनी।

लाल किले के लाहौरी दरवाज़े और दिल्ली दरवाज़े के सामने दो खूबसूरत बाज़ार थे। लाहौरी दरवाज़े के सामने वाले बाज़ार को लाहौरी बाज़ार कहते थे, जिसे आजकल चांदनी चौक कहा जाता है। इस बाज़ार के बीचों-बीच एक नहर थी।

इसी तरह लाल किले के दिल्ली दरवाज़े के सामने भी एक बाज़ार था, जो तीस गज़ चौड़ा और १,१०० गज लम्बा था। इसके बीच में भी नहर थी। पहले इस बाज़ार का नाम अकबराबादी बाज़ार था पर बाद में फैज़ बाज़ार पड़ गया, क्योंकि इसके बीच बहने वाली नहर का नाम फैज़ नहर था। ये दोनों बाज़ार अब भी मौजूद हैं, पर इनकी नहरें गायब हैं।

अंग्रेज़ों के जम जाने के बाद दिल्ली का विस्तार कश्मीरी दरवाज़े के बाहर कोई दो मील तक जमुना के किनारे और पश्चिम में पहाड़ी यानी रिज के दोनों ओर हुआ। अंग्रेज़ों

के लिए दिल्ली फौज़ी और गैर-फौजी दोनों तरह का केन्द्र ही नहीं, बल्कि तीर्थस्थान बन गई थी। उत्तर भारत के किसी और शहर या इलाके से उन्हें इतना लगाव नहीं हुआ। उन्होंने अपने लिए यहां शाही ठाठ-बाट के मकान भी बनवाए, जो देखने की चीज़ होते थे। मेटकाफ हाउस और लडलो कासल इस बात के सबूत हैं। उस समय के अंग्रेज़ दिल्ली के भारतीय जीवन को अपनाने का प्रयत्न करते थे, हालांकि गर्मी के मौसम में, उनके लिए बर्फ गढ़वाल की जगह अमेरिका से आने लगी थी। बाद में तो दिल्ली दरवाज़े से लेकर तुर्कमान दरवाज़े तक बर्फ के खेत ही खेत बन गए थे। खेत इसलिए कहा कि कड़कड़ाती सर्दी के दिनों में इस इलाके में सर्द पानी को खन्दकों में जमा कर गर्मी के दिनों के लिए बर्फ तैयार की जाती थी, जो अप्रैल से लेकर अगस्त तक के लिए काफी होती थी।

आज लाल किले से लेकर जामा मसजिद तक जो खाली मैदान दिखाई देता है, उसमें किसी वक्त दरम्याने दर्जे के लोगों की बस्ती थी, जिसमें बीच-बीच में उन अमीर उमरा के मकान थे, जिन्हें शाही दरबार से सरोकार रहता था।

सत्तावन के गदर के बाद १८६० में अंग्रेज़ सरकार की ओर से हुक्म हुआ कि लाल किले से ४४८ गज़ के दायरे के अन्दर की सारी इमारतें गिरा दी जाएं। अंग्रेज़ इंजीनियरों की तो ख्वाहिश थी कि दिल्ली का सराफ़ा यानी दरीबा कलां भी नेस्तनाबूद कर दिया जाए, लेकिन शहर की पंचायतों के पिटीशन भेजने पर दरीबे को छोड़ दिया गया। जो इमारतें गिराई गईं उनमें अकबराबादी मस्जिद भी थी, जो बहुत बड़ी थी। ४४८ गज़ के दायरे में सिर्फ एक ही इमारत रहने पाई, जो अब तक भी मौजूद है और वह है लाल किले के दिल्ली दरवाज़े के सामने दाईं ओर को जाविद खां की छोटी सी, पर खूबसूरत सुनहरी मस्जिद। आजकल जहां पुरानी दिल्ली का रेलवे स्टेशन और रेल की पटरियों का जाल बिछा है, वहां भी आबादी थी। दिल्ली का सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन इतना खुशरंग और मज़ेदार था कि उसकी हर बात की तफ़सील तो क्या फ़िहरिस्त में जाने का भी वक्त नहीं है। सिर्फ कुछ खास-खास बातों का ही ज़िक्र करता हूं, और वह भी सरकारी तौर पर।

दिल्ली शहर फ़सील के अन्दर उसी तरह कैद था जैसे कोई प्रेमी अपनी प्रियतमा की गल बाहीं में रम जाए। यह फ़सील यानी चहारदीवारी अब से साठ साल पहले तक पुख्ता हालत में थी। सारे दरवाज़े रात को बन्द कर दिए जाते थे और सुबह खोल दिए जाते थे।

ज्यादातर लोग शहर की चहारदीवारी के अन्दर ही रहते थे। वे मुश्किल से बाहर जाते थे। जाते भी थे तो किसी दरवेश या फकीर की दरगाह पर या फिर लम्बे सफर को। सुबह की सैर का रिवाज नहीं था। रईस लोग शाम को निकलते थे, लेकिन उनकी टमटम आम तौर पर चांदनी चौक और कश्मीरी दरवाज़े का फेरा लगा कर दियाबत्ती जलने से पहले ही लौट आती थीं। कभी किसी ने हिम्मत की तो सैसिल होटल तक चला गया, लेकिन वहां पहुंचते न पहुंचते साईस को इशारा होने लगता था—आगे खतरा है, गाड़ी घुमाओ।

दिल्ली की आबादी घनी थी, क्योंकि यहां बड़ी खुशहाली थी। गेहूं रुपये का एक मन और घी चार सेर का बिकता था, रुपये का डेढ़ सेर घी और दस सेर दूध तो अभी कल की सी बात जान पड़ती है। ब्याह-शादियों में हज़ार-डेढ़ हज़ार आदमियों की ज़ियाफ़त होती थी, जिसमें आम तौर पर सात या नौ किस्म की मिठाइयां और पांच किस्म की नमकीन चीज़ें परोसी जाती थीं। पूरियां, ख़स्ता कचौरियां, केले की चटनी और कुलफी के कूजे इनके अलावा होते थे।

दिल्ली के लोग शाही दरबार के प्रभाव के कारण आमतौर पर भड़कीली पोशाकें पहनते थे।

नाई हजामत बनाने घरों पर आते थे, क्योंकि उस वक्त हेयर कटिंग सैलून नहीं थे। आज के डाक्टरों का काम वैद्य, हकीम और जर्राह करते थे। जर्राहों की दूकानें शायद हर मुहल्ले में थीं।

मनोरंजन के लिए आजकल के से क्लब और सिनेमा नहीं थे, पर गाने-बजाने की महफिलों बगैरह से जी बहलाने के जरिए बहुत थे।

सड़कों पर सांडों की लड़ाई करवाई जाती थी और उस वक्त अमदरफ्त बन्द हो जाती थी। कबूतरबाजी, बटेरबाजी, तीतरबाजी और पतंगबाजी का शौक आम था और गली गली में मांझा तैयार किया जाता था। मेंढे लड़ाने का भी शौक था। बरसात के दिनों में तांगों की दौड़ यानी रेस होती थी यह रेस अब भी होती है, पर जिन दिनों की बात है उन दिनों डिप्टी कमिश्नर साहब भी इसे देखने जाते थे और सड़कों पर सभी तरह की सवारियों का चलना बन्द हो जाता था। यह रेस मथुरा रोड पर दिल्ली गेट से निजामुद्दीन तक होती थी और तांगों में बैठे लोग घोड़ों के तूफान मेल बनने के खयाल से बेतहाशा चिल्लाते रहते थे।

मवेशी पालने का शौक भी कम न था। गायें सब के यहां होती थीं। सड़कों पर आज की सी बिजली की बत्तियां नहीं, बल्कि लालटेनें थीं, जिन्हें झुटपुटे से पहले ही जलाने के लिए सड़कों पर सीढ़ियां, लिए मजदूरों की भगदड़ सी मची रहती थी। रात को सड़कें कम ही चलती थीं, क्योंकि हर आदमी इस कहावत पर अमल करना चाहता था 'दिया जले, मर्द घर भले।' सड़कें तारकोल की नहीं थीं। जब पानी बरसता था तो कीचड़ से भर जाती थीं। गर्मी के दिनों में सड़कें धूल से भरी रहती थीं। शाम को भिश्ती छिड़काव करते जरूर थे, लेकिन धूल थी कि सिर तक चढ़ जाती थी। पर लोगों का सड़कों की खराबी की ओर ध्यान ही न जाता था और वे इन असुविधाओं की कोई परवा न करते थे।

उस जमाने में नल नहीं थे और कुओं का पानी हाथ गाड़ियों से घर-घर पहुंचाया जाता था। डोलियों का रिवाज बहुत था और हर मुहल्ले के बाहर दस-बीस डोली वाले डोलियां लिए बैठे रहते थे। औरतें-लड़कियां ही डोलियों का इस्तेमाल करती थीं, क्योंकि औरतें सड़कों पर नहीं निकलती थीं। तांगों के चलन के बाद डोलियां कम पड़ गईं, लेकिन जब डोली का काम तांगे से लिया जाता था तो तांगा भागता हुआ तम्बू नजर आता था। कुछ लोग तांगे को इस तरह कपड़े से लपेट देते थे कि सिर से पैर तक औरतों का कोई भी अंग दिखाई नहीं देता था। उस जमाने में स्त्री शिक्षा लोकप्रिय नहीं थी।

सामाजिक जीवन की तरह दिल्ली का सांस्कृतिक जीवन भी सम्पन्न था। साहित्य के क्षेत्र में खासी चहल-पहल रहती थी। मिर्जा ग़ालिब और उस्ताद जौक की रहनुमाई में उर्दू अदब खूब फलफूल रहा था। हिन्दी के क्षेत्र में मुंशी सदासुख लाल 'नियाज़' और सैयद इंशा अल्ला खां बुनियादी काम कर रहे थे। उधर दिल्ली कालेज, जो दारा शिकोह की लाइब्रेरी में लगता था, अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन को बढ़ावा दे रहा था।

लेकिन दरबारी रंग उतर जाने और अंग्रेजों के पैर अच्छी तरह से जम जाने के बाद दिल्ली के जीवन पर उपयोगितावाद यानी 'यूटिलिटेरियनिज्म' का गहरा पुट चढ़ने लगा। फिर तो इकतिसादी यानी आर्थिक दृष्टि से जो भी बात फायदे की न जंची वही छूटने लगी और तालीम का मतलब यह निकाला जाने लगा कि थोड़ी सी अंग्रेजी आनी चाहिए और विदेशी रंग ढंग की नकल की जानी चाहिए। चुनांचे कल की दिल्ली अपनी राजनीति, सामाजिकता और संस्कृति की यादगार को गोद में समेट कर सो गई है और आज की दिल्ली भारत के दूसरे बड़े शहरों की तरह उपयोगितावाद की ओर सरपट दौड़ी चली जा रही है। —दिल्ली से प्रसारित

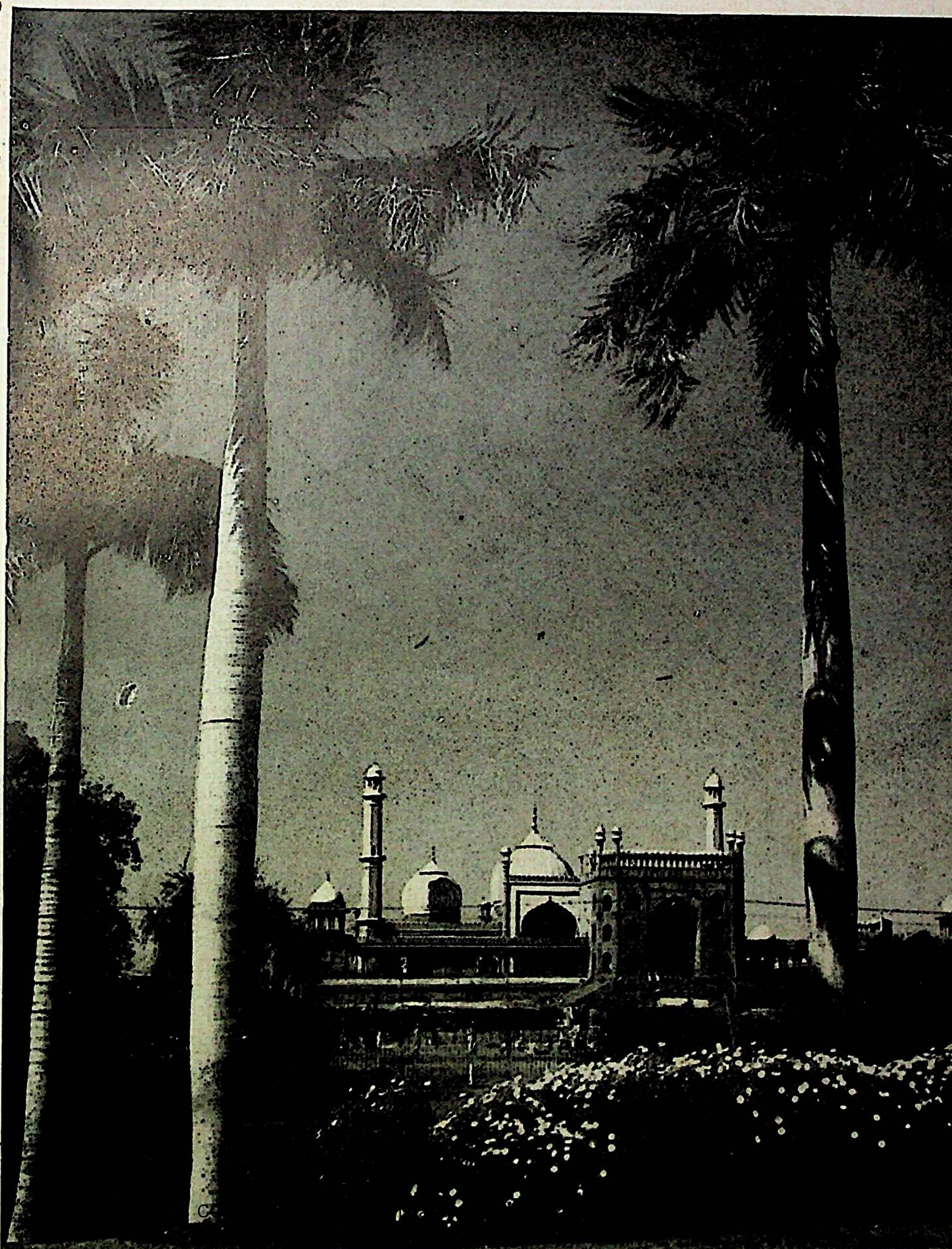
चांदनी चौक का घंटाघर जो अब नहीं है



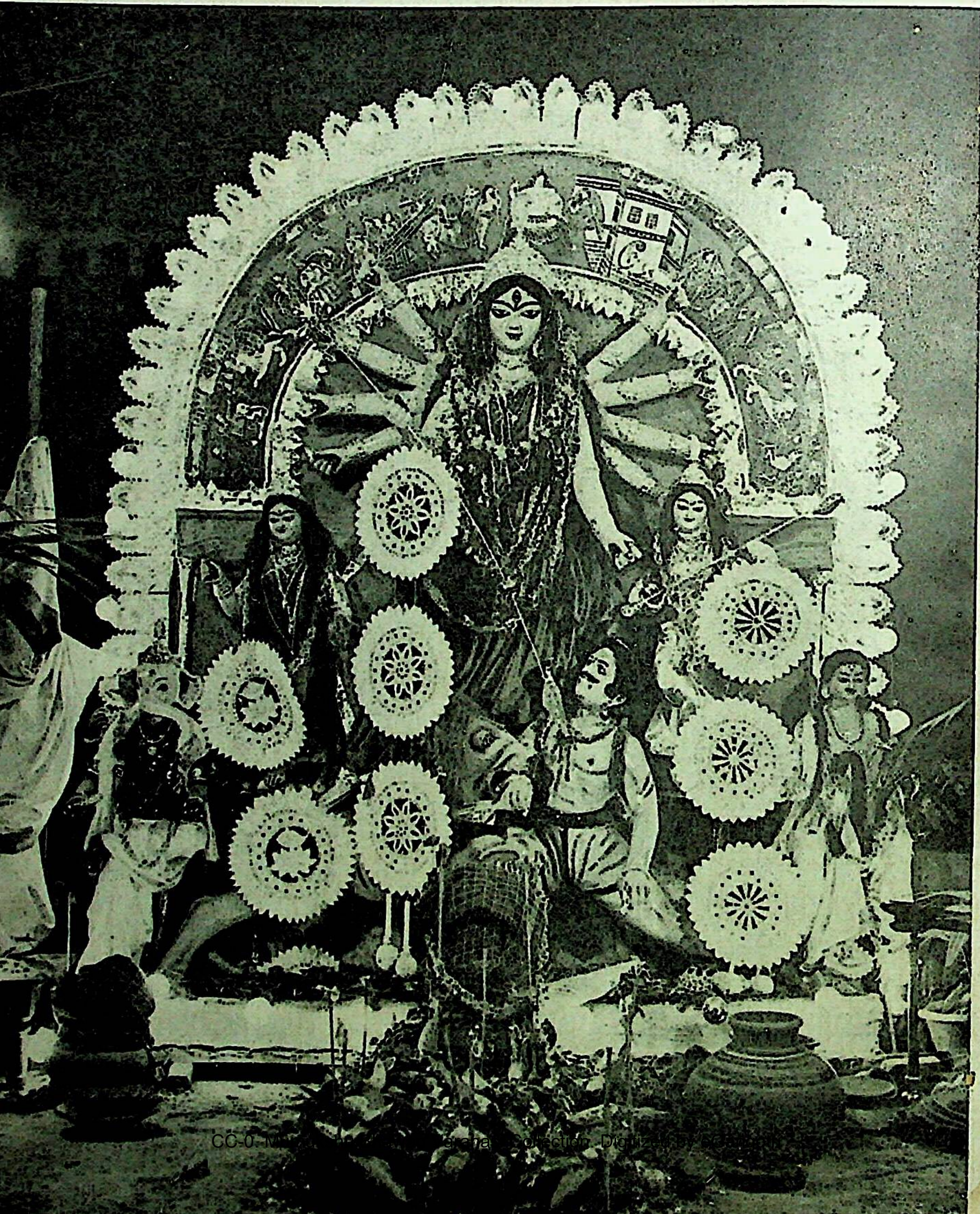
लाल किला

कश्मीरी गेट

जामा मस्जिद



दुर्गा की मूर्ति



बंगाल की दुर्गा पूजा

माया गुप्त

[दूर से संगीत और वाद्यध्वनि सुनाई पड़ती है, साथ ही समवेत स्वर से मृदु गम्भीर मन्त्रोच्चार सुनाई पड़ता है।]

या देवी सर्वभूतेषु शक्ति रूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै। नमस्तस्यै। नमस्तस्य नमो नमः॥

[संगीत की मृदु गुंजार सुनाई पड़ती है]

वाचिका—ओह! कितना मीठा लग रहा है यह सब, कितना मधुर और गम्भीर!

वाचक— देखा! मैं सच कहता था न! दुर्गा पूजा का यह त्योहार बंगाल की संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अंग है! बिना इसे देखे बंगाल को समझना अपूर्ण होगा!······ आओ चलें, वहां चल कर हम भी दर्शन करें।

वाचिका—हां चलिए!······ओह! इतना बड़ा मण्डप········और यह खम्भे कितने सुन्दर हैं·······संगमरमर की तरह चमक रहे हैं।

वाचक— (हंस कर) हां, पर यह संगमरमर नहीं है। यह केले के वल्कल से बनाए गए हैं। जरा पास आ कर देखो, इस पर कितनी कलापूर्ण नक्काशी की गई है।

वाचिका—सचमुच अनूठी कला है!······केले की छाल को काट कर इतनी सुन्दर मूर्तियां, बेलें और फूल-पत्ते उभारे जा सकते हैं।

वाचक— अरे यह अल्पना इसे भी तो देखो!

वाचिका—अरे हां इसे तो देख ही नहीं पाई थी, यह किस चीज़ से सजाई गई है।

वाचक— चावल पीस कर उसी से बनी है। आज तो कुछ देर हो गई, अगर इसे बनाते वक्त देखो तो दंग रह जाओ। एक बार रेखा शुरू करके एक ही बार में रेखाओं को कितने घुमाव और मोड़ देकर इतनी सारी बेलें, फूल और पत्ते अंकित कर देते हैं। [अचानक संगीत और ढोल की ध्वनि स्पष्ट और तेज़ हो जाती है।]

वाचिका—ओह, कितना सुन्दर लग रहा है।···· यह सब तो अनूठा ही है।

[कुछ देर वाद्यध्वनि के बाद]

वाचक— जानती हो यह ढोल बजाने वाले कलाकार कौन हैं?

वाचिका—कौन हैं?

वाचक— यह वे लोग हैं जिन्हें अछूत कह कर लोग घृणा करते हैं।

वाचिका—अछूत?·····अरे यहां? इस पवित्र स्थान में उनको आने देते हैं।

वाचक— सचमुच अचरज होता है! है न? पर ये न आएं तो देवी दुर्गा की यह पूजा अधूरी रह जाएगी, समझीं।·····दुर्गा पूजा के इस महापर्व पर कोई भेदभाव नहीं रखा जाता। अछूत हो, या पतिताएं। सबको इस मण्डप में आकर दुर्गा पूजा के उत्सव में हाथ बंटाने की छूट है।

वाचिका— पर ये लोग तो अद्भुत कलाकार हैं।·····केवल ढोल इतने मधुर स्वर में बजाया जा सकता है, यह कल्पना भी नहीं थी। सुनते-सुनते सुध-बुध खो गई थी। मन तो मन ऐसा लगता था कि रक्त की एक-एक बूंद उनके साथ हर ताल पर थिरकने लगी हो।

वाचक— इसके लिए इनको महान् साधना करनी पड़ती है। पता नहीं कितना अभ्यास करना पड़ता है। यह उनका एकाधिकार है। आज के दिन वे ढोल बजाने के अधिकारी हैं। उन्हें ढुली कहते हैं।

वाचिका— इसे सीखा तो जा सकता है न ?······भला इन्होंने कहां से सीखा होगा ?

वाचक— (हँस कर) यह आज की नहीं, इनकी पीढ़ी दर-पीढ़ी से चली आई कला है। बाप-दादों से मिली हुई विद्या है। जिसे सिर्फ यही जानते हैं और इनकी पीढ़ी के अगले अंकुर जानेंगे।

वाचिका— इतना मीठा संगीत और यहां की गम्भीरता और साथ ही उल्लास, सब कुछ कितना दिव्य लग रहा है। अगरु-धूम की उठती हुई मधुर गन्ध में तो सारा मण्डप तैरता-सा लग रहा है।

वाचक— हां, चलो आगे बढ़ कर जल्दी से दर्शन कर लो। आज की पूजा समाप्त हो रही है, अभी प्रसाद बंटने लगेगा।

[धीरे-धीरे संगीत का डूबना, लोगों की बातचीत की गुनगुनाहट, धीरे-धीरे यह स्वर भी डूब जाता है।]

[खुले मैदान में, हवा की सरसराहट, पक्षियों का कलरव]

वाचक— लो, अब पूछो क्या कह रही थीं !·····आओ, वहां चल कर घास पर बैठते हैं ! कितना सुन्दर दृश्य है, है न ?

वाचिका— यह ऋतु ही ऐसी है।

वाचक— हां, यह बात भी है। देखो न, त्योहार अक्सर ऐसे समय पर होते हैं जबकि लोग करीब-करीब खेती-बारी से निपट जाते हैं। मौसम सुहाना रहता है और आनन्द से त्योहार मनाते हैं। जैसे होली-दीवाली आदि के समय पर खेती का कोई खास काम नहीं होता है।

वाचिका— क्या केवल हमारे देश में ही ऐसा होता है ?

वाचक— नहीं भाई, सभी देशों में यह बात है क्योंकि लोग खुशी से उत्सव तभी मना सकते हैं, जब काम से कुछ फुरसत हो। दुर्गा पूजा और दीवाली के त्योहार शरत ऋतु में होते हैं, जब वर्षाकाल के बाद धान के हरे-भरे खेत लहलहाते रहते हैं। कितनी सुन्दर ऋतु होती है। चलो वहां बैठ कर बातें करें। (चलने की आवाज़)

वाचक— आराम से बैठ जाओ, हां, पूछो·····

वाचिका— मैं कह रही थी····देवी की मूर्ति के साथ कुछ मूर्तियां और दिखाई पड़ रही थीं न, वे कैसी मूर्तियां थीं ?

वाचक— वे मूर्तियां थीं, लक्ष्मी, सरस्वती, कार्तिक और गणेश की।

वाचिका— हां गणेश का विशाल उदर और सूंड देख कर तो पहचान गई थी, लक्ष्मी की मूर्ति भी पहचान गई, दोनों ओर से दो हाथी सूंड़ों में कमल का फूल उठाए खड़े थे और वीणा देख कर विद्या और संगीत की देवी वीणावादिनी सरस्वती को भी सहज ही पहचान गई, पर वह एक मूर्ति और थी न,········वह बड़ी मोहक-सी·······।

वाचक— हां, वह कार्तिक की मूर्ति थी। ये देवताओं के सेनापति भी कहे जाते हैं। देवताओं ने इन्हीं के नेतृत्व में युद्ध करके तारकासुर को मारा था।

वाचिका— पर दुर्गा पूजा से उनका क्या सम्बन्ध है ?

वाचक— इसके लिए तो पूरा पुराण सुनाना पड़ेगा। अच्छा संक्षेप में सुन लो। दुर्गा देवी हिमालय पर्वत की बेटी मानी जाती हैं, इन्हीं को पार्वती भी कहते हैं। यहां माना जाता है कि नवरात्रि में तीन दिनों के लिए देवी अपने मायके आती हैं, उन्हीं के स्वागत सत्कार में यह पूजा और उत्सव मनाया जाता है।

वाचिका— अच्छा! ······और यह सरस्वती, लक्ष्मी ··········?

वाचक— हां, तो जब देवी अपने मायके आती हैं, तो उनके साथ-साथ उनकी दो बेटियां लक्ष्मी और सरस्वती तथा दोनों बेटे कार्तिक और गणेश भी ननिहाल आते हैं।

वाचिका— (हँसते हुए) अच्छा तो ये देवता लोग भी मनुष्यों की तरह ही व्यवहार करते हैं।

वाचक— (हँस कर) हां, कहते हैं वे भी मनुष्य ही तो थे !

वाचिका— अच्छा तो वे तीन ही दिन के लिए आती हैं।

वाचक— हां, यही माना जाता है। तीन दिन तक उनकी पूजा की जाती है। षष्ठी यानी छठ को देवी की आंखें बनाई जाती हैं, जिसे नेत्रदान कहते हैं। उस दिन देवी का बोधन किया जाता है।

वाचिका— बोधन क्या ?

वाचक— बोधन माने जगाना, कहते हैं वर्ष में कुछ दिनों के लिए सब देवी-देवता सो जाते हैं, इसलिए पूजा करने के पहले उन्हें जगाना जरूरी होता है।

वाचिका— अच्छा !

वाचक— फिर सप्तमी, अष्टमी और नवमी को धूम-धाम से पूजा की जाती है, महोत्सव मनाया जाता है। इस अवसर पर सभी अमीर-गरीब एक होकर खुशी मनाते हैं। देखा नहीं, कहीं कोई भेदभाव नहीं था। ··········

वाचिका— इस तरह पूजा भी होती है, साथ ही मिलना-जुलना भी होता है।

वाचक— हां, आनन्द, उत्सव के साथ-साथ पूजा की जाती है। इसे हम सामाजिक उत्सव कहें तो अच्छा रहेगा। अगर कोई रईस आदमी अपने घर पर ही दुर्गा पूजा का उत्सव मनाता है, तो भी अकेला केवल अपने परिवार के साथ नहीं क्योंकि उसमें रौनक नहीं होती। जब तक बहुत से लोग इकट्ठा होकर आनन्द न मनाएं, तब तक उसे पूजा का पूरा सम्मान नहीं मिलता।

वाचिका— अच्छा, बंगाल में यह दुर्गा पूजा कब से मनाई जा रही है।

वाचक— यों तो देवी पूजा आर्य-सभ्यता के पहले भी हमारे देश में चालू थी। पुराने मन्दिरों में देवी की अनेक मूर्तियां मिलती हैं, जिनमें दुर्गा, काली, भगवती आदि की मूर्तियां मिलती हैं, समय के साथ-साथ पूजा की रीति में कुछ फर्क जरूर आ गया है, पर देवी दुर्गा की पूजा बहुत पहले से होती आ रही है।

वाचिका— अच्छा तो आर्यों के पहले भी भारत में देवी-देवताओं की पूजा होती थी।

वाचक— हां, यह सब बड़ी मजेदार कहानी है। आर्य लोग जब भारत में आए तो यहां के निवासियों को वे अनार्य कहने लगे। अनार्यों ने उनकी सभ्यता आसानी से ग्रहण नहीं की। उनकी अपनी सभ्यता भी बड़ी ऊंची थी। दोनों में लड़ाइयां हुईं। आखिर में आर्य विजयी हुए और अनार्य हार गए। आर्यों ने कुछ को दास बना लिया, कुछ मर मिटे और

कुछ जंगलों-पहाड़ों में जा छिपे। आर्य सभ्यता विजयी हुई थी, पर वह हमेशा वैसी ही नहीं रही। धीरे-धीरे दोनों जातियां मिल गईं, इस तरह आर्यों और अनार्यों की दो संस्कृतियों और दो सभ्यताओं का मिलन हुआ तथा एक नई सभ्यता और संस्कृति का जन्म हुआ। अनार्यों की देवी पूजा भी इसी तरह सभी के यहां चल पड़ी।

वाचिका— यह तो बड़ी मजेदार बात है। विजित और विजयी दोनों न चाहते हुए भी अनजाने ही मिल गए।

वाचक— हां, कुछ हद तक बात ऐसी ही है।

[वाद्यध्वनि के साथ विसर्जन गीत और श्लोक]

या देवी सर्वभूतेषु मातृ रूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै। नमस्तस्यै। नमस्तस्यै नमो नमः॥

वाचिका— यह क्या, कितनी बड़ी भीड़ बढ़ी आ रही है, अरे यह तो कन्धों पर चौकियां उठाए हैं, उनमें मूर्तियां भी रखी हैं।

वाचक— हां आज दशमी है न, सवेरे अन्तिम पूजा और विदाई हो चुकी है, आज देवी का विसर्जन किया जाएगा।

वाचिका— विसर्जन कैसा?

वाचक— कहते हैं तीन दिन बाद देवी अपने दलबल सहित फिर पति के घर लौट जाती है, तब समझा जाता है कि इन मूर्तियों में अब प्राण नहीं रहा। इसलिए उन्हें ले जाकर नदी में विसर्जित कर देते हैं।

वाचिका— (आश्चर्य से) अरे!

वाचक— हां, आओ चलें, वहां भी देखने लायक दृश्य होता है ... (भीड़ की आहट और आवाजें धीरे-धीरे तेज होने लगती हैं) आओ, चलो इस जुलूस के साथ ही चले चलते हैं।

वाचिका— चलिए।

[नदी के किनारे विसर्जन का ढोल, गीत, श्लोक:]

या देवी सर्वभुतेषु क्षुधा रूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै। नमस्तस्यै। नमस्तस्यै नमो नमः॥

वाचिका— तो इतनी सुन्दर-सुन्दर मूर्तियां पानी में डाल कर गला दी जाएंगी।

वाचक— हां, पूजा का यही नियम है।

वाचिका— भला इसके बनाने वालों को कितना परिश्रम करना पड़ता होगा।

वाचक— बंगाल की दुर्गा पूजा के बारे में कई मज़ेदार बातें सुनी जाती हैं। ऐसा माना जाता है कि हर साल दुर्गा किसी न किसी सवारी पर आती हैं, कभी नाव पर, कभी गज पर कभी घोड़े पर तो कभी डोली पर।

वाचिका— तो उससे क्या हुआ?

वाचक— यों ही, पंडित लोग कुछ देख सुन कर और गणना करके बताते हैं। कहते हैं कि दुर्गा डोली पर आती है तो महामारी फैलाती है, घोड़े पर आती हैं तो छत्र भंग होता है यानी अराजकता फैल जाती है। गज पर आती है तो सबसे अच्छा होता है, वसुन्धरा शस्यश्यामला हो जाती है और नाव पर आने से बाढ़ आ जाती है। अगर दुर्गा जाते समय गज पर जाती हैं, तो भी बाढ़ आती है।

—दिल्ली से प्रसारित

लोकगीत और लोकनाटक

श्रीकृष्णदास

जब से मानव जाति का जन्म और विकास आरम्भ हुआ तभी से उसने हँसना, रोना, गाना, नाचना, आरम्भ कर दिया। हर्ष, उत्फुल्लता, करुणा, प्रेम, शृंगार और संयोग-वियोग, दुख-सुख, जय-पराजय, भय-त्रास आदि की अभिव्यक्ति उन नृत्यों-गीतों से होती थी। समाज के आदिम संगठन के विकास के साथ ही समवेत, सहगान और सामूहिक नृत्यों का विकास हुआ। बाद में रेखाओं और चित्रों का भी क्रम आरम्भ हुआ।

हमारे लोकगीत मूलतः अलिखित ही रहे। पीढ़ियां उन्हें सीखती-गाती चली गई। यथा अवसर उनमें परिवर्तन-परिवर्द्धन और संशोधन भी होते रहे। ज्यों-ज्यों हमारी सभ्यता और संस्कृति का विकास होता गया, समाज के संगठन का ढांचा बदलता गया, आपसी सम्बन्धों का रूप निखरता गया और नए-नए मूल्यों-मान्यताओं का निर्माण होता गया, त्यों-त्यों इन गीतों का भी रूप और विषय बदलता गया। एक ओर भाषागत निखार आया दूसरी ओर विषय-वस्तुगत। साथ ही राग-रागिनियों का विकास हुआ, धुनों और उनका साथ देने वाले वाद्य-यंत्रों का जन्म हुआ। इन लोकगीतों का सीधा सम्बन्ध श्रम से रहा है। चाहे आदिम युग हो, चाहे कृषि सभ्यता का युग हो, चाहे उसके बाद का युग—मानव समाज को सदैव अपने भरण-पोषण के लिए श्रम करना पड़ा है। श्रम को सहज और सरल बनाने में इन गीतों का सहयोग अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है। फलतः सदैव ही श्रम सम्बन्धी गीतों की बहुलता रही है।

युग बदले। मन्वन्तर आए। गीतों का रूप बदला। रंग बदला, उनके विषय बदले, बदलते रहे। इन गीतों ने प्रत्येक युग में मानव समाज के पहरेदार के रूप में, उनके सहायक और मंत्रद्रष्टा के रूप में, उनके दुख-सुख के साथी के रूप में अपना कर्त्तव्य पूरा किया। इन गीतों ने सदैव उन्हें जीने के लिए, संघर्ष करने और विजयी होने के लिए, जीवन को अधिकाधिक सुन्दर, आकर्षक और सम्पन्न बनाने के लिए प्रेरणा दी। इन गीतों में उनकी संस्कृति का विकास हुआ, उनकी सभ्यता निखरी और उनके इतिहास का निर्माण हुआ। इन गीतों द्वारा उनके सामाजिक जीवन का कोश संचित हुआ।

हमारे प्राचीन और अति सुसंस्कृत देश के लोकाचारों और लोक विश्वासों, आस्थाओं और मान्यताओं, परम्पराओं और रूढ़ियों, संस्कारों और रीतियों को जो अनश्वरता और अमरता मिली, जो जीवनी शक्ति प्राप्त हुई, उसका श्रेय इन लोकगीतों को ही है। तथाकथित उच्च साहित्य एवं इतिहास में हम उच्च वर्ग और शासक श्रेणी के जीवन की कुछ झांकियां ही प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु जन-साधारण के जीवन का वर्णन उसमें नहीं मिलता। साधारण परन्तु बहुसंख्यक जनता के जीवन तथा उसके विवरण के सम्बन्ध में यह वाङ्मय मौन है। उसके लिए तो हमें इन लोकगीतों का ही सहारा लेना पड़ेगा। हमारा देश अति विशाल है। उसमें सैकड़ों बोलियां और उप-बोलियां हैं। इन सब बोलियों में असंख्य गीत हैं। अगणित गीत काल कवलित हो चुके हैं। जो बचे हैं, उनकी संख्या का सही अनुमान नहीं हो सकता। उनको संगृहीत करने की

प्रक्रिया चल रही है । परन्तु हमारे गीत जिस गति से लुप्त होते जा रहे हैं, उन्हें देखते हुए आवश्यक एवं अनिवार्य हो गया है कि संग्रह कार्य में तेज़ी लाई जाए । संग्रह के बाद ही उनका विवरण सहित अध्ययन-मूल्यांकन हो सकता है और आधुनिक जीवन को अधिक सुन्दर तथा सुसम्पन्न बनाने में उनका उपयोग हो सकता है ।

इस समय भी अगणित प्रकार के गीत प्राप्त हैं। बारहमासा और चौमासा के गीत, विभिन्न ऋतुओं के गीत; खेती, बोवाई, निराई-कटाई के गीत; कहारों, चमारों अहीरों, धोबियों तथा आदिम जातियों, परिगणित जातियों के गीत; जन्म-यज्ञोपवीत, विवाह आदि के संस्कार सम्बन्धी गीत; पूजा-मेला, तीर्थ तथा यात्रा सम्बन्धी गीत—इन सब में अकलुष काव्य-सौन्दर्य, अछूता सौष्ठव और रस परिपाक है। कारण कि ये गीत हृदय के सहज उच्छ्वास हैं, इनमें जन-साधारण के स्वप्न और आदर्श, उद्देश्य और कल्पना और महत्वाकांक्षाएं मुखरित होती हैं । राग-विराग, हर्ष-विषाद, आशा-निराशा, उत्फुल्लता और करुणा के ये गीत सहज ही अपना जादू का-सा प्रभाव डालते हैं, क्योंकि इनमें कृत्रिमता नहीं होती । जन मानस से उपजे ये गीत मन को मोह लेते हैं । गंगा की धारा की तरह तन-मन को ताज़ा और पवित्र कर देते हैं ।

लोकगीतों की भांति ही हमारी लोकनाट्य परम्परा भी अति प्राचीन है। कात्यायन श्रौत-सूत्र में एक लघु अभिनय का उदाहरण हमें मिल जाता है । सोमयाग इसका प्रमाण है । शुक्ल यजुर्वेद में शैलूष नाम के व्यावसायिक कलाकारों का वर्णन मिलता है । वृहदारण्यक उपनिषद् तथा उन उपनिषदों में नाटकीय कथोपकथन के उदाहरण मिलते हैं । पाणिनि ने शिलालिन् और कृशाश्व सम्बन्धी दो नाटकीय रूपों का वर्णन किया है। वाल्मीकि रामायण, महाभारत, जातक कथाओं, जैन साहित्य, पुराणों आदि में इन नाटकों और कलाकारों की चर्चा मिलती है । कौटिल्य के अर्थशास्त्र, वात्स्यायन के कामसूत्र में तो स्पष्ट रूप से व्यावसायिक नाटक मंडलियों का वर्णन आता है । कहते हैं कि अश्वघोष अयोध्या, वाराणसी और पाटलिपुत्र में अपने नाटकों का अभिनय घूम-घूम कर किया करते थे । इस प्रकार हमारे प्राचीन युग में लोक नाटकों की लोकप्रियता के कुछ प्रमाण मिलते हैं । सम्राट् अशोक ने 'समज्जा' पर प्रतिबन्ध लगाया था । यह 'समज्जा' अथवा समाज अत्यन्त लोकप्रिय था । बाद में संस्कृत नाटकों के विकास और राजदरबारों तथा उच्च वर्ग में उनके समादर के कारण लोकनाटकों के प्रमाण कम मिलते हैं ।

अपभ्रंश काल में रास नाटकों और लीलाओं की लोकप्रियता बढ़ी और एक समय आया जबकि समस्त राजस्थान, उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल तक इन रासलीलाओं और रासनाटकों का विस्तार हो गया । उधर बंगाल, असम और उड़ीसा में यात्रा-नाटकों का प्रादुर्भाव हुआ । चैतन्य महाप्रभु के कारण इनकी लोकप्रियता बहुत अधिक बढ़ गई । सिद्ध साहित्य में 'स्वांग' भरने या स्वांग करने की चर्चा है । बाद में कबीर ने स्वांग-तमाशा की बात कही है । मिथिला के कीर्तनियां नाटकों और 'विदापत' से सभी लोग परिचित हैं । भोजपुरी क्षेत्र में अन्य नाट्य रूपों के साथ विदेसिया की भी अत्यधिक ख्याति हो गई है । अवधी, ब्रज, खड़ी बोली तथा पूर्वी हिन्दी के क्षेत्रों में रास, नकल, स्वांग, नौटंकी, भांड आदि की परम्परा रही है । राजस्थानी में रास-झूमर, ढोला-मारू आदि; गुजराती में भवाई; मराठी में ललिते और तमाशा; तेलुगू में भागवत मेला, बुर्रा-कथा, हरिकथा, विधि नाटकम् आदि की परम्परा रही है । इस प्रकार सारे देश में लोकनाट्य परम्परा के उदाहरण और प्रमाण मिलते हैं । इन लोकनाट्य रूपों को देख कर उनकी प्राचीन समृद्धि और लोकप्रियता का पता चलता है । उनमें देश और समाज का जीवन अभिव्यक्त है और उनमें वे सारे तत्त्व उभर कर सामने आते हैं, जिनसे हमारे सामाजिक जीवन का निर्माण होता है ।

—इलाहाबाद से प्रसारित

गीत

रघुवीर सहाय

ये और आया है एक हल्ला,
जो बच सकें तो कहो कि बचिए !
जो बच न पाएं तो क्या करूं मैं ?
जो बच गए तो बहुत समझिए ।
सुकवि की मुश्किल को कौन समझे,
सुकवि की मुश्किल सुकवि की मुश्किल !
किसी ने उनसे नहीं कहा था
कि आइए आप काव्य रचिए !

(२)

लोगों ने मुझ से कहा, 'आओ मूर्त्तियां तोड़ें ।'
और फिर पूछा, 'वहां रखने को
झोले में अपनी या अपने मालिकों की मूर्त्ति लाए हो ?'
यानी कि आप ही देखें कि जो श्रोता हैं
अपनी एक मूर्त्ति बनाता हूं और
ढहाता हूं, जिसको आप कहते हैं कि कविता की है—
—क्या मुझे दूसरों की मूर्त्तियां तोड़ने की फुरसत है ?
लोगो, ऐ लोगो ! मुझे जाने दो
क्योंकि तुम या तो मुझे भीड़ में
गुल मचाते हुए चाहते हो
या कि फिर मंच पर
गुल मचाते हुए ।
यानी कि आप ही सोचें कि जो कवि नहीं हैं—
—कि लोग एक तरफ और मैं एक तरफ़
और मेरी यह जुरअत कि मैं कहूं तुम सब मेरे हो
पूछिए, कौन हूं मैं ?

(३)

मैंने कोशिश की थी कि तुम मुझे समझो
लेकिन जब मैंने कहा—

'मैं तुम्हें प्यार करता हूं ।'
मेरे शब्द एक लहरियाता हुआ गीत बन कर,
उकड़ूं बैठे हज़ारों सुनने वालों पर भिनभिनाने लगे
इतना होता तो फिर गनीमत थी
लेकिन जब सुनके लोग झूम उट्ठे
तब मैं वापस अपनी बीवी के चला आया
जिसको दरअसल मैं प्यार करता हूं
मगर जिसके लिए उन गीतों में से
एक भी नहीं लिक्खा जो कि
मैंने सुन्दरियों के लिए लिक्खे हैं ।

(४)

आज मैं यहां पर कबूल करता हूं
कि मैं तुम्हारे साथ आ नहीं सकता
लोगो, ऐ लोगो ! मुझे जाने दो—
मैं सिर्फ एक कवि हूं ।
मैं तुम्हें रोटी नहीं दे सकता
मैं तुम्हें झण्डा नहीं दे सकता
मैं तुम्हें दो शब्द में अपनी
बात बता सकता हूं
शर्त यह है कि तुम उनके
नारे न लगाने लगना—
जैसा दो शब्दों के साथ अक्सर
तुम किया करते हो ।

—इलाहाबाद से प्रसारित



मानसिक क्रियाएं और व्यवहार

गिरीशचन्द्र माथुर

मनोविज्ञान की परिभाषा मानसिक क्रियाओं और अनुभवों का वैज्ञानिक अध्ययन ही मानी गई है। किन्तु मानसिक क्रियाएं क्या हैं और किन व्यवहारों और कार्यों को 'मानसिक' कहा जाए ....ऐसे प्रश्नों का साफ-साफ उत्तर पाने में एक दिक्कत तो यही है कि ये सब क्रियाएं केवल मनोवैज्ञानिक के ही अध्ययन का विषय नहीं रह पातीं, अपितु प्रत्येक मनुष्य अपने-अपने ढंग से मानसिक क्रियाओं को जानता है, और उनकी प्रकृति के बारे में निजी मत रखता है। एक कहावत के अनुसार हरेक मनुष्य अपने में दार्शनिक होता है, वैसे ही कहा जा सकता है कि कुछ मात्रा में तो हरेक मनुष्य मनोवैज्ञानिक भी है। एक सफल दुकानदार, एक मजिस्ट्रेट, कस्टम्स का इन्सपेक्टर, फुटपाथ का जादूगर.....ये सभी लोग अपने ढंग से अपने को मनोवैज्ञानिक कह सकते हैं क्योंकि ये लोग व्यक्तियों के मन की बात समझ लेते हैं और उनकी क्रियाओं का अन्दाजा लगा सकते हैं। स्वाभाविक है कि वास्तविक यानी पेशेवर मनोवैज्ञानिक या मानसिक क्रियाओं के बारे में जो मत हैं वह इन सांसारिक मनोवैज्ञानिकों के मतों से कितना भिन्न है। शायद यही भिन्नता हमारे प्रश्नों के उत्तरों को साफ-साफ समझने में बाधक होती है।

व्यक्ति के किन कार्यों को मानसिक क्रियाओं के नाम से पुकारा जाए? साधारण जन पहले ऐसी क्रियाओं को जैसे विभिन्न इंद्रियानुभव, संवेदनाएं, प्रत्यक्ष ज्ञान, स्मृति, कल्पना, विचार आदि को मानसिक क्रियाएं कहेंगे। साथ में वे ऐसी बातों को भी मानसिक क्रियाओं के अन्दर मानेंगे—जैसे उत्कंठा होना, इच्छा करना, सुख-दुख का अनुभव करना, प्रेम या घृणा करना, निश्चय ठानना आदि। साधारण जन इन सब क्रियाओं को मानसिक क्यों कहते हैं? शायद इसलिए कि हम इन क्रियाओं का अपनी आंखों आदि से बाहरी निरीक्षण नहीं कर सकते। ये तो मानो व्यक्ति की निजी (प्राइवेट) सम्पत्ति हैं। और फिर ये क्रियाएं इस प्रकार होती हैं कि उस समय शरीर के किसी अंग का परिवर्तन होता भी नहीं दीख पड़ता।

मनोवैज्ञानिक भी इन सब क्रियाओं को मानसिक कहता है और वे उसके अध्ययन का विषय हैं। मगर वह इन क्रियाओं को उन कारणों से मानसिक नहीं मानता जिन कारणों से साधारण जन मानते हैं। यही नहीं, वह अन्य बहुत-सी क्रियाओं का अध्ययन करता है, जिनका आंख, कान आदि से बाहरी निरीक्षण भी किया जा सकता है, उदाहरण के तौर पर बोलना, लिखना, चलना, मुसकराना, तेवर चढ़ाना, कूदना और दौड़ना। सच बात तो यह है कि किसी क्रिया को मानसिक नाम सिर्फ इसलिए नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वह व्यक्तिगत है या 'मन' नाम की किसी अमूर्त वस्तु के द्वारा की जाती है।

आइए मानसिक क्रियाओं के उदाहरणों पर फिर ध्यान दें......संवेदना का होना, प्रत्यक्षीकरण, याद करना, कल्पना करना, सोचना, चाहना, खुश या दुखी होना, प्रेम करना, घृणा करना, इरादा करना, बोलना, लिखना, चलना, मुसकराना, आंखें लाल करना, कूदना और दौड़ना, इत्यादि इन सभी क्रियाओं में से प्रत्येक में हम इसका संकेत

पाते हैं कि व्यक्ति का, जिसमें ये सब क्रियाएं होती हैं, उसके वातावरण से, जिसके मौजूद रहने पर ही ये क्रियाएं होती मालूम देती हैं, पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित है। या तो इन क्रियाओं में व्यक्ति पर वातावरण का प्रभाव पड़ता है, या इनमें व्यक्ति द्वारा वातावरण का इस्तेमाल होता है और या व्यक्ति की वातावरण से अभियोजना होती है। वातावरण का अर्थ है वे सभी वस्तुएं और शक्तियां, जो व्यक्ति के शरीर और उसके चर्म से परे तो हैं, किन्तु उसकी ज्ञानेन्द्रियों को प्रभावित कर पाती हैं।

तो ये सब क्रियाएं वर्तमान या बीते हुए वातावरण का प्रभाव हैं। जब हम याद करते हैं तो बीते हुए अनुभव ही। जब हम सोचते हैं या कल्पना करते हैं, तो उन्हीं बातों के आधार पर जिनको याद हममें बनी रहती है। जब हम इच्छा करते हैं या इरादा करते हैं तो आगे आने वाले लक्ष्य को प्राप्त करने या वातावरण की किसी वस्तु में परिवर्तन लाने के लिए। लिखना, बोलना, दौड़ना, कूदना आदि वातावरण की वस्तुओं को प्राप्त करने की इच्छा की पूर्ति के लिए होता है। तो हम कह सकते हैं कि उन सभी क्रियाओं के बारे में, जिनको हम मानसिक कहते हैं, यह बात पाई जाती है कि इन क्रियाओं का प्रयोजन व्यक्ति और उसके वातावरण में सम्बन्ध स्थापित करना है। इन क्रियाओं के द्वारा व्यक्ति अपने चारों ओर के संसार से प्रभावित होता है और वह भी वातावरण से अपनी इच्छाओं की पूर्ति करता है या कभी-कभी उससे अपनी रक्षा करता है और कभी इच्छानुसार उसमें परिवर्तन ला सकता है।

अब, एक और बात मानसिक क्रियाओं के बारे में विशेष ध्यान देने योग्य है। हमारा स्नायुमंडल जिसका केन्द्र मस्तिष्क है, हमारी मानसिक क्रियाओं का आधार है। वैज्ञानिक दृष्टि-कोण से बिना स्नायुमंडल के मानसिक क्रियाओं का होना असंभव ही है। स्नायुमंडल की विशेषता यह है कि एक ओर तो वह ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा वातावरण से सम्बन्ध स्थापित करता है और दूसरी ओर प्राणी के विभिन्न अंग-प्रत्यंगों की क्रियाओं को सम्बन्धित किए रहता है। फल यह होता है कि व्यक्ति एक इकाई के रूप में क्रियाशील होता है। अंग-प्रत्यंगों की अनगिनत क्रियाएं पारस्परिक सहयोग के साथ इकाई के रूप में वातावरण का सामना करती हैं। तो यह 'मन' जैसी अमूर्त वस्तु का प्रभाव नहीं, अपितु मस्तिष्क आदि स्नायुमंडल के भागों की एकीकरण क्रिया का प्रभाव है कि व्यक्ति सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल क्रियाओं को इकाई के रूप में करने में समर्थ है और इन क्रियाओं को हम मानसिक क्रियाएं कहेंगे। मानसिक क्रियाएं दूसरी क्रियाओं से इस-लिए भिन्न हैं कि इन क्रियाओं के द्वारा व्यक्ति एक इकाई के रूप में बनता है और दूसरे इन क्रियाओं का संकेत हमेशा व्यक्ति और वातावरण के सम्बन्ध की ओर रहता है।

—पटना से प्रसारित



मैके की दाई

जुहरा राय

आज बरात रुखसत होने वाली थी। घर की रौनक में तो कल ही से फीकापन आ गया था। न वह शोरो-गुल, न जोशो-खरोश, न वह क़हक़हों की आवाज़ें, न ढोलक की गूंज और न टोने-सुहाग। घर में सब ही के चेहरे उदास थे। दुलहन का कमरा घर की बूढ़ियों-लड़कियों और छोटे बच्चों से खचाखच भरा हुआ था और रुखसती के लिए दुलहन को संवारा जा रहा था। कोई बालों म फूल सजा रही थी, कोई हाथों की मेंहदी छुड़ा रही थी, जो रात को ही लगा दी गई थी और तीसरी सहेली बक्स का जायज़ा ले रही थी कि कौन-सी साड़ी इस वक्त ठीक रहेगी।

लड़की की मां परेशान इधर-उधर भागती-रोती फिर रही थी और हलीमा दाई की पुकार मची थी। लड़की के साथ उसी को जाना था। दाइयों में सबसे पुरानी हलीमा ही थी। उसे अच्छी तरह मालूम था कि समधियाने जाकर किस तरह का बरताव करना चाहिए, जिससे लड़की की ग़लतियों पर पर्दा पड़ता रहे और लड़की के घर वालों की किसी तरह की बेइज्ज़ती न हो। मौके की नज़ाकत वह खूब समझती थी। किस बात का क्या जवाव देना चाहिए और किस वक्त क्या हरकत करनी चाहिए, लड़की को किस वक्त रोना चाहिए और अगर रोना न आ रहा हो तो रोने का अभिनय करने के लिए क्या नुस्खा इस्तेमाल करना चाहिए, किन दवाइयों के इस्तेमाल से आंसू जारी हो जाते हैं, ससुराल वालों के सामने जब बहू चले तो घूंघट कितना लम्बा हो, जो लड़की की सुन्दरता का प्रभाव भी पड़ता रहे और लड़की शर्मीली भी समझी जाए। जब नहाने-धोने के लिए दुलहन बाहर अंगनाई से होती हुई गुसलखाने में जाए तो चाल की रफ्तार आधे घण्टे में पांच गज़ से ज्यादा न हो। लोग यह न समझें कि दुलहन बड़ी तेज़-तर्रार और बेशर्म है। और फिर कहीं सास-ननद के किसी सवाल का जवाब गलती से खुद लड़की ने दे दिया, तब तो बाप-भाई की नाक कट जाएगी और हलीमा समधियाने में मुंह दिखाने के लायक न रहेगी। हलीमा साठ साल की पुरानी दाई थी। सारी रीत-रस्मों से वाकिफ़। यहां तक कि जब नौशे से दुलहन पहली बार बोले तो उसे क्या शब्द इस्तेमाल करना चाहिए। इन नए ज़माने की लड़कियों का क्या ठिकाना! दूल्हे से मिल कर एकदम पहली बार कहीं सिगरेट ही पेश कर दें तो बना-बनाया काम हमेशा के लिए बिगड़ जाएगा। दूल्हा हमेशा आग-बबूला रहेगा और बन्ने-बन्नी के दर्मियान हमेशा नाइत्तफाकी रहेगी। दूल्हे का मिजाज़ हमेशा आग रहेगा और दुलहन की ज़िन्दगी अपनी इस नातजुर्बेकारी की वजह से नष्ट हो जाएगी। इसलिए दुलहन को चुपके से यह बताने का ज़िम्मा उसी का था कि जब दूल्हा एक घण्टे तक लगातार खुशामद कर चुके और उसके दिल में शौक़ो-इन्तज़ार का तूफ़ान उरूज पर हो तो कोई भी दिलचस्प बात शुरू करने से पहले सुराही की तरफ़, जो वहां रख दी जाएगी, इशारा करके कहे—पानी! .... ज़ाहिर है कि दूल्हा फ़ौरन हुक्म की तामील करेगा और जब उसके हाथ से एक घूंट ठण्डा पानी पी ले तो रूमाल के कोने में बंधे दाल के बराबर मिश्री के टुकड़े को निकाल कर दूल्हे के सामने, बजाए

सिगरेट के, पेश करे और इस बात का ध्यान रखे कि दूल्हा उसे अवश्य खा ले। इस अमल से दूल्हा हमेशा दुलहन के सामने पानी-पानी और मिश्री-मिश्री रहेगा।

इन्हीं सब अहम कार्रवाइयों के अंजाम पाने की फिक्र लड़की की मां को बेहद परेशान किए हुए थी। अगर हलीमा न गई तो लड़की की नैया कैसे पार लगेगी? लड़की माना हज़ार सयानी है, एम० ए० पास है, बातचीत में होशियार है, लेकिन अपनी पुरानी रीत-रस्में पूरी न की गईं, तो दिल में हमेशा वहम बना रहेगा और खुदा जाने दूल्हे पर इस बद-शगुनी का क्या असर हो और दुलहन से उसका बर्ताव कैसा रहे।

वह ज़ोर से चिल्लाती—अरी कमरन, ज़रा देखना हलीमा आ गई या नहीं। रुखसती का वक्त करीब चला आ रहा है और उसका पता ही नहीं।

कमरन दौड़ी हुई आई और फिर हांफती-हांफती बोली—बीवी जी, वह अपना बक्सा ठीक कर रही हैं। कह रही हैं अभी आती हैं। लीजिए, वह आ गईं।

—हलीमा बुआ, तुम्हारा सामान ठीक हो गया। वक्त कम रह गया है।

—जी हां, बीवी! ठीक हो गया। मैंने कहा २–४ जोड़े कपड़े रख लूं। आप समझें हर वक्त दुलहन के पास बैठना होगा और समधियाने का मामला ठहरा। कोई कह बैठे दाई के पास कपड़े नहीं हैं, तो घर की आबरू चली जाएगी। मुहल्ले से एक जोड़ा बकरीदन से मांग लाई हूं, एक धोती सलोने की मां से। आप समझें एक तो आप ही ने दी है। समधियाने का मामला ठहरा। दुलहन के पास बैठना होगा।

और वह उल्टी सांसें लेती हुई ममत्वपूर्ण भाव से मैली दरी में रस्सी से बंधे हुए बिस्तर को उठा कर कमरन से बोली—अरी मेरी पेटी लेती आना।

बेगम ने इशारे से हलीमा को बुलाया और कानाफूंसी के स्वर में बोलीं—अरे बुआ सब चीज़ें रख ली हैं न? तुम जानो अभी बच्चा है, क्या कर बैठे। उसे कुछ अकल थोड़े ही है।

—हां, हां, बीवी, आप फिक्र न करो। मैंने सब कुछ ज़रूरी चीज़ें धर ली हैं बक्से में। भला समधियाने का मामला ठहरा, किससे मांगने जाऊंगी?

—हां भई, इसीलिए तो तुम्हें जहां भी रहो बुलवाती हूं। क्या-क्या चीज़ें रख ली हैं, वैसे तुम खुद समझदार हो।

—बीबी, आप समझें, एक रूमाल में मिश्री बांध ली है। एक छोटी-सी गिलसिया और छोटी सुराही। बड़ी की जगह नहीं थी।

और फिर धीरे से फुसफुसा कर कहा—एक टुकड़ा प्याज़ का पेटी में डाल लिया है। क्या पता क्या मौका पड़े। आप समझें समधियाने का मामला ठहरा। वहां किससे मांगने जाऊंगी?

—बस, बस बुआ, तुम तो खुद ही समझदार हो। इसीलिए तो तुम्हारी पुकार चारों तरफ रहती है। जिसकी लड़की ब्याही गई, बस तुम्हीं बुलाई जाती हो। वैसे दाइयां तो सभी हैं।

—जीती रहो बीवी, जो इतना खयाल रखती हो। आप लोगों की जूती में पल कर बुड्ढी हो गई और यही काम करती हूं। चाहे जैसी चंचल लड़की हो, पर आज तक किसी को भी पता नहीं चला।

—हां, हां बुआ, बस यही खयाल रखना घर की नाम-हँसाई न हो और बिटिया की किसी तरह की आलोचना का मौका न आए। अभी बच्चा है, क्या जाने ससुराल किस चिड़िया का नाम है। पेट भर खाना न देना। चार रोटियों में से तीन ज़रूर वापस चली जाएं। और लो, ये पैसे अपने पास रखो, और यह बिस्कुट का डिब्बा बक्से में डाल लो। फल वगैरह लाकर खिलाना, पर किसी को पता न चले।

—नहीं, नहीं बीबी, आप फिक्र न करें। कोई शिकायत का मौका न आने दूंगी।

—हां, मुझे इत्मीनान है, तुम्हारे ऊपर पूरा विश्वास है।

—बीवी जी, सब अल्ला मालिक है।

दूसरे दिन जब दुलहन सोकर उठी तो हलीमा ने चप्पलें लाकर पैर के पास रखीं और हाथ पकड़ कर ऐसे उठाया जैसे हफ्तों की बीमार हो। बोली—बेटा देखो, गुसलखाने जाते वक्त आंखें नीची रखना। बस, पैर की तरफ देखना। जितनी धीमी चाल मेरी हो, बस उतनी रहे। न कम, न ज्यादा। रास्ते में दुलहन की चाल कुछ तेज़ हो गई, तो फिर उसने बाहें दबाईं। दुलहन अन्दर मुसकराई और चाल धीमी कर ली। जब तक दुलहन बाहर न निकली, हलीमा दरवाज़े पर पहरा देती रही। दुलहन अपने पैरों पर नज़र जमाए अपने कमरे में आ गई। हलीमा ने बाहर से दरवाज़ा बन्द कर लिया।

दुलहन ने अन्दर घुसते ही एक झटके से पल्ले को पीछे फेंका और मटक कर शीशे के सामने आ खड़ी हुई और अपने कटे हुए बालों के घूंघर संवारने लगी। उसका चेहरा एक नई खुशी, एक हसीन चमक और उत्साह से तमतमा रहा था और वह रोज़ से कहीं ज्यादा सुन्दर नज़र आ रही थी। आज उसकी मुसकराहट रोके नहीं रुक रही थी और खुशी अन्दर से फूटी पड़ रही थी। हलीमा दरवाज़े पर खड़ी थी। ससुराल की दाई बहू का नाश्ता लेकर आई।

—कहो बुआ, दुलहन खुश तो है ससुराल में? अच्छी तरह सोई? लो, यह दुलहन का नाश्ता!

हलीमा—अरे खुश क्या है। जब से उठी हैं, रो-रो कर आफ़त कर रखी है। आंखें सूज-सूज कर लटक आई हैं। इतनी सरम है कि सिर का पल्ला अकेले कमरे में भी नीचे नहीं गिरता। बड़ी सरमीली बहू है। नहीं तो आजकल की लड़कियों को तुम जानती हो। असल में नई जगह, नया घर, नए लोग। कौन लड़की होगी जो न घबराएगी। धीरे-धीरे हिल-मिल जाएगी, फिर तुम्हीं लोग सब कुछ हो जाओगे। अभी तो मां-बाप, भाई-बहनों के लिए ऐसी तड़प-तड़प कर रो रही है कि मेरा तो देख कर कलेजा फटा जा रहा है।····और वह बिसूरने लगी।

दाई ने भी बिसूरते हुए कहा—हां बुआ, लड़की की बिदाई पर गैरों की आंख गीली हो जाती है।

यह कह कर दाई ने चाहा कि अन्दर जाकर बहू की खैर-कुशल पूछे, मगर हलीमा झपट कर दरवाज़े पर आ गई और बोली—बिटिया के सिर में ज़ोर का दर्द हो रहा था। रोते-रोते बुरी हालत हो गई थी, मैंने अभी ज़रा सिर दबाया तो आंख लग गई है। थोड़ी देर में मुलाकात कर लेना।

ये बातें इतनी ज़ोर से कही गईं कि ज़हीना ने सुन लीं और जल्दी से चादर तान कर पलंग पर लेट गई और मुंह ढक लिया और अन्दर-अन्दर खिलखिला कर हँसने लगी।

दाई ने कहा—अच्छा, अभी बड़ी बेगम से इत्तिला कर दूं।

बड़ी बेगम हाल सुन कर मुसकराईं और बोलीं—हां भई, क्यों नहीं। नया घर, नए लोग। धीरे-धीरे सबको पहचान लेगी। अभी जाती हूं।

सास के आने की खबर सुन कर हलीमा झट अन्दर घुसी और आंचल में बंधे हुए प्याज़ के टुकड़े को मसल कर उंगली में ज़रा-सा रस लगा कर दुलहन से कहा—बिटिया, बस ज़रा-सा। बस, बस, बस, बस! तुम्हारी सास आ रही है। नाक को ज़ोर से मल लेना।

ज़हीना ने नाक लाल कर ली और घूंघट निकाल कर बैठ गई। आंखें गीली हो रही थीं, नाश्ता लौटा दिया गया था, मगर आधे टिन बिस्कुटों की शामत आई थी। सास ने सर पर हाथ फेरा, मुंह खोल कर देखा और मुसकरा कर बोली—बेटी, यह अब तुम्हारा घर है। रोती क्यों

हो ? क्या मैं तुम्हारी मां नहीं हूं ? तुम्हें मेरी जान की कसम । भई, रोग्रोगी तो मुझसे बुरा कोई नहीं होगा । बेटी, तुमने नाश्ता-वाश्ता कर लिया ?

हलीमा ने आंचल से आंखें रगड़ते हुए कहा—वेगम साहव, वस एक प्याली चाय पी है । खाना-पीना सब छोड़ रखा है और रो-रो कर बुरा हाल बनाया है । असल म छोटी बहन से बहुत प्यार है । उसी को बार-बार याद करके कुढ़ रही हैं, और रो-रो कर आंखें लाल कर ली हैं । सिर में दर्द हो रहा है ।

बेगम बोलीं—नहीं बेटी, ऐसा नहीं करते । शमीमा भी तो तुम्हारी बहन है ।

दुलहन के दांत घूंघट के अन्दर चमक रहे थे । बेगम कहती हुई उठ गईं—अच्छा, अभी सिर के दर्द की टिकिया भेजती हूं । ठण्डे पानी के साथ खिला दो ।

हलीमा ने सर-दर्द की टिकिया बक्स में डाल दी । दुलहन को आए चौथा दिन था । शाम को भाई विदाई के लिए आ गया था और लड़की मैके चली गई । हलीमा दाइयों में बैठी बड़बड़ा रही थी—ऐ बुआ, आजकल की लड़कियां ऐसी बेसरम होवे हैं कि कहने की बात नहीं । खुदा बचाए । आंख में हया का नाम नहीं । इतना समझा दिया था, मगर सारी रात बातों और हँसी की आवाज़ आती रही । चार रोज में दस रुपये के तो फल और बिस्कुट खत्म हो गए, और हर वक्त यही कि हाय बुआ, भूख ! हाय बुआ—भूख ! देखो, बीबी तक बात न पहुंचे वरना लड़की को तो कोई कुछ न कहेगा, बस मेरी ही शामत आ जाएगी । बड़े-बड़ों की बात है । मुझे क्या, मेरे तो पच्चीस बन गए ।

—इलाहाबाद से प्रसारित

फाल्गुन

नरेश मेहता

माघ भूले वन हमारे
जब पधारे
नाथ !
हम खड़े थे वन किनारे,
साथ थी फगुआ तुम्हारे,
सभी कण्ठों ने तुम्हारे
जय उचारे !
गाछकुल हरसा,
नरसुलों के फूल पर सहसा
रंग तो बरसा—
हलद सरसों संग
सुनहला कास भी सरसा—
पर
हम न भीगे रंग में या गंध में,
क्या न हम तुमको पुकारे ?
किन्तु
तुमको तो लगे
कचनार टेसू ही अधिक प्यारे !
माघ भूले वन हमारे
जब पधारे
नाथ !

—इलाहाबाद से प्रसारित

पिंजड़े का पक्षी : मैना

कु० सुरेश सिंह

हमारे देश में पिंजड़े के पक्षियों में तोता और मैना का नाम सबसे आगे है। वैसे तो हरेवा, पवई, दामा, दंहगल, श्यामा, कस्तूरा पिद्दा, मृगराज और चंडूला आदि बहुत से पक्षी, अपनी मीठी बोली के कारण और तीतर, बटेर, लवा और बुलबुल आदि अपने लड़ने की आदत की वजह से शौकीनों के पिंजड़ों में कैद रहते हैं, लेकिन इन सबमें तोता और मैना इतने प्रसिद्ध हैं कि इनके बारे में हम सभी थोड़ी-बहुत जानकारी तो रखते ही हैं।

तोते को उसकी मीठी बोली के लिए नहीं, बल्कि अपनी बोली की हू-बहू नकल करने के कारण मनुष्य पिंजड़े का बंदी बनाता है, लेकिन मैना को इस कारण आजीवन बंदिनी बनना पड़ता है कि इसकी बोली में प्रकृति ने एक प्रकार की अद्भुत मिठास घोल दी है। यह तोते की तरह आदमियों की बोली की ज्यादा नकल तो नहीं कर पाती, लेकिन सिखाए जाने पर, नबी जी, भेजो! जोगी, उठो! आदि की नकल करने लगती है।

इसके पहले कि हम अपनी इस प्रसिद्ध चिड़िया की बोली आदि के बारे में कुछ जानें, हमें इसके रंग-रूप, रहन-सहन, स्वभाव, निवास और इसके निकट सम्बन्धियों के बारे में भी थोड़ा-बहुत जान लेना आवश्यक है। मैना चमकीले काले रंग की, कौए से कुछ छोटे कद की पहाड़ी चिड़िया है, जिसकी तीन जातियां हमारे देश में पाई जाती हैं। पहली जाति की मैना नैपाल-असम तक के पहाड़ी प्रदेशों में, दूसरी जाति की मध्य प्रदेश की पहाड़ियों में, और तीसरी जाति की पश्चिमी घाट की पर्वत माला में मिलती हैं, जहां इन्हें २०-२५ के छोटे गरोहों में देखना कठिन नहीं होता। इसकी चोंच और टांगें पीली होती हैं और इसकी आंख के पीछे से गुद्दी तक नारंगी के रंग का मांस का कुछ भाग उभरा-उभरा-सा रहता है, जिससे इन्हें पहचानने में तनिक भी कठिनाई नहीं होती। इसका मुख्य भोजन फल-फूल है। ये पहाड़ी मैना कहलाती हैं और इन्हें लखनऊ, कलकत्ता और वाराणसी आदि बड़े शहरों के चिड़िया बाजारों में १०-१५ से ५०-६० रुपये तक खरीदा जा सकता है। सीखी हुई मैनाओं के दाम तो ५-७ सौ रुपये तक लग जाते हैं।

इस पहाड़ी मैना के अलावा चार तरह की देशी मैनाएं भी हमारे प्रदेश के मैदानों में काफी संख्या में दिखाई पड़ती हैं, जिनमें किलहंटा सबसे प्रसिद्ध है। इसे गांव और बस्तियों के भीतर तक देखना मुश्किल नहीं। और हम सब इसे रोज ही अपने आस-पास जमीन पर फुदकते हुए देखते रहते हैं, लेकिन इसकी बोली बहुत कर्कश होने के कारण इसे कोई नहीं पालता।

दूसरी देशी मैना या 'चही', 'दरिया मैना' कहलाती है क्योंकि यह जलाशयों के आस-पास रहना ज्यादा पसन्द करती है। यह भी पाली नहीं जाती, क्योंकि इसकी बोली भी मीठी नहीं होती।

तीसरी देशी मैना का नाम 'अबलखा' है, जो काले और सफेद रंग की चिड़िया है जैसा इसके अबलखा नाम से स्पष्ट है। इसकी बोली जरूर मीठी होती है और सिखाए जाने पर यह सुरीली बोली भी बोलती है।

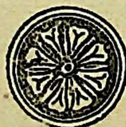
चौथी और आखीरी 'पावी' या 'पवई' कहलाती है, जो सिखाए जाने पर बहुत ही मीठी और सुरीली बोली बोलती है। यह कत्थई रंग की चिड़िया है, जो कद में किलहंटा और 'चही' से कुछ छोटी होती है। इसके सर पर चोटी नुमा कुछ काले पर रहते हैं, जिससे इसे पहचानने में भूल नहीं हो सकती। पवई वास्तव में गरीबों की मैना है क्योंकि असली पहाड़ी मैना, जैसा ऊपर बता आया हूं, बड़ी कीमती मिलती है और उसे पालना सब लोगों के सामर्थ्य की बात नहीं है। इसी कारण आज भी हमारे देहातों में पवई के शौकीन अब भी काफी संख्या में मिल जाते हैं। इसे सिखाने का करीब-करीब वही तरीका है, जो मैना के लिए इस्तेमाल किया जाता है।

अब मैं अपनी प्यारी मैना की ओर आता हूं, जिसने काला-कलूटा रंग रूप पाकर भी अपनी सुरीली बोली के कारण हमारे साहित्य में ही नहीं वरन् हमारे घरों में भी अपना एक विशेष स्थान बना लिया है।

मैना, कोयल-पपीहे की तरह अपने आप आनन्द के उद्रेक से ज़रूर बोलती है, लेकिन उसकी जिस बोली से हम सब परिचित हैं, उसे वह सिखाए जाने पर ही हमें सुनाती है। इसके लिए काफी परिश्रम करना पड़ता है और ऐसा नहीं होता कि हम बाज़ार से एक मैना खरीद लावें और वह पिंजड़े में रख दिए जाने पर अपने आप मीठी बोली बोलने लगे।

होता यह है कि मैना या पवई को सिखाने के लिए पहले उसे एक बांस की तीलियों के पिंजड़े में पाल लिया जाता है। उसे खाने के लिए भुने चने के बेसन को पानी या घी में सान कर दिया जाता है, साथ ही साथ कीड़े-मकोड़े से भी उसका पेट भरना पड़ता है। कुछ समय बाद जब वह उसमें रहने की आदी हो जाती है, तो उसकी शिक्षा-दीक्षा प्रारम्भ होती है। इसके लिए सिखाने वाला पिंजड़े को एक कपड़े से ढक देता है और अपनी जबान के नीचे केले के पत्ते का छोटा-सा नरम टुकड़ा रख कर एक प्रकार की सीटी-सी बजाता है, जिसे 'जफील लगाना' कहते हैं। उसे सुनते-सुनते कुछ दिनों बाद मैना उसी तरह बोलने लगती है। और इस प्रकार थोड़े समय बाद वह बिना जफील के ही प्रसन्न होने पर बड़े मीठे स्वर में सीटी नुमा मीठा स्वर तथा नबी जी आदि की नकल अपने मालिकों को सुनाने लगती है। इतना हो जाने पर पिंजड़े को ढकने की भी ज़रूरत नहीं रह जाती और हमारी प्यारी मैना समय-समय पर अपनी मीठी बोली से हमारे घर को गुंजाती रहती है।

—लखनऊ से प्रसारित



बांहों के घेरे : गर्दन की मजबूरियां

गंगा प्रसाद मिश्र

चार वर्ष बाद अमेरिका से स्वदेश लौटने के समय आलोक ने सोचा था कि वह भैया-भाभी को चौंका देगा। अपनी ट्रेनिंग समाप्त होने पर उसने वहीं एक बहुत अच्छी नौकरी कर ली थी। सोचा था, जिन भैया-भाभी ने अपनी जरूरतों की हत्या करके उसके विदेश जाने के लिए रुपया जुटाया था, उनके चरणों में वह एक अच्छी रकम रख देगा, ताकि वे उस कर्ज से उबर जाएंगे जो हर समय उनके मन को सालता होगा। अपने इस प्रयास में जहां आस-पास दौलत का तांडव नृत्य प्रतिक्षण दिखलाई देता रहता था, उसने कभी कोई फिजूलखर्ची न की थी। भाभी की पैवन्द लगी धोती, भैया का कोहनियों पर से जवाब दे गया कोट, और उनकी एकलौती बेटी स्नेह की किसी भी चीज के लिए कहने पर मां-बाप से झिड़कियां खाने के कारण डबडबाई हुई आंखें हमेशा उसके सामने घूमती रहती थीं। अपने जाने के साल भर बाद ही उसने भैया से रुपये मंगवाना बन्द कर दिया था। अपने खर्च के लिए वह वहीं कमा लेता था। ट्रेनिंग के तीन साल समाप्त हो जाने पर जब भैया-भाभी के आग्रह पूर्ण पत्र उसके शीघ्र ही लौटने के वास्ते मिलने लगे, तो उसने उन्हें यह नहीं लिखा कि उसने नौकरी कर ली है। ट्रेनिंग का पीरियड बढ़ गया है, प्रैक्टिकल ट्रेनिंग हो रही है, अप्रेन्टिस के रूप में काम कर रहा हूं, आदि लिख-लिख कर न आने की कैफियत देता रहा। यहां तक कि भैया-भाभी नाराज हो गए, उन्होंने आने के लिए लिखना ही छोड़ दिया। राजी-खुशी के खत भी जब-तब ही आने लगे। आलोक उन बातों को सोच-सोच कर मन ही मन हँसने लगा, जो उसके बारे में कल्पना की जा रही होगी· · ·अब आलोक को क्या लेना है, हमसे? क्यों वह हमारी सुनने लगा! किसी अमेरिकन लड़की से शादी कर ली होगी! अब वह क्या लौट कर आएगा? विदेश से चलते समय कितना प्रेम उसके मन में भैया और भाभी के प्रति और उसे चाहे बेटी कहा जाए या भतीजी, स्नेह के प्रति उमड़ रहा था। जब उसके विदेश जाने की तैयारी हो रही थी कितनी तेजी से बढ़ रही थी स्नेह, जिसे वह प्यार से 'नेहा' कहा करता था! और इधर भैया-भाभी के सामने उसके विवाह की समस्या प्रश्न वाचक चिह्न के रूप में खड़ी होती जा रही थी। परन्तु वे उसकी ओर से आंखें फेर कर अपने सम्पूर्ण साधन आलोक का पथ प्रशस्त करने के लिए लगाए जा रहे थे।

इस बीच कितनी-कितनी बातें हो गईं थीं। नेहा का विवाह हो गया था। भैया ने लिखा था, अब मेरी इतनी सामर्थ्य नहीं थी कि उसे इंटरमीडिएट पढ़ाता, फिर बी० ए० कराता, इस-लिए विवाह ही कर देना ठीक समझा। ज्यादा दहेज न दे पाने के कारण कोई सम्पन्न घर तो न मिल सका, हां सवा सौ रुपये पाने वाले एक लड़के से, जो क्लर्की कर रहा था, सम्बन्ध कर दिया था। पत्र में यह पढ़कर आलोक कितना दुखी हुआ था! नाज़ों से पली हुई नेहा को इतने मामूली वर से ब्याह देना कैसा अन्याय था! और यह सब करने के लिए भैया-भाभी उसी के कारण विवश हुए थे। वह अपने आपको इसके लिए कभी क्षमा न करेगा। वह अपनी सारी शक्ति नेहा के जीवन पर अभाव की छाया पड़ने से रोकने में लगा देगा। उसने दृढ़ निश्चय किया था, वह विवाह

नहीं करेगा, नेहा को सब तरह सुखी बना कर भैया-भाभी के ऋण के बोझ को कुछ हल्का करने की कोशिश करेगा ।

दो साल पहले भाभी ने लिखा था—आलोक तुम नाना हो गए, तुम्हें लड़कियां बहुत प्यारी हैं न, इसलिए भगवान ने तुम्हें नातिन दी है, नाती नहीं । लड़की तुम्हारी नेहा का बिलकुल प्रतिरूप है ।

आलोक ने सोचा था वह इस लड़की को बहुत ठाठ से रखेगा । ऊंची से ऊंची शिक्षा देगा । उसका सम्बन्ध ऐसा करेगा कि भैया-भाभी और नेहा देखते ही रह जाएंगे । नेहा के जीवन को वह हँसी-खुशी और सम्पन्नता के अथाह समुद्र से प्लावित कर देना चाहता था । अमेरिका से ले कर अपने इस छोटे कस्बे तक आते-आते रास्ते भर वह यही सब सोचता रहा था ।

\+ \+ \+

मकान के दरवाजे पर तांगा रुका तो पड़ोस वाले भौंचक्के हो गए—अचानक कैसे आ गए भया ? खैरियत तो है ? चिट्ठी तार कुछ नहीं भेजा ?

मन ही मन मुसकराते हुए आलोक ने जवाब दिया—भेजा तो था तार, क्या यहां आया नहीं ? तभी मैं कहूं कोई स्टेशन क्यों नहीं आया ।

और उसने छलकते हुए उत्साह से आवाज़ दी—भैया !

दरवाज़ा खुल गया । सामने बड़े भैया खड़े थे · · · चेहरा बिलकुल सफेद था, जैसे जिन्दगी का सारा रस निचुड़ गया हो । आज पहली बार उन्होंने उसे दौड़ कर अपनी बांहों में नहीं समेटा । क्या हो गया बड़े भैया को ? सोचते-सोचते आलोक उनके चरणों पर गिर पड़ा । रुंधे गले से उन्होंने आवाज़ दी—रानी, आलोक आया है—फिर उसे उठा कर खड़ा कर दिया ।

आलोक मन में सोच रहा था, भाभी से कहेगा —अभी बुलवाओ नेहा को और उस नातिन को भी, उन लोगों को देखे बिना वह एक क्षण नहीं रह सकता ।

इतने में भाभी बिलखती हुई आ गई —तुम्हारी नेहा को हमने गंवा दिया भैया, वह हम से रूठ गई !

भाभी ने अपनी बांहों में उसे भींच लिया ।

क्या ? नेहा अब दुनिया में नहीं ? मेरी उन्नति के लिए उसकी बलि दे दी गई ? उस अभावग्रस्त, आंसू-धुले मुंह पर हँसी की बिजली नहीं कौंध सकेगी ! उसकी आंखों के आगे अंधेरा छा गया, भाभी की बांहों से सरक कर वह धम्म से ज़मीन पर गिर पड़ा । भाभी घबड़ा गई । भैया-भाभी ने उसे संभाला, फिर उठा कर बिठाया । कुछ देर तीनों खामोश रहे फिर भाभी धीरे-धीरे बोली—धीरज रखो आलोक ! हम लोग यही सोच-सोच कर परेशान थे कि इस खबर को सुन कर तुम्हारी दशा क्या होगी ! हम लोग तो कहने को उसके मां-बाप थे, वह तो तुम्हीं को अपना सब कुछ मानती थी । चाचा-चाचा रटते ही उसके प्राण गए । तुम्हें वह कितनी दुलारी थी, यह क्या हमें मालूम नहीं है भैया ! मैं अपने आपको तुम्हारे सामने अपराधिनी पाती हूं, भैया ! —कह कर भाभी फिर रो पड़ीं—गैलपिंग टी० बी० के नाम से मौत उसे हमसे छीनने आई । अपनी आंखों के सामने लड़की को मौत हमसे छीनती रही और हम लोग कुछ न कर पाए ! कितनी बड़ी मजबूरी थी वह ! अपने भरसक इलाज भी किया, यों तो कहने को कुछ न कुछ रह ही जाता है । ऐसा होता तो पैसे वालों के यहां कोई मरता तो नहीं ग़रीबों के घर सूने पड़े होते । सब तकदीर की बात है, भैया !

भाभी रोती जाती और आलोक से धीरज रखने को कहती जातीं । आलोक बैठा हुआ भाभी का बिसूरना सुनता ज़ाता था, परन्तु उसके मस्तिष्क के आगे नेहा घूम रही थी ।

वही नन्हीं-सी नेहा जो चाहे कितना ही रोती हो, आलोक के उठाते ही चुप हो जाती। जिसने अभी-अभी बैठना सीखा था, जिसे पढ़ते समय वह अपने पास बैठा लिया करता था और जो गूंगां करते हुए कभी उसकी कापी फाड़ देती और कभी स्याही गिरा कर अपने मुंह पर पोत लेती। आलोक उसकी करतूतों पर हँसते-हँसते लोट जाता। कैसी पाजी है? शहर में साल भर पढ़ कर आलोक गर्मी की छुट्टी में आया था तो तीन बरस की पगली नेहा ने कैसे उसकी गर्दन में बांहें डाल कर उसे प्यार किया था। भाभी हँस कर बोली—भूली थोड़े ही है ज़रा भी! इसी को कहते हैं अपना खून।

आज वह बांहों का बन्धन, खून का नाता तोड़ कर कैसे नेहा चली गई! इतनी निर्मोही कैसे बन गई थी। उस दिन नेहा कितनी देर उसकी गोद से न उतरी थी, कैसे-कैसे उसने उसे दुलराया था। यही क्रम बराबर चलता था। जब छुट्टियों में आलोक घर आ जाता तो सूखी नेहा जैसे हरी हो जाती। अम्मा-बाबू की शिकायतें उससे करती और आलोक उसे बहलाता—बस बेटा, ज़रा मेरी नौकरी हो जाने दो तो हम लोग अलग एक मकान ले लेंगे। उसमें बस हम दोनों रहेंगे और कोई नहीं आ सकेगा!

भाभी नेहा को चिढ़ाती—मैं तो आऊंगी अपने देवर के मकान में, देखूंगी कैसे मुझे कौन रोकता है?

और अगर नेहा किसी विशेष कारण से अम्मा से नाराज़ होती तो बिगड़ कर कहती—चाचा, देखो अम्मा को!

आलोक कहता—अरे बकने भी दे, बेटा! तुझको एक बड़ा-सा डंडा दे देंगे, वही लेकर तू दरवाज़े पर खड़ी रहना। किसी को अन्दर न आने देना।

यह बात नेहा को बहुत अच्छी लगती। वह खुशी से ताली बजाने लगती। और भाभी अपनी बनावटी खिसियाहट मिटाने के लिए कहती—तुमने इसे बहुत सिर पर चढ़ा रखा है, आलोक! बहुत बढ़-बढ़ कर बोलती है। अच्छी बात है अबकी तुम शहर पढ़ने जाओगे, तब इसकी मरम्मत करूंगी।

—मैं चाचा के संग चली जाऊंगी—नेहा कहती।

—वहां तू सोएगी किसके पास?—आलोक याद दिलाता।

—अम्मा के पास—नेहा कहती।

—वहां अम्मा कहां होंगी?—आलोक कहता।

नेहा सोच में पड़ जाती।

इतने में भाभी कहतीं—मैं तो नहीं सुलाऊंगी, इसे अपने पास।

आलोक सुलह का प्रस्ताव रखता—मेल कर लो बेटा, अम्मा से......

और मेल हो जाता। हँसी के कहकहों से घर गूंज जाता। ऐसी असंख्य लड़ाइयां आज आलोक को याद आ रही थीं। उसे वह दिन याद आया जब वह अमेरिका के लिए अपना घर छोड़ रहा था और सोलह वर्ष की नेहा उससे उसी तरह लिपट कर रो रही थी जैसे बचपन में रोया करती थी। वह उसे पुचकार कर समझा रहा था—रोते नहीं बेटी, हँसी-खुशी बिदा देते हैं, बहुत जल्दी ही हम लोग मिलेंगे। उन वादों की याद आज जैसे कलेजे को काटे दे रही थी।

भाभी कह रही थी—उसका कितना अरमान था तुम्हें देखने का, पर हम लोग सोचते थे आखिरी समय पर तुम्हें आना पड़ा और ट्रेनिंग अधूरी रह गई तो सब किया धरा मिट्टी हो जाएगा। उसकी इतनी सख्त बीमारी की बात सुन कर तुम सब कुछ छोड़ कर चले आते तो कितना नुकसान होता!

आलोक कुछ न बोला, उसका दिमाग फट जाना चाहता था। किस मुंह से वह कहता कि ट्रेनिंग तो न जाने कब की समाप्त हो गई। वह रुपया कमा रहा था, ताकि वह भैया का कर्ज़ा अदा कर सके, अपनी नेहा को सोने से लाद सके, उसके लिए खुशियां ख़रीद ले, पर उसे क्या मालूम था कि वह रुपये ख़रीद रहा है और ज़िन्दगी बेच रहा है। उसकी तो ज़िन्दगी का नक्शा ही बदल गया। क्या करेगा वह उन चीज़ों का जो उसने पेट काट-काट बड़े अरमान से नेहा के लिए ख़रीदी थीं? किसके लिए कमाएगा अब वह? और किसके लिए इस दुनिया में ज़िन्दा रहेगा? भैया-भाभी को नेहा के शोक में दिन पर दिन घुलते हुए देख सकना उसके लिए सम्भव न होगा। आख़िर क्या होगा इस ज़िन्दगी का? आलोक समझ न पा रहा था।

इसी समय आलोक की गर्दन दो कोमल बांहों के घेरे में आ गईं। बांहें छोटी थीं, मुश्किल से गर्दन को घेर पाई थीं, पर उनकी पकड़ मज़बूत थी।

अरे, यह कौन है?—उसके मुंह से निकला। मुंह पर निगाह पड़ी तो जवाब का इंतजार न रहा। तो यही है नेहा की अमानत?

भाभी बोली—संतोष नाम रखा है इसका, बड़ी पुरखिन है, अपना-पराया खूब जानती है। देखो बतलाना थोड़े ही पड़ा कि तुम कौन हो?

इस शोक के समय में भी आलोक के आंसुओं में मुसकान घुल गई। बिटिया की तरफ़ स्नेह से देख कर उसने कहा—तू तो ऐसे आ गई मेरे पास जैसे बड़ी पुरानी मुलाकात हो।

उत्तर में संतोष ने अपनी बाहों के दायरे को और भी कस लिया।

—लखनऊ से प्रसारित



दिवा-स्वप्नों की शाम

कैलाश वाजपेयी

यात्रा के दूसरे चरण में,
जब कि आयु का फीका झोंका
आंखों से लिपटा हर जाला तोड़ गया है।
कोई अपमानित क्षण मुझको
संख्यातीत बुझे चेहरों में,
अनपहिचाना छोड़ गया है ।
मैं अनुभव करता हूं जैसे
जन्म-मृत्यु की दो घटनाएं
साथ हुई हैं ।
एक ऐंठती-सी नीलाई मेरे भीतर पठ गई है,
और साथ ही एक किरन मेरे माथे पर,
उड़ना सीख रहे पक्षी के
बोधहीन बच्चे-सी आकर
बैठ गई है ।
मैं बदली की तज़ धूप-सा
परछाईं से परछाईं तक
भाग रहा हूं ।
अनुभव के इस नए मोड़ पर
देख रहा हूं,
भरा नहीं है फूलों से कोई भी आंगन,
ईश्वर से बस्तियां,
सुलग रहे हैं चूल्हों में गीता क पन्ने
सब आंखें खोखली
थकी हैं सब बाहें,
घूम रही है पहियों में दुनिया सारी.
जाने क्यों,
चूड़ी, अक्षत, राखी, लोरी ।

अर्थ खो दिया है
सबने अपना-अपना,
कोयल की आवाज़ सिर्फ बच्चे सुनते हैं,
बाकी लोग व्यस्त रहते हैं।
लोग प्रतीक्षा-विदा या कि
अभिवादन-आदि नहीं करते हैं,
लोग सिर्फ
संशय करते हैं।
अभी-अभी इस नए मोड़ से
रेखा-सी खींचती हुई
कोई अदृश्य
आवाज़ गई थी,
मुझे देख कर, ठिठकी बोली,
ढक लो माथा
आंख मूंद लो–
उस सबसे जो दिखता है।
आंख मूंद लो
उस प्राणी की तरह कि जो तूफान देख कर,
आंख मूंद लेता है।
फिर मन में कहता है
बाहर कोई भी तूफान नहीं आया है।
मैंने पूछा ऐसा क्यों
यह विकृति है,
गूंज उठी,
क्योंकि सभी आकर्षण झूठे होते ह
क्योंकि भूख अपने अंडे तक खोती है
क्योंकि विवशता आखिर जी ही जाती है।

—इलाहाबाद से प्रसारित



अमेरिका की महिलाएं

डा० गार्गी गुप्ता

मैं अमेरिका गई तो थी शिक्षा प्राप्त करने, लेकिन इसके साथ ही वहां के समाज, वहां के लोगों—खास कर वहां की महिलाओं—के सम्बन्ध में जानने-समझने की उत्कण्ठा भी बड़ी प्रबल थी। वहां की महिलाएं कैसा जीवन बिताती हैं उनकी पारिवारिक और सामाजिक अवस्था क्या है, उनकी समस्याएं क्या-क्या हैं—यह सब मैं अपनी आंखों से देखना चाहती थी। सो, वहां अपनी पढ़ाई-लिखाई का सिलसिला तो मैंने जारी रखा ही, उनके अत्यधिक निकट जाने की भी भरसक कोशिश की। मैं मौके निकाल-निकाल कर उनके घर गई और उनके रहन-सहन तथा आचार-व्यवहार का नज़दीक से अध्ययन किया। वहां जो कुछ मैंने देखा, वह सचमुच प्रशंसनीय था। उनका सखी भाव, वात्सल्य भाव और सुघड़ गृहिणी का रूप, आज भी अकसर मेरी आंखों के सामने स्पष्ट हो उठता है।

वहां सबसे पहले जिस अमेरिकी नारी से मेरी मुलाकात हुई, वह एम० ए० की एक छात्रा थी। शायद आपको पता हो, न्यूयार्क के कोलम्बिया विश्वविद्यालय में एक छोटा-सा कार्यालय है, जो विदेशी छात्रों को परामर्श देने का काम करता है। यह कार्यालय हर विदेशी छात्र के लिए एक अमेरिकी छात्र नियुक्त कर देता है, जो आरम्भ के दिनों में उसे अपने नगर, संस्कृति और विश्वविद्यालय से परिचित कराता है। मेरी सहायता के लिए यही छात्रा नियुक्त की गई थी। उसका नाम था, शैरन बुर्के। हवाई अड्डे पर वही मेरा स्वागत करने भी आई थी। उस समय रात के दस बज रहे थे। सितम्बर का महीना था। वह एक गर्म कपड़े की ड्रेस पहने हुए थी—पूरी आस्तीन की और घुटनों से नीची। मुझे देखते ही वह मुसकराती हुई आगे बढ़ आई और बड़े तपाक से मुझ से मिली। सच मानिए, कुछ ही मिनटों में मुझे ऐसा लगने लगा, जैसे हम वर्षों पुराने मित्र हों। अनजाने देश में सहसा एक ऐसा साथी मिल जाए, तो कितनी खुशी हो सकती है, यह आप आसानी से समझ सकती हैं। मुझे ऐसा लगने लगा, जैसे मैं किसी विदेश में नहीं, अपने ही देश में हूं। अमेरिकी महिलाओं की मिलनसारी सचमुच प्रशंसनीय है। बाद में, वहां सैकड़ों छात्राओं से मेरी मुलाकात हुई—क्लास में, होस्टल में, जलसों में, बहुत-सी जगहों पर। सबको मैंने इसी तरह स्नेहशील और मैत्री के लिए हाथ बढ़ाए हुए पाया।

आम तौर पर लोग समझते हैं कि अमेरिकी लड़कियां फैशन-परस्त होती हैं, परन्तु बात ऐसी नहीं है। होस्टल में रहने के कारण, बहुत समीप से इन लड़कियों को देखने का अवसर मुझे मिला। सामान्य धारणा के विपरीत, वे अपने घर में तो सादगी से रहती ही हैं, स्कूल, विश्वविद्यालय और काम पर जाते समय भी न तो भड़कीली पोशाकें पहनती हैं और न अधिक साज-शृंगार करती हैं। मौसम सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण उन्हें ऊंचे कपड़े पहनने पड़ते हैं, यह एक दूसरी बात है। पर उनके कपड़े ऐसे कभी नहीं होते, जिनसे अंगों का अनावश्यक प्रदर्शन हो। आपको शायद विश्वास न हो, पर उनमें से अधिकांश के पास कपड़ों की संख्या भी पर्याप्त नहीं थी। वे

स्वयं उन्हें धोकर और उन पर इस्त्री करके हफ्ते भर का प्रवन्ध करती थीं। जब कभी में उन्हें वतलाती कि एक-एक भारतीय स्त्री अपने पास कितनी-कितनी साड़ियां रखती है, तब वे आश्चर्य से मेरा मुंह देखती रह जाती थीं।

लेकिन ऐसी बात भी नहीं है कि अमेरिकी स्त्रियों को शृंगार का शौक नहीं होता। जव वे सप्ताहान्त या छुट्टियों की शामों को शुद्ध मनोरंजन की दृष्टि से बाहर निकलती ह, तव कीमती वस्त्र भी पहनती हैं और यथासम्भव शृंगार भी करती हैं। परन्तु उस समय वे अकेली नहीं होतीं—उनके साथ साधारणत: उनका कोई पुरुष अभिभावक या मित्र अवश्य होता है और उनके मान-अपमान और सुरक्षा का पूरा दायित्व उसी पर रहता है।

अमेरिका प्रवास की अवधि में मुझे अनेक परिवारों से जान-पहचान बढ़ाने का मौका मिला। प्राय: प्रत्येक सप्ताहान्त मैं किसी परिवार के साथ ही विताना पसन्द करती थी। इस तरह, अनेक विवाहित महिलाओं और उनकी अविवाहित वयस्क कन्याओं से मेरा परिचय हुआ।

शायद आपको यह बात कुछ अजीब-सी लगे, पर यह एक सचाई है कि अमेरिका की अधिकांश स्त्रियां पहले बच्चे के जन्म के साथ ही नौकरी छोड़ देती हैं। मैंने अपनी परिचित बहुत-सी महिलाओं को ऐसा ही करते देखा। सामान्यत: इसके दो कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि अमेरिका में नौकरों तथा आयाओं का अभाव है। माना कि अमेरिका की सभ्यता 'पुश-बटन' अर्थात बटन दबाने वाली सभ्यता है, परन्तु बटन दबाने के लिए भी तो आदमी की ज़रूरत पड़ती है। रसोई-घरों में गैस की व्यवस्था रहने तथा वर्तन-कपड़े धोने, और झाड़ू लगाने के लिए मशीनों की व्यवस्था रहने पर भी गृहिणी को वच्चे या वच्चों की देख-भाल के साथ-साथ यह सारे काम करने तो खुद ही पड़ते हैं। बच्चों के लिए वहां अन्य देशों के समान न तो शिशु-सदन हैं जहां माताएं बच्चों को छोड़ कर काम पर जा सकें और न हमारे देश के समान नौकर-नौकरानियों की ही व्यवस्था है, जिनकी देख-रेख में बच्चों को छोड़ा जा सके। इसके अलावा, वहां संयुक्त परिवार प्रथा भी नहीं है, जो घर की नानी-दादियों या बुआ-बहनों के अतुल स्नेह की छाया में वच्चे मां को भूल सकें। इसलिए अमेरिकी महिलाओं के पास इसके अलावा और कोई चारा नहीं रह जाता कि वह कम-से-कम उस समय तक नौकरी का विचार स्थगित कर दें, जव तक उनके बच्चे काफी वड़े न हो जाएं।

अमेरिकी महिलाएं परिश्रम के क्षेत्र में किसी भी देश की स्त्रियों से पीछे नहीं हैं। बचपन स ही उन्हें आत्म-निर्भरता और परिश्रम का पाठ पढ़ाया जाता है। सुवह उठ कर बच्चों तथा पति के लिए नाश्ता तयार करना और उन्हें खिला कर भेजने या स्वयं गाड़ी में पहुंचा कर आने से लेकर झाड़ू-बुहारू करने तक घर का सारा काम-धन्धा उन्हें स्वयं ही करना पड़ता है। बाजार से सौदा-सुलुफ लाना, कपड़े धोना, सुखाकर उन पर इस्त्री करना, वर्तन धोना, खाना पकाना, वच्चे की देख-भाल करना, सारे काम वे खुद ही करती हैं। इन सब के बाद जो समय वचता है उसे वे पढ़ने-लिखने, टेलिविज़न देखने या मनो-विनोद करने में लगाती हैं। घर की गृहिणी पर काम का भार बहुत होने के कारण ही मेहमानों से भी इस बात की अपेक्षा की जाती है कि वह खाने-पीने के बाद बर्तन आदि धोने और उन्हें यथास्थान रखने में गृह-स्वामिनी की सहायता करें।

पढ़ने वाली लड़कियों से भी प्राय: सभी माता-पिता इस बात की आशा करते हैं कि वह पढ़ाई के खच म कोई पार्ट-टाइम काम करके उनकी सहायता करें। अच्छे खाते-पीते परिवारों के मां-बाप भी लड़कियों को परिश्रम के प्रति सम्मान भावना का पाठ सिखाते हैं। कोई लड़की किसी दुकान में सल्स गर्ल का काम करती है, तो कोई कैफेटीरिया में वेट्रेस का काम, कोई 'बेबी-सिटिंग' का काम करती है, तो कोई टाइपिंग या अध्यापन का काम। इस तरह, थोड़े बहुत डालर कमा कर वह मां-बाप का आर्थिक बोझ भी हल्का करती हैं और स्वयं आत्म-निर्भर वनने का सन्तोष

भी पाती हैं। हमारे देश के समान अमेरिका में मां-बाप इसका बुरा नहीं मानते, बल्कि प्रोत्साहन देते हैं। एक उदाहरण देखिए।

पेन्सिलवेनिया नामक राज्य में 'शू फ्लाई पाई' नाम की एक अत्यन्त स्वादिष्ट मिठाई होती है। वहां जिन गृहस्थ की मैं मेहमान थी, वह मुझे एक रेस्तरां में उसका स्वाद चखाने ले गए। वहां यह देख कर मुझे कुछ विचित्र-सा लगा कि उनकी बड़ी लड़की 'वेट्रेस' की ड्रेस पहने हाथ में कापी पेन्सिल लिए आई और बिल्कुल व्यावसायिक ढंग से मुसकराकर आर्डर लेने लगी। बाद में, मां-बाप ने भी उसे धन्यवाद और 'टिप' तथा उतने ही व्यावसायिक ढंग से उससे विदा ली। इसे शायद अपने यहां लालच या क्षुद्रता कहें, पर वहां इस तरह की कोई भावना मैंने नहीं देखी।

अमेरिका में अधिकांश लोग विवाहित हैं, परन्तु विवाह के सम्बन्ध में उनकी निजी राय है। उनका कहना है कि विवाह उन्हें आजन्म साथ रहने के लिए बाध्य नहीं करता। अगर विवाह के कुछ समय उपरान्त उन्हें ऐसा लगता है कि किसी कारण से पति-पत्नी में ऐसा मन-मुटाव है, या विचारों में इतना भेद है कि निभा सकना कठिन है, तो दोनों तलाक लेकर पुनर्विवाह कर लेते हैं। लेकिन इससे विवाह-व्यवस्था में उनकी आस्था नहीं खत्म हो जाती है, बल्कि व समझते हैं कि अगर उन्होंने एक बार जीवन-साथी के चुनाव में गलती की है, तो दूसरी बार अधिक सतर्क होकर चुनाव करेंगे। इसी कारण, अमेरिका में तलाक के साथ-साथ पुनर्विवाहों की भी संख्या बहुत अधिक है। कभी-कभी तो पोते-पोतियों से भरे-पुरे दादा-दादी भी पुनर्विवाह करते हैं। फिर भी, वहां के अधिकांश परिवार सुखी जीवन व्यतीत करते हैं और जब तक साथ रहते हैं, पूर्ण ईमानदारी और वफादारी का निर्वाह करते हैं। सच पूछिए, तो विवाह-व्यवस्था के प्रति अमेरिकावासियों का झुकाव दिन-दिन बढ़ता जा रहा है। यही कारण है कि वहां के लड़के-लड़कियां जल्दी-से-जल्दी विवाह सूत्र में बंध जाना चाहते हैं।

लेकिन अमेरिका में संयुक्त परिवार की प्रथा नहीं है। यों, यह अभाव सामान्य जीवन में तो विशेष परिलक्षित नहीं होता, लेकिन वहां के वृद्ध इसकी आवश्यकता बुरी तरह अनुभव करते हैं। जाड़ों में धूप निकलते ही वहां सड़कों के बीच पगडण्डियों पर लगी बेंचों पर बैठे हुए सैकड़ों वृद्ध नर-नारियों को आप कभी भी अखबार पढ़ते देख सकते हैं। घण्टों तक धूप सेंकने के बहाने बैठे हुए ये नर-नारी सड़क पर चलते हुए मां-बच्चों को देख कर आह भर कर रह जाते हैं। एक ही शहर में उनके नाती-पोते रहते हैं, फिर भी उन्हें जी भर देखने और उनकी बाल-क्रीड़ाओं में अपने एकाकीपन को भूल जाने के लिए वे तरसते हैं। इन्हें एक तरह से परित्यक्त ही कह सकते हैं। इनके क्लब और नाच घर तक अलग होते हैं। वे कभी यह सोच ही नहीं पाते कि उनके बेटे-बेटियों को उनकी कोई जरूरत भी है, जबकि सचाई यह है कि युवा माता-पिता भी अपने छोटे बच्चों की देख-रेख के लिए अपने वृद्ध माता-पिता को साथ रखने का अभाव पूरी तरह अनुभव करते हैं।

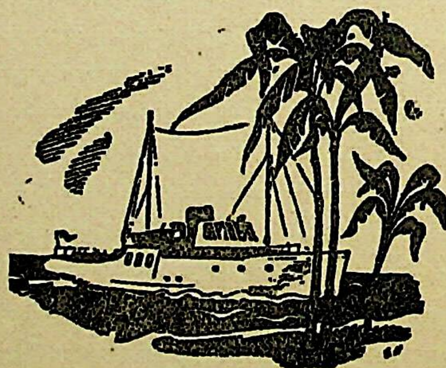
पत्रकारिता की छात्रा होने के नाते मुझे तरह-तरह के जलसों, सभाओं तथा गोष्ठियों में जाने का अवसर मिला और कई उत्तरदायित्वपूर्ण पदों पर स्त्रियों को नियुक्त देख कर मुझे सन्तोष हुआ। फिर भी, इन पदों पर उनकी संख्या अभी पर्याप्त नहीं है। वे साधारणत: सेक्रेटरी, टाइपिस्ट, रिसैपशनिस्ट, आपरेटर आदि छोटी जगहों पर ही काम करती हैं। परन्तु अब उनमें ऊंची शिक्षा का तेजी से प्रसार हो रहा है। और वे अधिकाधिक संख्या में अच्छे पदों पर पहुंचने के लिए प्रयत्नशील हैं।

अन्त में मैं कुछ शब्द अमेरिका की समाज-सेविकाओं के सम्बन्ध में कहना चाहूंगी। सेवा के क्षेत्र में वे सचमुच बहुत आगे बढ़ी हुई हैं। वहां ऐसी बहुत-सी 'मैत्री-संस्थाएं' हैं, जिनके कार्य-कर्त्ता और सदस्य अधिकांशतः महिलाएं हैं। ये महिलाएं मैत्री-संस्थाओं की सदस्याएं बन कर विदेशी छात्र-छात्राओं को अपने घर निमन्त्रित करती हैं। तीन दिन तक छात्र-छात्राएं इनके अतिथि रह सकते हैं और अमेरिकी जीवन को अति निकट से देख और समझ सकते हैं। इस बीच अगर विदेशी छात्र अपने देश के बारे में कुछ बोलना चाहें, तो वे चर्च, सभाओं या विद्यालयों में उनके भाषणों का भी आयोजन कर देती हैं। इन सबका खर्च अमेरिकी महिलाएं स्वयं ही उठाती हैं और बहुत बार तो अपने मेहमानों को उनके निवास-स्थान से स्वयं ले जाती और पहुंचाती भी जाती हैं। वस्तुतः मां-बाप, भाई-बन्धुओं और मातृभूमि से दूर विदेशी छात्रों को अगर इन ममतामयी मां-बहनों का प्यार न मिले, तो उनका समय काटना दूभर हो जाए।

इसके अलावा उनकी समाज-सेवा का एक और भी पक्ष है। कुछ कारणों से, अमेरिका में अनाथ बच्चों और प्रौढ़ लोगों की संख्या बहुत अधिक है। अधिकांश गृहस्थ महिलाएं स्वेच्छा से इन लोगों के लिए पुराने वस्त्रों, किताबों और मैगज़ीनों की व्यवस्था कर उन तक पहुंचाती आती हैं। इसमें सुख मिलता है और कभी-कभी वे उनके लिए थोड़े-बहुत धन का भी प्रबन्ध कर देती हैं।

जैसा कि मैंने पहले कहा है, अमेरिका में नौकरों और संयुक्त परिवार की प्रथा का अभाव है, इसलिए छोटे बच्चों वाली महिलाओं को घर से बाहर जाने की सुविधा नहीं रहती। यहां तक कि चर्च जाना भी कठिन हो जाता है। एक तो 'बेबीसिटिंग' हर समय सम्भव नहीं है, दूसरे यह प्रथा महंगी बहुत है, अतः कई स्त्रियां ऐसा करती हैं कि अपना काम जल्दी पूरा कर के, निस्वार्थ भाव से दूसरों के बच्चों को अपने घर रख लेती हैं। ये बच्चे उनके अपने बच्चों के साथ खेलते हैं और उनकी माताएं अपना काम कर आती हैं। सेन फ्रांसिसको में जो महिला मुझे हवाई अड्डे पर लेने आई, उनके साथ छोटे-बड़े दस बच्चे देख कर मुझे कुछ आश्चर्य हुआ। बाद में पता चला कि उनमें से ी उनके पड़ोसियों के बच्चे थे, जिनकी मां किसी-न-किसी काम से बाहर गई हुई थीं और वे उनके अकेले रह जाने के डर से सबको साथ ले आई थी। छोटे-छोटे पराए बच्चों पर उनकी इतनी ममता देख कर भला किसका मन प्रफुल्लित न हो उठेगा।

वास्तव में ऐसी ममतामयी नारियां ही किसी समाज की प्राण होती हैं। ऐसी महिलाओं पर ही किसी राष्ट्र को गर्व होता है। अमेरिका सचमुच भाग्यशाली है ऐसी नारी-रत्नों को पाकर।



१. राष्ट्रों का उत्थान और पतन

के० एम० मुंशी

इतिहास मानव समुदाय के उत्थान और पतन की कहानी है। धर्म, जाति, भाषा और राष्ट्रीयता ये कुछ ऐसे तत्त्व हैं, जिनके आधार पर समुदाय एक सूत्र में बंधा रहता है। हम यहां राष्ट्रीयता की चर्चा करेंगे। प्रश्न उठता है, कि राष्ट्रों का उत्थान और पतन कैसे होता है? और इसी से सम्बद्ध प्रश्न है—राष्ट्र को शक्तिशाली बनाने वाले तत्त्व कौन से हैं?

एक भौगोलिक क्षेत्र में कुछ लोगों के रहने से राष्ट्र नहीं बनता। एक भाषा बोलने वाले या एक धर्म को मानने वाले लोगों से भी राष्ट्र नहीं बनता। स्विट्जरलैंड और कनेडा में विभिन्न भाषाएं बोली जाती हैं, फिर भी वे राष्ट्र हैं। दूसरी ओर ब्रिटेन और अमेरिका, उत्तर भारत और पाकिस्तान में एक भाषा बोली जाती है, लेकिन वे विभिन्न राष्ट्र हैं।

राष्ट्र होने के लिए तीन बातें मुख्य हैं: पहली, अपने अतीत और महापुरुषों पर गर्व, दूसरी एकता की भावना और तीसरी मिल कर काम करने की क्षमता।

यदि किसी देश में कुछ लोग अपने अतीत पर गर्व करते हैं परन्तु दूसरे नहीं करते और देश के महापुरुषों को अपना नहीं मानते, तो उन्हें एक राष्ट्र नहीं माना जा सकता।

एकता की भावना का प्रश्न मुख्यतः नेता वर्ग में एकता की भावना से सम्बद्ध है। प्रत्येक देश में कुछ थोड़े लोग ऐसे होते हैं, जो आगे बढ़ते हैं और नेतृत्व कर सकते हैं। शेष बहुसंख्यक जनता इसी नेता वर्ग का अनुसरण करती है। राष्ट्रीय एकता की भावना तीन स्थितियों में नष्ट हो जाती है—यदि यह नेता वर्ग ऊंचे आदर्शों से प्रेरित न हो, जब उसकी एकांत निष्ठा राष्ट्र में न हो, अर्थात् उसमें जात-पांत, प्रान्तीयता आदि के संकीर्ण भाव हों और जब नेता वर्ग जनता से दूर हट जाए।

ऊंचे आदर्शों से प्रेरित होकर ही राष्ट्रों ने उन्नति की है। स्वतन्त्रता की लड़ाई के पिछले सौ वर्षों में भारत के नेता ऐसे ही आदर्शों से प्रेरित थे। हम राष्ट्रीयता और स्वतन्त्रता के आदर्शों से प्रेरित थे। स्वतन्त्रता के लिए कष्ट सहने और प्राण भी होमने को उद्यत थे। हम अपने पुराने आध्यात्मिक आदर्शों से प्रेरित होकर उन्हीं के सहारे स्वतन्त्रता के लिए लड़ रहे थे, हमारा ध्येय था कि स्वतन्त्र होकर हम मानव मात्र को सुखी बना सकें।

यदि हममें आदर्श की भावना शिथिल हो जाए, जैसा कि अतीत में हुआ, यदि हम अपने में और अपनी संस्कृति में विश्वास खो दें, यदि हमें यह भरोसा न रहे कि हम कुछ कर सकते हैं, तो हमारे संकल्प शिथिल हो जाते हैं, हमें निराशा घेर लेती है और इसका परिणाम होता है पतन।

राष्ट्रीय एकता की भावना नष्ट होने का दूसरा कारण है, राष्ट्र में एकांत-निष्ठा का

अभाव । यदि हमारे नेता वर्ग के लोग राष्ट्र की अपेक्षा जाति, धर्म, भाषा या प्रांत म अधिक निष्ठा रखने लगें, तो राष्ट्रीय भावना का ह्रास होने लगेगा। इसका यह अर्थ नहीं कि हम अपने परिवार, जाति, धर्म और भाषा से प्रेम न करें। लेकिन इसके साथ-साथ हमें राष्ट्र को सबसे ऊंचा स्थान देना चाहिए, तभी राष्ट्र का उत्थान होगा, अन्यथा वह पतन के मार्ग पर चल पड़ेगा। जर्मनी और जापान में राष्ट्र के प्रति अपूर्व निष्ठा है और इसीलिए द्वितीय महायुद्ध के बाद सर्वनाश के गर्त में गिर कर भी वे इतनी जल्दी उठ सके हैं।

तीसरी स्थिति, नेता वर्ग और जनता के विचारों में साम्य न होने की स्थिति तब उत्पन्न होती है, जब नेता वर्ग दूसरी संस्कृति के प्रभाव में आ जाता है। एक बार यह स्थिति उत्पन्न होने पर नेतावर्ग चाहे जितना कर्मठ क्यों न हो, जनता उसे पराया ही समझती है और फलतः उनमें एकता की भावना नहीं रहती।

अपने ही देश का उदाहरण लें, तो पता लगता है कि गांधी जी से पहले अधिकांश नेता पाश्चात्य रंग में रंग रहे थे और वे जनता की भावना को नहीं समझ पाते थे। गांधी जी ने नेता और जनता के बीच की खाई पाट दी और जनता ने उन्हें अपना संत, महात्मा और रक्षक समझ कर, उनको अपनाया और पूजा।

राष्ट्र निर्माण का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्व है, मिल कर काम करने की क्षमता। मिल कर काम करने की भावना के बिना राष्ट्रीय एकता की भावना कोरी भावना ही रहती है। पिछले युग की ही बात है—हम आर्यावर्त्त और विक्रमादित्य के स्वप्न तो देखते थे, लेकिन मिल कर काम करने को तैयार न थे। इसका परिणाम यह था कि जब मोहम्मद गोरी ने हमला किया, तो अकेला पृथ्वीराज उससे लड़ता रहा और बाकी हिन्दू राजा चुप बैठे रहे।

लेकिन इतिहास हमें एक सबक सिखाता है। आदर्शों से प्रेरित होकर मिल कर काम करने की भावना सदैव शुभ ही सिद्ध नहीं होती। इसके कारण कभी-कभी दूसरों पर आधिपत्य की आकांक्षा उत्पन्न होती है, दूसरे को दबा कर हम उठना चाहते हैं, दुनिया पर छा जाना चाहते हैं। अधिकांश विनाशकारी महायुद्ध इसी कारण हुए हैं।

जब किसी देश में एकता की अटूट भावना होती है, तब वह बड़े काम करता है, शत्रुओं पर विजयी होता है और अपनी संस्कृति का प्रसार करता है। लेकिन जब यह भावना सीमा पार करती है, तब वह अनुचित रूप धारण करती है। नेता वर्ग अपरिमित बल और अपार वैभव प्राप्त करता है। नेता वर्ग प्रभुता और शक्ति के मद में मत्त हो जाता है। यह स्थिति उत्पन्न होने पर पूर्णोन्नत राष्ट्र का पतन प्रारम्भ होता है।

ऐसे राष्ट्रों के सामने तीन संकट उत्पन्न हो सकते हैं—उनके प्रतिद्वंद्वी राष्ट्र उनसे अप्रसन्न हो जाएं, जलने लगें, और युद्ध हो जाए, जिसमें ऐसे राष्ट्र नष्ट हो जाएं अथवा वह अपने प्रभुता-मद में आकर स्वयं ही कोई आत्मघाती काम कर बैठें। बहुधा ऐसी स्थिति में सत्य-असत्य, उचित-अनुचित का विवेक नष्ट हो जाता है। मनुष्य सांसारिक सुखों में डूबता जाता है और स्वयं नष्ट हो जाता है।

आज के युग में कुछ ऐसा लग रहा है, जैसे समृद्ध शक्तिशाली देश आध्यात्मिक आदर्शों से गिरते जा रहे हैं। इसके परिणामस्वरूप ताकत और चालबाजी सब बातों की निर्णायक बन गई है। मानवता का सम्मान समाप्त हो गया है। शासक अत्याचारी हो गए हैं। पारिवारिक जीवन विकृत हो रहा है।

इस स्थिति में भारत के इतिहास से कुछ सबक लिया जा सकता है। शताब्दियों तक हमारे ऊपर विदेशियों का शासन रहा। इस संकट में भी हम अपने आध्यात्मिक आदर्शों

पर दृढ़ रहे और सैकड़ों कठिनाइयों के बाद हम फिर उठ रहे हैं। लेकिन हमारा नेता वर्ग नई दुनिया की चकाचौंध में खोया-सा दिखाई देता है। हम अपने आदर्शों में निष्ठा रख और राष्ट्रीय एकता की भावना से मिल कर काम करें, तो इस संकट को रोक सकते हैं। यदि हम अपने आध्यात्मिक आदर्शों से प्रेरणा लेते रहें, तो हमारा राष्ट्र कभी अवनति की ओर न जाएगा। हम उन विनाशक शक्तियों का सामना करने में समर्थ होंगे, जो बल और वैभव को अत्यधिक महत्व देने से उत्पन्न हो जाती हैं, और तब हमारा राष्ट्र उत्थान की ओर अग्रसर होता रहेगा।



२. तानाशाही क्यों कायम होती है ?

प्रोफेसर मुजीब

तानाशाह कहते ही दिमाग में एक ऐसे आदमी की तस्वीर खिच जाती है, जिसने जबर्दस्ती सत्ता हथिया ली हो, जो क्रूर, निरंकुश और स्वेच्छाचारी हो और जिसकी तलवार निर्दोष लोगों के खून की प्यासी हो। उसके साथ ऐसे लोगों का गिरोह रहता है, जो आंख मूंद कर उसका हुक्म बजा लाते हैं। यूनान, असीरिया और अन्य देशों के इतिहास में अनेक तानाशाह मिलते हैं। ये तानाशाह अच्छे भी हो सकते हैं, बुरे भी। पर इन सबकी यही विशेषता है कि ये निरंकुश होते हैं। अपनी मरजी के खिलाफ ये किसी की बात नहीं सुन सकते। यदि चार आदमी आपस में बात भी करें, तो उन्हें उसमें षड्यन्त्र की बू आती है। वह भला काम करे या बुरा, सब अपने मन का करता है। उस पर चूं भी करना राजद्रोह है।

तानाशाही किन परिस्थितियों में कायम होती है, इसका पता तो इतिहास से लगता है। परिस्थितियों को देखते हुए कभी-कभी ऐसी तानाशाही उचित या हितकर भी मानी जा सकती है। पर जो लोग तानाशाही के समर्थक, गुर्गे या हथियार होते हैं, उनके कार्य का औचित्य कभी नहीं ठहराया जा सकता। यदि ऐसे लोग न हों तो तानाशाही टिक नहीं सकती। इसलिए मूल प्रश्न जिस पर हमें विचारना है, यह है कि लोग तानाशाही को स्वीकार या सहन क्यों करते हैं।

आप मानें या न मानें, लेकिन प्राचीन इतिहास से भी और कुछ सभ्य देशों के हाल के इतिहास से भी इसका यही उत्तर मिलता है कि लोग तानाशाही को इसलिए कायम करते हैं, क्योंकि उसे अच्छा समझते हैं। वे उसे इसलिए अच्छा मानते हैं, कि उसमें समाज की रक्षा और योग-क्षेम का पूरा उत्तरदायित्व एक व्यक्ति के कंधे पर होता है। आदिम युग में तो ऐसे व्यक्ति को दैवी-शक्ति युक्त माना जाता था और समझा जाता था कि वह देवताओं का आवाहन कर सकता है और आपदाओं को टाल सकता है।

आज हम जानते हैं कि यह अन्धविश्वास था। हमीं क्यों प्राचीन युग में भी लोग यह

समझने लगे थे कि राजा ईश्वर का प्रतिनिधि आदि कुछ नहीं होता । इतिहास में बहुत-से अत्याचारी भी हुए, लेकिन इसके बाद भी एकतन्त्र या एक आदमी के शासन की अच्छाई में विश्वास मिटा नहीं । राजाओं ने भी, राजा देवता का अंश होता है, इस विश्वास को सब तरह से बढ़ाया । दूसरी ओर वर्ग-संघर्ष था । मजदूरों, किसानों, कारीगरों और व्यापारियों आदि पर जागीरदारों और सामन्तों के जो अत्याचार होते थे, उसके कारण वे शक्तिशाली निरंकुश राजा को अपना त्राता समझते थे । इस प्रकार जनता में राजभक्ति का भाव प्राचीन युग से किसी-न-किसी रूप में निरन्तर चला आ रहा है। सभ्यता ने इसे वीर-पूजा का नाम दे दिया है। यदि यह विश्वास मिट जाता तो नेपोलियन, कमालपाशा, मुसोलिनी और हिटलर पैदा न होते।

तानाशाही क्यों क़ायम होती है, इसका एक उत्तर तो यह है कि वह अच्छी होती है, और दूसरा उत्तर है कि वह आवश्यक है । इसका उदाहरण रोम गणराज्य के इतिहास में मिलता है। वहां संकट काल में एक व्यक्ति को पूरी सत्ता दे दी जाती थी । वास्तव में संकट काल ही तानाशाही को आवश्यक बनाता है। इतिहास में अनेक बार ऐसे अवसर आते हैं, जब सर्वनाश देश के सामने खड़ा दिखाई देता है। ऐसे ही अवसरों पर चतुर और साहसी व्यक्ति राज्य की सत्ता पर कब्जा कर लेते हैं।

लेकिन कोई भी विचारक आज तक संकट काल की ठीक परिभाषा नहीं कर सका। अरक्षा या संकट का भाव अनेक कारणों से पैदा हो सकता है । आक्रमण का खतरा और घर की फूट इस भावना को इतना बढ़ा देती है, कि लोग संकट का अनुभव करने लगते हैं। मैंने कई लोगों को कहते सुना है कि भारत को आज तानाशाह की ज़रूरत है। असल में लोगों में यह विश्वास अब तक कायम है कि तानाशाह या अधिनायक सब कुछ कर सकता है । इस भाव के फैलने में देर नहीं लगती, जनता एक मजबूत शासन का स्वप्न देखने लगती है, जो उन्हें कष्टों से छुटकारा दिलावेगा।

तानाशाही कायम होने में सबसे अधिक सहायक यह भावना है, कि तानाशाही अनिवार्य है । तानाशाही क्यों कायम होती है, इस प्रश्न का सबसे भयानक उत्तर यही है । भयानक इसलिए कि इससे लोग सब जिम्मेदारियों से मुक्त हो जाते हैं। यह स्थिति जनता की घोर अकर्मण्यता और कायरता से उत्पन्न होती है।

हम यह सिद्ध कर सकते हैं, कि तानाशाही अच्छी नहीं, यह भी सिद्ध कर सकते हैं कि आवश्यक नहीं, लेकिन जिन स्थितियों में तानाशाही कायम होती है, उन्हें कैसे झुठला सकते हैं, क्योंकि जो लोग यह सिद्ध करना चाहें कि वह अनिवार्य नहीं है, उनके कंधों पर यह जिम्मेदारी आती है कि वे खुद आगे बढ़ें, दृढ़-संकल्प, आत्म-त्याग और आत्म-विश्वास का परिचय दें । ऐसे आदमी आगे नहीं आते। यही कारण है कि निरंकुश सत्ता के विरुद्ध क्रांतियां बहुत कम हुई हैं। जो हुई हैं, वे सफल नहीं हुईं। अपनी जान बचाने के लिए लोग अपनी स्वतन्त्रता का सौदा कर लेते हैं।

तानाशाही का एक नया रूप भी है । इसमें तानाशाही एक व्यक्ति की नहीं, बल्कि राजनीतिक दल की होती है । इस तानाशाही के कई रूप हो सकते हैं। एक रूप यह हो सकता है कि पार्टी के सदस्य उसके हुक्म पर वोट दें। दूसरा रूप यह है कि व्यक्ति के विचार, भाषण, कार्य सब पर दल का पूरा नियन्त्रण हो । राजनीतिक दल की तानाशाही व्यक्ति, समूह और सम्प्रदाय तीनों तानाशाहियों का मिलाप है और इसके हाथ में जो ताकत है, वह पुराने जमाने की बड़ी-से-बड़ी तानाशाही को मयस्सर न थी।

कुछ दल किसी राजनीतिक सिद्धान्त को अपनी सत्ता का आधार बनाते हैं । इस प्रकार के दल उन लोगों को, जो खुद सोच नहीं सकते या सोचने से डरते हैं, शरण और ढाढ़स देते हैं। पर जो लोग इन सिद्धान्तों से ज़रा भी मतभेद रखते हैं, उनकी मौत है । दल के सिद्धान्त से तनिक भी इधर-उधर करना जघन्यतम अपराध माना जाता है।

समाज में कुछ ऐसे वर्ग होते हैं, जो दूसरों को दबाते हैं, जैसे जमींदार या सरकारी अहलकार । चतुर और महत्वाकांक्षी व्यक्ति इन छोटे तानाशाहों का सहारा लेकर सत्ता हथिया लेता है और तानाशाह बन जाता है । सत्ता हथियाने वाला जानता है कि किस प्रकार ये छोटी-छोटी तानाशाहियां पनपें, जिससे उसे सत्ता हथियाने का अवसर मिले। एक बार यह चाल सफल हो जाए, फिर उसका विरोध करना कठिन ही नहीं खतरनाक हो जाता है, क्योंकि उसके हथियार—ये छोटे अत्याचारी उसके साथ रहते हैं । अतएव यदि तानाशाही का अन्त करना है, तो उन मूल कारणों का अन्त करना चाहिए, जो तानाशाही को जन्म देते हैं।

इतिहास बताता है कि तानाशाही या तो किसी देश को जीतने के बाद कायम हुई या किसी देश में आन्तरिक कारणों से ही कायम हुई। जहां तक किसी देश को जीतने का प्रश्न है, यदि हम एक देश पर दूसरे देश की विजयों के इतिहास का विश्लेषण करें, तो पता लगेगा कि बाहरी ताकत इसलिए विजय प्राप्त कर लेती है, कि आक्रान्त देश में मुकाबला करने की ताकत नहीं होती । मुकाबला करने की ताकत क्यों नहीं होती, इसके कई कारण हैं।

एक कारण है आंतरिक फूट । आंतरिक फूट बाहरी शक्ति को आक्रमण का न्योता देती है। फूट के कारण लोगों को देश के हित का ध्यान नहीं रहता। एक प्रान्त या भाग के लोग दूसरे भाग के खतरे को अपना खतरा नहीं मानते । हमारे देश के इतिहास में ऐसे उदाहरण भरे पड़े हैं। १८वीं शताब्दी में साम्राज्यवादी शक्तियों ने भारत के तटवर्ती भागों पर हमला किया और देश भर में किसी ने विरोध नहीं किया, क्योंकि उन्होंने उसे अपने लिए खतरा नहीं समझा।

प्रान्तीयता और निहित स्वार्थ भी तानाशाही को जन्म देते हैं । १८वीं शताब्दी के भारत में ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं, जहां निहित स्वार्थों के कारण जमींदार और छोटे-छोटे राजा मनमाने अत्याचार करते थे।

प्रांतीयता की यह विशेषता है, कि वह लोगों का ध्यान प्रांत विशेष में इतना सीमित कर देती है, कि उससे बाहर की बात सोचना भी पाप प्रतीत होता है।

भारत में प्रांतीयता पर जाति और भाषा-भेद की छाप और लग जाने के कारण वह और भी भयंकर रूप में रही है। जातिभेद का एक प्रभाव अवश्य हुआ कि हमारे यहां वर्ग-संघर्ष अधिक ज़ोर नहीं पकड़ पाया । दुनिया का इतिहास वर्ग-संघर्ष से भरा पड़ा है। जमींदारों ने किसानों का और व्यापारियों ने कारीगरों का सदा शोषण किया है और इनके शोषण से त्रस्त जनता ने इनकी शक्ति नष्ट करने वाले तानाशाह का स्वागत किया है।

प्रांतीयता की संकुचित विचारधारा और वर्ग द्वेष पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता आ रहा है । छोटा और बड़ा तथा जाति-पांति का भाव घर से ही पैदा होता है । आगे चल कर वह एकता और सहयोग के उन भावों पर कुठाराघात करता है, जिनके अभाव के कारण आन्तरिक फूट पैदा होती है, लुटेरे पैदा होते हैं और साम्राज्यवादी पैदा होते हैं।

लेकिन घर के वातावरण का दूसरा पक्ष भी है। घर में हमें ईश्वर से डरने और

अन्याय तथा पाप से बचने की शिक्षा मिलती है। घर में ही उदारता और आत्मत्याग का पाठ हम पढ़ते हैं। इस प्रकार घर में स्वतन्त्रता का जन्म और तानाशाही का विरोध जन्म लेता है। यह ठीक है कि केवल एक घर या परिवार की शिक्षा तानाशाही का अन्त नहीं कर सकती। इसके लिए उसे पूरे समाज, राजनीतिक संस्थाओं और राज्य का नैतिक समर्थन चाहिए।

हमें ऐसे कानून बनाने चाहिएं और ऐसी परिपाटी चलानी चाहिए कि कोई भी व्यक्ति, चाहे वह देश का हो या बाहरी, राज्य की सत्ता हथिया न सके। इससे भी अधिक आवश्यक यह है कि हम स्वतन्त्रता की रक्षा के संस्कार घर में पैदा करें और ऐसी शिक्षा दें, जिससे तानाशाही को जन्म देने वाले संदेह, अंध-स्वार्थ और मिथ्या गर्व के भाव उत्पन्न ही न हों। यदि हम यह नहीं कर सकते, तो हमें सदैव सावधान रहना चाहिए, क्योंकि तानाशाह कब, कहां से और कैसे पैदा हो जाएगा, इसका कुछ पता नहीं।



३. शासन चक्र के धुरे : सरकारी कर्मचारी

आर० सत्यनाथ अय्यर

प्राचीन यूनान के एथेंस में पेरिक्लिस का युग (ईसा पूर्व ४६१-३१) स्वर्ण युग माना जाता है। उसी युग में गणतन्त्र का श्रीगणेश हुआ था। इस गणतन्त्र की बुनियाद लगभग १३० वर्ष पहले सोलन ने डाली थी। उन्होंने एथेंस की उच्च परिषद एरियोपेगस का पुनर्गठन किया और उसे संविधान का संरक्षक बनाया, साथ ही न्याय का काम जन-सभा को सौंपा।

एथेंस की असेम्बली जब न्याय करती थी, तब उसे हेलिया कहते थे। ३० साल की उम्र से ऊपर के सभी नागरिक इसके सदस्य होते थे। वे मजिस्ट्रेटों के काम की जांच करते थे और न्यायाधिकारियों के फैसलों के विरुद्ध अपील सुनते थे। इस प्रकार सोलन ने ईसा पूर्व छठीं शताब्दी में जनता के न्यायालय की स्थापना की। ईसा पूर्व ४८७ में एरियोपेगस से संविधान की संरक्षता का अधिकार ले लिया गया और तब एथेंस की न्याय सभा हेलिया जनता की सत्ता की प्रतीक बन गई।

हेलिया में जजों की संख्या १,००० से भी अधिक हो जाती थी। प्रत्येक न्यायाधीश को प्रतिदिन लगभग ३ आना भत्ता मिलता था। वे जो फैसला करते थे, उसके विरुद्ध अपील नहीं की जा सकती थी। इस तरह के न्यायालयों से दो लाभ थे: एक तो ये जनता के प्रतिनिधि होते थे, दूसरे जजों की संख्या अधिक होने से और उनके नाम मुकदमे से सिर्फ एक दिन पहले घोषित किए जाने से, वहां रिश्वतखोरी नहीं चल सकती थी।

परन्तु इसमें अनेक दोष भी थे। इन जजों को कानूनों का कोई ज्ञान नहीं होता था, न उनको कानूनदां लोगों की मदद मिलती थी, फिर भी उनका निर्णय अंतिम होता था। होता यह था कि वे वादी और प्रतिवादी विद्वानों से व्याख्यान लिखवा कर उसे सुना देते थे। उसमें कानूनी

बातें कम और न्यायाधीशों को सहानुभूति प्राप्त करने का प्रयत्न अधिक होता था। अभियुक्त अपने साथ अपनी पत्नी और बच्चों को भी ले आते थे, ताकि उनको देख कर न्यायकर्त्ताओं को दया आ जाए। इस प्रकार निष्पक्ष न्याय में बाधा पहुंचती थी।

ईसा पूर्व ३९९ में यूनान के महान् दार्शनिक सुकरात को मृत्यु-दण्ड दे कर एथेंस के गणतन्त्र-वाद ने अपने ऊपर सबसे बड़ा कलंक लगाया। उनका अभियोग ५०१ न्यायकर्त्ताओं के आगे पेश हुआ और ६० के बहुमत से उन्हें मृत्यु-दण्ड दिया गया। उन्होंने सत्य की खातिर न्याय-सभा के दण्ड से ज़हर का प्याला पीकर अपनी जान दे दी। इस प्रकार संसार का महान् दार्शनिक, और प्लेटो, अरस्तू आदि विश्व विख्यात् मनीषियों का गुरु जनता के न्याय का शिकार हुआ।

इतिहास ऐसी अनेक चेतावनियों से भरा है। प्रसिद्ध अंग्रेज राजनीतिज्ञ बर्क का कहना है कि फ्रांस के क्रान्तिकारियों ने अपना मतलब साधने के लिए इतिहास से गलत नजीरें लीं। मुसोलिनी भी यही मानता था कि रक्तपात से ही देश आगे बढ़ता है। पुराने ज़माने में एक-से-एक राजनीतिज्ञ, न्यायी और शासक हुए हैं, पर न्याय-व्यवस्था का पूरा विकास आधुनिक युग में ही हुआ। पुराने ज़माने में राज्य की सत्ता के आगे व्यक्ति की सत्ता या स्वतन्त्रता को माना जाता है।

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और संघीय शासन व्यवस्था से न्याय-व्यवस्था का घनिष्ठ सम्बन्ध है। आज न्याय का काम राज्य का है, पहले पादरी या धर्मगुरु, सामन्त, या बिरादरी की पंचायतें यह काम करती थीं।

न्यायालय के सामने अमीर-गरीब एक बराबर हैं—यह सिद्धान्त आज के युग की देन है। प्राचीन काल में गुलामों के कोई अधिकार नहीं होते थे और स्त्रियां भी पूर्णतः अपने पतियों के अधीन थीं। पादरियों और बड़े लोगों को विशेष अधिकार प्राप्त थे। उनके खिलाफ फरियादें नहीं सुनी जाती थीं। इन्हीं कारणों से फ्रांस में राज्यक्रान्ति हुई। इंग्लैंड में जेम्स द्वितीय ने व्यवस्था में हस्तक्षेप किया, इस कारण १६८८ का विद्रोह भड़का। १७०१ में इंग्लैंड में जो कानून (एक्ट ऑफ सेटिलमेंट) बना, उसमें यह व्यवस्था की गई कि न्यायाधीश जब तक काम ठीक करे, तब तक उसे पद से नहीं हटाया जा सकेगा।

इसी से ब्रिटिश न्याय-व्यवस्था की स्वतन्त्रता का जन्म हुआ। १७८७ में अमेरिका का संविधान बना और उसमें न्यायलय को विधान का संरक्षक माना गया। हमारे देश के संविधान-निर्माताओं ने भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और केन्द्र तथा राज्यों में अधिकारों का वितरण करने में अमेरिका से ही प्रेरणा ली।

अस्तु प्राचीन एथेंस के उदाहरण से यह सबक मिला कि न्यायाधीशों का चुनाव जनता के वोट से नहीं होना चाहिए।

१८वीं शताब्दी में फ्रांस के राजनीति शास्त्री मान्टस्कू ने ब्रिटिश न्याय-व्यवस्था से प्रभावित हो कर न्याय विभाग को शासन से अलग और स्वतन्त्र रखने का प्रतिपादन किया। लार्ड कार्नवालिस जब भारत के गवर्नर-जनरल बने, तो उन्होंने यही सिद्धान्त अपनाया। उन्होंने सरकार के काम को दो भागों—न्याय और माल या शासन में बांट दिया और यह व्यवस्था कर दी कि यदि शासन अधिकारी अपने अधिकारों का अनुचित प्रयोग करे, तो उनके विरुद्ध न्यायालय में फरियाद की जा सकती है।

देश में अब व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और न्याय विभाग को शासन से अलग रखने का सिद्धान्त सुप्रतिष्ठित हो गया है। वर्तमान काल में तो देश के संविधान और न्याय में जनता के पूर्ण विश्वास और निष्ठा की खास जरूरत है।

हमारे न्याय विभाग पर सबको पूरा विश्वास होना चाहिए और न्यायालय की स्वतन्त्रता और निष्पक्षता पर तनिक भी आंच न आने देना चाहिए।

हमारी शासन-व्यवस्था या सिविल सर्विस के कर्मचारी शासन चलाने में विशेषज्ञ होते हैं और स्थायी होते हैं, जबकि मंत्रीगण जन-साधारण के प्रतिनिधि होते हैं और बराबर बदलते रहते हैं। ब्रिटेन के अनुभव से सिद्ध हुआ है कि इन दोनों तत्वों के मिलाप से शासन को बहुत लाभ होता है। मंत्री लोग जनता की नब्ज़ पहचानते हैं, उनके भले के लिए प्रयत्नशील रहते हैं और उनके हित की नीति निर्धारित करते हैं। दूसरी ओर सरकारी कर्मचारी उस नीति को अच्छी तरह चला सकते हैं। इस प्रकार शासन चलाने के लिए नौकरशाही आवश्यक है।

हमारे देश में नौकरशाही शब्द कुछ बदनाम है, क्योंकि ब्रिटिश काल की नौकरशाही में दो दोष थे: एक तो दफ्तरों में प्रत्येक काम में काफी देर लगती थी, दूसरे सरकारी कर्मचारियों को राष्ट्रीय भावनाओं से कोई सहानुभूति न थी।

लालफीता नौकरशाही का सबसे बड़ा रोग है। सरकारी कर्मचारी अच्छे नौकर होते हैं, अच्छे मालिक नहीं। परन्तु उनके बिना न कोई सरकार चली है, न चल सकेगी। रूस, आस्ट्रिया, फ्रांस, चीन, रोम और वेनिस की पुरानी बादशाहत के मूल में भी नौकरशाही थी। आज के गणराज्यों की भी यही धुरी है। इसीलिए हम अपने सरकारी कर्मचारियों को अच्छी से अच्छी ट्रेनिंग देना चाहते हैं।

ईसा पूर्व चौथी शताब्दी में विशाल शासनतन्त्र या नौकरशाही थी, जिसका परिचय हमें कौटिल्य (चाणक्य) के अर्थशास्त्र से मिलता है। ये कर्मचारी सुशिक्षित, सुदक्ष नागरिक अधिकारी थे। कौटिल्य का कथन है कि उन्हें अधिक वेतन इसलिए दिया जाता था कि वे संतुष्ट रहें और भ्रष्टाचार में न फंसें।

मौर्यकाल का शासनतन्त्र जनता का पीड़क न था। कौटिल्य ने कदम-कदम पर शासन पर निगरानी रखने की ऐसी व्यवस्था की थी कि भ्रष्टाचार को प्रश्रय न मिल सके। वास्तव में मौर्यकालीन शासनतन्त्र से हमें सबक लेना चाहिए।

मध्यकालीन कश्मीर की नौकरशाही या कुशासन से हमें चेतावनी भी मिलती है। वहां कर भार बहुत अधिक था, रिश्वतखोरी खूब चलती थी। कर्मचारी मनमानी करते थे, जमींदार और फौजी अधिकारी जनता पर जुल्म करते थे।

अकबर के शासन में मौर्य शासन के विपरीत सैनिक और नागरिक शासन को मिला दिया गया था। मनसबदार सबसे ऊंचे अधिकारी होते थे और लगभग ७० प्रतिशत विदेशी थे। उनकी तनखाह आज से भी ऊंची थी। अकबर के शासन काल में देश की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी और बाद में और भी खराब हो गई। देश की आय का बहुत अंश ऐश-आराम और अन्य व्यर्थ कामों पर ही खर्च होता था।

देश में ब्रिटिश शासन के आरम्भ में भ्रष्टाचार काफी बढ़ा। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कर्मचारी तथा अन्य अंग्रेज़ों ने क्लाइव और वारेन हेस्टिंग्स के ज़माने में भारतीयों से काफी धन लूटा। यह लूट लार्ड कार्नवालिस के गवर्नर-जनरल बनने के बाद बन्द हुई। उन्होंने सिविल सेवा में सुधार किया। यही आगे चल कर भारतीय सिविल सर्विस कहलाई।

१६वीं शताब्दी में शासन-नीति बदली और जनता की भलाई की ओर ध्यान दिया जाने लगा। भारतीय सिविल सर्विस ने अपनी दक्षता और ईमानदारी के कारण काफी प्रसिद्धि पाई और संसार की अच्छी सेवाओं में गिनी जाने लगी, परन्तु इसके कर्मचारियों (आई० सी० एस०) में सहायता और उदारदृष्टि की कमी थी।

किसी भी सरकार की सफलता की कसौटी यह है कि उससे जनता को कितना लाभ हुआ। इससे भी बड़ी कसौटी यह है कि उससे राष्ट्र का चरित्र और लोगों में स्वशासन की योग्यता कितनी बढ़ी।

अब हमारे भारतीय प्रशासन सेवा के कर्मचारियों (आई० ए० एस०) का कर्त्तव्य है कि वे आई० सी० एस० लोगों की शासन-दक्षता की परम्परा को निभाएं और लोगों की भलाई करने में उनसे भी आगे बढ़ें। उन्हें सुप्रसिद्ध ब्रिटिश दार्शनिक लाक का यह कथन हमेशा याद रखना चाहिए कि जनता की भलाई सब विधानों से बढ़ कर है।

अन्त में हम कह सकते हैं कि इतिहास यह सीख देता है कि न्यायाधीशों का चुनाव जन-समूह के वोट से नहीं होना चाहिए। हमारे न्यायाधीश विद्वान, स्वतन्त्र और निष्पक्ष होने चाहिएं। वे बाल की खाल निकालने वाले नहीं, जन-कल्याण के प्रहरी होने चाहिएं। हमें राम शास्त्री जैसे न्यायाधीशों की जरूरत है।

सरकारी कर्मचारी शासन रूपी पहिए का धुरा है। वह अपने काम में दक्ष होता है। उसके बिना लोकहितकारी गणराज्य नहीं चल सकता। हमारे सरकारी कर्मचारियों को कुशल, ईमानदार और नम्र होना चाहिए। उनका काम शासन के कल्पवृक्ष की तरह जनता के लिए रखवाली करना है, उसका फल खाना नहीं।



४. सभ्यताओं का उत्थान और पतन

डा० ताराचन्द

पुराने जमाने में राजकुमारों का इतिहास पढ़ना भी जरूरी समझा जाता था, जिससे वे राजनीति तथा शासन में पूर्ववर्ती राजपुरुषों के उदाहरण से लाभ उठावें। परन्तु आधुनिक इतिहासकारों को सन्देह है कि इतिहास की मदद से भविष्य की घटनाओं का अनुमान लगाया जा सकता है।

इतिहास में पिछली घटनाओं का विवरण होता है, परन्तु इतिहासकार के भी ज्ञान की सीमा है, वह सभी घटनाओं का वर्णन नहीं कर सकता। वह तो अपनी दृष्टि से केवल कुछ घटनाओं को ही चुन कर प्रस्तुत करता है।

विज्ञान प्राकृतिक पदार्थों और व्यापारों को लेकर उनका विश्लेषण करता है। उनमें हमेशा एकरूपता रहती है, और उनमें कभी अन्तर नहीं पड़ता। प्रकृति के समस्त व्यापार एक नियम से होते हैं और विज्ञान इन्हीं नियमों की खोज करता है।

इसी से ज्योतिषी वर्षों पहले ही सूर्य या चंद्र-ग्रहण के समय का पता लगा लेते हैं। इसी प्रकार रसायन-शास्त्री पहले रबड़ का विश्लेषण करके उसके तत्त्वों और गुणों का पता लगाता है, और फिर वैसी ही रासायनिक क्रिया से नकली रबड़ तैयार कर लेता है।

विज्ञान में पहले किसी वस्तु का विश्लेषण किया जाता है, फिर उसका अध्ययन किया जाता

है, उस पर प्रयोग किए जाते हैं, नतीजे निकाले जाते हैं और आगे का अनुमान या आविष्कार किया जाता है। यही विज्ञान का तरीका है।

परन्तु इतिहास के क्षेत्र में ऐसा नहीं किया जा सकता, क्योंकि गया वक्त फिर हाथ आता नहीं। स्थितियां या घटनाएं बदलती रहती हैं। कोई भी शक्ति बीती घटनाओं को लौटा नहीं सकती। नई और अनसोची घटनाएं बराबर होती रहती हैं। अस्तु यदि हम बीती बातों को वापस नहीं ला सकते, तो भविष्य में होने वाली घटनाओं को भी नहीं बता सकते।

इतिहास का निर्माण मनुष्य करता है। उसमें इच्छा-शक्ति और कार्य-शक्ति है। वह विभिन्न परिस्थितियों में अपनी इच्छा से जो काम करता है, उसके लिए इतिहास कोई नियम नहीं बना सकता। इतिहास उसके कार्यों का ब्योरा मात्र रख सकता है, उसकी कार्य-शक्ति को नियमों में नहीं जकड़ सकता।

फिर भी इतिहासवेत्ताओं और समाजशास्त्रियों ने मनुष्य के क्रिया-कलापों में नियम ढूंढ़ने की कोशिश जारी रखी। उन्होंने उत्थान और विकास के क्रम का सिद्धान्त निकाला। भौतिकवादियों का कहना है कि आर्थिक कारणों से ही समाज में परिवर्तन होता है, परन्तु इस सिद्धान्त के जनक मार्क्स की भविष्यवाणी भी पूरी नहीं उतरी। उनका कहना था कि पहले उद्योग में उन्नत देश में समाजवादी क्रान्ति होगी, परन्तु इसके बजाय वह हुई पिछड़े कृषि प्रधान देश रूस में। उन्होंने यह भी कहा था कि तेजी, मंदी और ज़रूरत से ज्यादा उत्पादन के कारण पूंजीवादी व्यवस्था का पतन होगा, परन्तु उनकी यह धारणा भी सही नहीं उतरी। पूंजीवादी व्यवस्था फल-फूल रही है, और उसने अपने संकटों या रोगों का इलाज भी निकाल लिया है।

अस्तु प्रश्न उठता है कि क्या इतिहास से हमें कोई शिक्षा नहीं मिलती ? क्या इसे पढ़ने से कोई फायदा नहीं। ऐसी बात नहीं। इतिहास भविष्यवाणी भले ही न कर सके, पर हमें सामाजिक परिवर्तनों को समझने में सहायता तो देता ही है।

इतिहास से हमें मनुष्य के व्यवहार को समझने में मदद मिलती है और इस प्रकार समाज व्यवस्था को भी समझने में सहायता मिलती है। प्लेटो और अरस्तू प्राचीनकाल के महान् समाजशास्त्री हैं।

प्लेटो के अनुसार मानव मस्तिष्क के तीन अंग हैं : बुद्धि, इच्छा और अभिलाषा। जब ये तीनों अंग अपना-अपना काम ठीक तरह से करते हैं, तब मनुष्य का जीवन भी संतुलित रहता है। बुद्धि से ज्ञान, इच्छा से कर्म और अभिलाषा से पूर्ति और संयम आता है। पूर्ण मनुष्य वह है, जिसमें ज्ञान, उद्यम और संयम का समन्वय हो।

ये तीनों अंग सामाजिक जीवन में भी प्रकट होते हैं। बुद्धि प्रधान दार्शनिक, ज्ञानी या ब्राह्मण, उद्यम या कर्मप्रधान योद्धा या क्षत्रिय और अभिलाषा प्रधान उत्पादक या वैश्य होता है। जिस समाज में ये तीनों वर्ग ज्ञानी के पथ-प्रदर्शन में अपना-अपना काम ठीक तरह से मिल कर करते हैं, वही सर्वश्रेष्ठ समाज है।

अरस्तू मनुष्य को जीव सृष्टि में सर्वश्रेष्ठ मानते थे। उनके मतानुसार मनुष्य में वनस्पति पशु और मनुष्य तीनों के गुणों का मेल होता है। वनस्पति का गुण जीना और जनना है, मनुष्य के दाम्पत्य या घरेलू जीवन में यह चरितार्थ होता है। पशुओं में वनस्पति की इन विशेषताओं के अलावा कर्मेन्द्रियां भी होती हैं, जिनसे वह विभिन्न कार्य करता है, मनुष्य के सामूहिक जीवन में यही अंश फलित होता है। मनुष्य की विशेषता बुद्धि है, इसका गुण नियम और संयम है, इसी की परिणति राज्य संस्था में होती है। दोनों का मत है कि मनुष्य के मस्तिष्क और समाज दोनों में एक ही तत्त्व है।

इसीलिए मनुष्य कभी भी समाज से अलग नहीं रहा और न रह सकता है। मनुष्य और समाज दोनों का प्रादुर्भाव साथ-साथ हुआ। आदिम युग से अब तक मनुष्य समूह बना कर रहे हैं। समूह से ही समाज बने और उससे जातियां, राष्ट्र और संस्कृतियां जनमीं। कुछ जातियां बहुत आगे बढ़ीं और दूर-दूर तक फैलीं। कुछ जातियां नष्ट हो गईं। कुछ जो बचीं, उन्होंने बड़े उतार-चढ़ाव देखे। इनकी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था में गहरे परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों की झलक हमें उनकी कला, साहित्य और संस्कृति में मिलती है।

सभ्यताओं के उतार-चढ़ाव, समाजों के जन्म, विकास और अन्त, तथा राज्यों के उत्थान और पतन की कहानियां बड़ी रोचक हैं। इससे मनुष्य के आचरण और सामाजिक परिवर्तनों के कारणों का पता चलता है। मनुष्यों का समूह ही समाज है, इसलिए व्यक्ति जो कुछ करता है, उसका असर समाज पर पड़ता है। यदि व्यक्ति तन, मन से स्वस्थ है तो समाज भी सबल रहेगा यदि व्यक्ति स्वस्थ नहीं है, तो समाज का पतन होगा।

कुछ व्यक्तियों में नेतृत्व का जन्मजात गुण होता है, दूसरे व्यक्ति उनका अनुसरण करते हैं। नेताओं और अनुगामियों का सुगठित समूह ही समाज है। इन नेताओं के चरित के अनुसार ही समाज में, अच्छाइयां और बुराइयां आती हैं। नेता जैसा आचरण करते हैं, साधारण जन भी वैसा करते हैं। जब ये विशिष्ट व्यक्ति या नेता समाज हित को ही आत्म-हित समझते हैं, तब समाज आगे बढ़ता है। जब ये अपने स्वार्थ को ऊंचा दर्जा देते हैं, तब समाज का पतन होता है।

दुनिया के इतिहास में इसके अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। यूनान को ही लीजिए। यूनान में पहले नगर-राज्यों का उदय हुआ। प्रत्येक नगर का अपना समाज और धर्म की व्यवस्था थी। प्रत्येक नागरिक अपने समाज, धर्म और गणराज्य से प्रेम करता था। यदि किसी नागरिक को काफी धन प्राप्त हो जाता, तो वह उसे अपने काम में न लाकर नगर राज्य के हित में लगाता, जैसे एथेंस के नागरिक थेमिस्टोक्लिस ने अपने धन से अपने राज्य के लिए जहाजी बेड़ा बनाया। प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू ने एथेंस के कानून को शिरोधार्य करके जहर का प्याला पी लिया।

परन्तु धीरे-धीरे आबादी बढ़ी, उद्योग-धंधा और धन बढ़ा, लोगों में लोभ और स्वार्थ आया। नागरिकता की भावना घटने लगी। लोग नगर-राज्य की रक्षा के लिए सेना में भर्ती होने से कतराने लगे और किराए के सैनिक रखने लगे।

नतीजा यह हुआ कि जब फिलिप (सिकन्दर के पिता) ने एथेंस पर हमला किया, तब महान् वक्ता डेमोस्थनीज़ भी नागरिकों को अपने राज्य की रक्षा के लिए हथियार उठाने को प्रेरित न कर सका और गर्वोन्नत एथेंस गुलाम बन गया।

रोम के मेहनती और पराक्रमी किसानों ने रोम का निर्माण किया। उनमें ऐसे योद्धा थे, जिनका नाम इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित है। होरेशस ने केवल दो साथियों को लेकर, लार्स परसेना की सेना से टाइबर नदी के पुल की रक्षा की। सिसिनेटस ने अपने लड़के को सैनिक कर्त्तव्य से च्युत होने पर मृत्यु दण्ड दिया, रोम के प्रसद्धि जनरल स्किपियों अफ्रीकेनस कार्थेज पर विजय प्राप्त करने के बाद जनता की जयजयकार और हर्षोल्लास से जान बचा कर चुपके से अपने गांव को चला गया। इन्हीं त्यागी योद्धाओं के बल पर रोम का साम्राज्य फैला।

धीरे-धीरे रोम का नैतिक पतन आरम्भ हुआ। वहां सत्ता, शक्ति और धन का लोभ बढ़ा, विलास की प्रवृत्ति बढ़ी। योद्धाओं और राजनीतिज्ञों की कमी होने लगी।

रोमन नागरिक विलासी और बुजदिल हो गए। स्वयं हथियार उठाने के बजाय उन्होंने बर्बर जातियों को सेना में नौकरी दी। इन भाड़े के सैनिकों ने धोखा दिया और १०० वर्ष के अन्दर-अन्दर रोम का साम्राज्य ध्वस्त हो गया।

इस्लाम के शक्तिशाली खलीफाओं का उत्थान-पतन भी इसी प्रकार हुआ। मुस्लिम सभ्यता के इतिहासकार जुर्जी जैदान ने लिखा है कि किस प्रकार पैगम्बर (हजरत मुहम्मद) की मृत्यु के ८० वर्ष के अन्दर ही इस्लाम की ध्वजा को पूर्व में आक्सस और हिन्द से लेकर पश्चिम में अतलांतिक सागर तक फैलाने वाले वीरों के वंशज दमिश्क और बगदाद में बस कर विलास में डूब गए। हज़रत मुहम्मद ने आपस में लड़ने वाले अरब कबीलों को इस्लाम के सूत्र में बांध कर एक प्रबल राष्ट्र में परिणत कर दिया। उनके उत्तराधिकारी भी इन्हीं के कदमों पर चले। उस समय के मुसलमान अरब वीर, स्वतन्त्रता प्रेमी और ऊंचे चरित्र के थे।

उमैया खलीफाओं के समय से पतन आरम्भ हुआ। निर्भीकता के बजाय चापलूसी और वीरता पर शराबखोरी, ऐयाशी और लोभ ने अरब जाति में घर कर लिया। अब्बासी खलीफाओं के समय पतन की गति और तेज़ हुई। भ्रष्टाचार और ऐयाशी ने चरित्र का नाश कर दिया। लोग कायर, दगाबाज़ और बेईमान होने लगे। तुर्क सैनिक खलीफाओं के महलों और जनानखानों पर पहरा देते थे और उनके अन्दर अरब अमीर-उमरा नाच-रंग में मस्त रहते थे। नतीजा यह हुआ कि जो सेवक थे, वही बाद में मालिक बन गए। १२५८ में तुर्कों और मंगोलों ने बगदाद को तहस-नहस कर दिया और खलीफा शासन का अंत कर दिया।

यूनान, रोम, बगदाद के खलीफाओं तथा अन्य जातियों के उत्थान, पतन की कहानी एक-सी है। इनसे हमें सबक और चेतावनी मिलती है।



५. महाभारत, घर की फूट की करुण कहानी

डा० मोतीचन्द्र

इतिहास मनुष्य जाति के कार्यों का निष्पक्ष चित्रण करता है। उसका उद्देश्य किसी खास दृष्टिकोण का प्रतिपादन करना नहीं है। यदि हम इतिहास का वैज्ञानिक ढंग से अध्ययन करें, तो हमें अपनी बहुत-सी धारणाएं बदलनी पड़ेंगी। अपने देश में महान् दार्शनिक और साहित्यकार हुए हैं, पर दुर्भाग्यवश पाश्चात्य देशों जैसे बड़े इतिहासकार नहीं हुए।

कल्हण को हम अपना पहला बड़ा इतिहासकार कह सकते हैं। उन्होंने १२वीं शताब्दी में कश्मीर का प्रसिद्ध इतिहास 'राजतरंगिणी' लिखा, जिसमें वहां की कुस्थिति का नग्न चित्रण मिलता है। इसमें राजाओं के विरुद्ध सामंतों का विद्रोह, प्रजा का शोषण और तबाही तथा राजा-प्रजा दोनों के नैतिक अधःपतन का मार्मिक वर्णन है। कश्मीर का यह इतिहास मध्ययुगीन भारत के राज्यों के इतिहास का नमूना है।

हड़प्पा संस्कृति में नागरिक सभ्यता का उज्ज्वल चित्र है (लगभग ईसा पूर्व २५०० से १,५०० तक)। इसके इतिहास का तो ठीक पता नहीं चलता, पर इसमें एक बात स्पष्ट है कि भारत में बर्बरता से निकल कर राजनीतिक एकता और संस्कृति के विकास का यह पहला प्रयत्न था। दुर्भाग्यवश हम यह नहीं जानते कि हड़प्पा की रचना करने वाले कौन लोग थे।

कहा जाता है कि हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में वर्ग या श्रेणी भेद काफी जबर्दस्त था। एक वर्ग मंदिरों के दासों का था, जो खेती और अन्य मेहनत का धंधा करता था। दूसरा वर्ग व्यापारियों का था, जो उनकी मेहनत पर मज़े उड़ाता और मोटाता था। इन व्यापारियों के समर्थक पुजारी थे, जो दलित प्रजा को दैवी प्रकोपों का डर दिखा कर उन्हें विद्रोह करने से रोकते थे।

आज से ४ हज़ार वर्ष पहले के समाज में इस तरह के वर्गभेद की बात काल्पनिक जान पड़ती है। परन्तु इतना अवश्य है कि हड़प्पा संस्कृति में सड़ांध और स्थिरता आ गई थी, उसमें समय के साथ बदलने के चिह्न नहीं मिलते, और इसका कारण दकियानूसी पुरोहित वर्ग का प्रभाव जान पड़ता है। बाद में यह संस्कृति आक्रमणकारियों से अपनी रक्षा न कर सकी।

आर्यों का आगमन इस देश में ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी में हुआ। संभवतः उन्होंने ही हड़प्पा और मोहनजोदड़ो को नष्ट किया। पर वे यहां जिस संस्कृति के सम्पर्क में आए, उसे उन्होंने अपना कर नई संस्कृति की रचना की। यद्यपि आर्य लोग आपस में लड़ते रहते थे और उनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि वर्ण भी बनने लगे थे, फिर भी उनमें एकता की भावना थी। अथर्ववेद के पृथ्वीसूक्त में यह भावना व्यक्त हुई है।

इसमें देश की धरती, उस पर रहने वाली विभिन्न जातियां, उनकी एकता का वर्णन है। इसमें सभा और समिति का उल्लेख है, जो आर्यों की राजनीतिक संस्थाएं थीं, और लोगों से सभा-समितियों में मीठी बात बोलने का और दूसरों के विचारों का आदर करने का उपदेश दिया गया है, जिससे जन और जातियों में एकता बनी रहे।

परन्तु आर्यों ने अथर्ववेद के इस सूक्त की नेक सलाह का कहां तक पालन किया, महाभारत इसका नमूना है। कहा जाता है कि महाभारत का युद्ध धर्म और न्याय के लिए हुआ था, परन्तु भाई-भाइयों की इस भयानक लड़ाई में घोर नर-संहार हुआ। केवल दो-चार आदमी इससे जीवित निकले तथा इससे देश की राजनीतिक व्यवस्था ध्वस्त हो गई और समाज और नीति की चूलें हिल गईं।

महाभारत से पता चलता है कि लोभ और द्वेष के वश होकर लोग समाज, नीति, राज्य, सबके हित को ताक पर रख कर किस प्रकार राष्ट्र को पतन के गर्त में धकेल सकते हैं। धर्म, जाति और समाज सबकी एकता होते हुए भी घर की फूट के कारण भारत राष्ट्र न बन सका। इससे अधिक दुख की बात और कोई नहीं हो सकती।

महाभारत का युद्ध लगभग ईसा पूर्व १,००० में हुआ था। इसके बाद आर्यों की शक्ति गंगा की घाटी में स्थिर हुई और ईसा पूर्व ७०० से करीब १६ महाजनपदों का उदय हुआ। फिर इनमें प्रतिद्वंद्विता चली। कोशल और मगध का संघर्ष हुआ और मगध की शक्ति बढ़ी। उसने वैशाली के लिच्छवियों और पावा तथा कुशिनारा के मल्लों के गणराज्यों को भी अपने अधीन कर लिया। इस प्रकार प्रबल मगध साम्राज्य का उदय हुआ, बाद में यह साम्राज्य भी नष्ट हो गया। इसके बाद देश में अनेक बार बड़े-बड़े राज्य कायम होते और टूटते रहे।

ईसा पूर्व चौथी सदी में गंगा की घाटी तो एक साम्राज्य के अन्तर्गत थी, परन्तु पंजाब की स्थिति दूसरी ही थी। ईसा पूर्व ३२६ में जब सिकन्दर की सेना ने आक्रमण किया, तब

काबुल की घाटी और पंजाब छोटे-छोटे राज्यों और गणराज्यों में बंटा था, जो आपस में लड़ा करते थे। फलस्वरूप छोटे गणराज्यों और पुरु के वीरतापूर्वक लड़ने के बावजूद भी पंजाब सिकन्दर के हाथ में आ गया। उसकी सेना काफी थक चुकी थी और साथ ही उसे पाटलिपुत्र की शक्ति का ज्ञान था, इसलिए वह आगे नहीं बढ़ा।

उस समय देश में एक ऐसा महान् व्यक्ति था, जिसने इतिहास की इस चेतावनी से शिक्षा ली और वह था— चन्द्रगुप्त मौर्य। उसे भारत के उत्तर-पश्चिम से आने वाले खतरों का ज्ञान था। इसलिए उसने समस्त उत्तर भारत को अपने राज्य के सूत्र में बांधा। उसके महामंत्री चाणक्य ने मौर्य साम्राज्य के शासन के नियम-कायदे बनाए, जिनका संग्रह अर्थशास्त्र में है। ये कानून बहुत कठोर थे, परन्तु उस समय के संकटों को देखते हुए, देश में एकता कायम रखने के लिए जरूरी भी थे।

चन्द्रगुप्त के पौत्र सम्राट् अशोक बौद्धधर्म के अनुयायी थे। उन्होंने अनुभव किया कि युद्ध और कठोर शासन से सच्ची एकता कायम नहीं हो सकती। वह स्वयं धर्म-यात्रा करते थे और प्रजा से मिलते थे। उनसे पहले के राजा नियत समय में ही शासन का काम देखते और लोगों से मिलते थे। परन्तु अशोक इसके लिए हर समय तत्पर रहते। उन्होंने अपने कर्मचारियों को अनुमति दे रखी थी कि यदि मैं अंतःपुर में भी रहूं, तो भी काम पड़ने पर मुझे तुरन्त सूचना दी जाए।

प्रजा के हित के लिए अशोक ने कुएं खुदवाए, सड़कों के किनारे पेड़ लगवाए, जड़ी-बूटियां लगवाईं और अधिकारियों को आदेश दिया कि प्रजा के साथ नरमी से व्यवहार करो तथा दौरा करके उनसे मिलते-जुलते रहो। वास्तव में अशोक के शासन में वे सभी बातें थीं, जो आधुनिक हितकारी राज्य में होती हैं।

जब मौर्य साम्राज्य का पतन हुआ और सेनापति पुष्यमित्र ने शासन संभाला, तब देश की एकता टूट रही थी। मौर्य साम्राज्य के उत्तरी भाग पर विदेशी आक्रमणकारियों ने अड्डा जमा लिया था और शुंग वंश का राज्य दक्षिणी भाग में ही सीमित रह गया था। पुष्यमित्र ब्राह्मण धर्म के समर्थक थे, जिससे बौद्ध धर्मानुयायी उनके विरुद्ध हो गए थे। सम्भवतः इसी कारण ईसवी पहली शताब्दी में कुशाण राजा कनिष्क उत्तर भारत में बिना किसी विशेष कठिनाई के अपना राज्य स्थापित कर सके।

कनिष्क ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया, जिससे ब्राह्मण धर्मावलम्बी उनके विरुद्ध हो गए, क्योंकि पुराणों में शक, हूण आदि को म्लेच्छ, यवन जैसे अवज्ञा सूचक शब्दों में संबोधित किया गया है। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि कुशाण काल में विदेशी आगन्तुक भी भारतीय समाज में मिल गए और भारत की शक्ति और धाक मध्य एशिया में भी कायम हुई।

परन्तु कनिष्क के बाद ही यह एकता फिर टूट गई। शकों ने यद्यपि हिन्दू धर्म अपना लिया था, फिर भी उनके प्रति पुराना द्वेष बना ही रहा। इसीलिए उन पर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की विजय पर बड़ा उल्लास मनाया गया और उन्हें शकारि की उपाधि दी गई।

चौथी शताब्दी में गुप्त साम्राज्य स्थापित होने पर देश में पुनः राजनीतिक और सांस्कृतिक एकता दृढ़ हुई। गुप्त वंश ने प्राचीन काल के चक्रवर्ती राजाओं की तरह सारे देश को अपने राज्य के अन्तर्गत लाने का यत्न किया। महाकवि कालिदास ने उस स्वर्णयुग का बहुत सुन्दर चित्रण किया है, साथ ही उन्होंने चेतावनी भी दी है कि सभी पुरानी बातों को हमेशा अच्छा ही मानना चाहिए। समझदार लोग ठोक बजा कर ही किसी बात को स्वीकार करते हैं और मूढ़ बिना सोचे-विचारे सबको मान लेते हैं। भट्ट की रचनाओं तथा अन्य कृतियों से हमें पता चलता है, कि राष्ट्र का ह्रास शुरू हो गया था।

उच्च वर्ग के लोगों का चरित्र गिर गया था, न्याय-व्यवस्था भ्रष्ट होने लगी थी, धर्माचार्य पतित हो गए थे, सैनिक लूट-पाट मचाने लगे थे, अधिकारीगण राजा को ठीक सलाह देने और निरंकुशता रोकने के बजाय उसकी चापलूसी करने लगे थे। छोटे-छोटे जागीरदार स्वतन्त्र राजा बनने लगे। फलस्वरूप साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा और देश की राजनीतिक एकता टूटने लगी, राष्ट्रीय दुर्बलता के इसी क्षण में हूणों का आक्रमण हुआ। वास्तव में गुप्त साम्राज्य के पतन के मूल में हमारा यही नैतिक और सामाजिक पतन था।

सम्राट् हर्ष के बाद का इतिहास फूट और वैर का इतिहास है। गुप्तकाल में हिन्दू धर्म में जो नव-जागरण हुआ, उससे सांस्कृतिक एकता तो उत्पन्न हुई पर उससे राजनीतिक एकता कायम न हो सकी। उस समय के जो लेख मिलते हैं उनमें छोटे-छोटे राजाओं को भी चक्रवर्ती और राजाधिराज कहा गया है। देश की राजनीतिक एकता कैसी छिन्न-भिन्न हो गई थी, इसका पता इन लेखों से चलता है। गुर्जर प्रतिहारों ने उत्तर भारत में पंजाब से लेकर बिहार तक अपना राज्य स्थापित किया। इसमें राजस्थान और गुजरात के भी कुछ खण्ड थे। उनका राज्य इस्लाम की बाढ़ के सामने चट्टान की तरह खड़ा रहा।

नवीं शताब्दी में कन्नौज के गुर्जर प्रतिहारों को अरब आक्रमणकारियों से लोहा लेने में देश के सब राजाओं से मदद मिलनी चाहिए थी, पर ऐसा न हुआ। बल्कि गुर्जर प्रतिहारों को पालों और राष्ट्रकूटों से लड़ना पड़ा। यही नहीं राष्ट्रकूट अपने शत्रु गुर्जर प्रतिहारों को हटाने के लिए अरब आक्रमणकारियों से मिल गए।

९१६ के लगभग गुर्जर-प्रतिहार साम्राज्य टूटने और छोटे-छोटे राज्यों में बंटने लगा। यदि बाहरी आक्रमण न होता, तो धीरे-धीरे कोई एक बड़ा राज्य कायम हो जाता परन्तु इसी बीच तुर्कों ने भारत पर हमला कर दिया। उस समय पंजाब के साहियों ने उनसे जम कर लोहा लिया। अलप्तगीन के आगे उन्हें पीछे हटना पड़ा। अंत में ११वीं सदी में साही राजा त्रिलोचनपाल ने महमूद गजनवी से मुकाबला करने के लिए कश्मीर राज्य से मदद ली, पर दुर्भाग्य से विजय उनके हाथ न लगी और वह देश की स्वतन्त्रता के लिए लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त हुए।

परन्तु त्रिलोचनपाल का बलिदान भी उत्तर भारत को गुलामी से न बचा सका। साही वंश पतन के बाद मुसलमानों का हमला और बढ़ा। शाकम्बरी के राजा पृथ्वीराज ने मुहम्मद गौरी का मुकाबला किया, परन्तु कहते हैं कि उस समय कन्नौज और बनारस के गहड़वाल राजा जयचन्द ने उसकी मदद न की, बल्कि वह मुहम्मद गौरी के सेनापतियों से गुप्त रूप से बात चला रहा था और पृथ्वीराज की हार पर खुशी मना रहा था।

एक जैन प्रबन्ध में इसकी करुण कहानी मिलती है। उसमें कहा गया है कि पृथ्वीराज की मृत्यु का समाचार सुन कर, जयचन्द ने बनारस के लोगों को खुशियां मनाने का आदेश दिया। उसके दरबार में भी खुशियां मनाई गईं, परन्तु उसका मंत्री तीन दिन तक दरबार में नहीं आया। चौथे दिन जब वह दरबार में आया, तो खुशी मनाने का कारण पूछा।

कारण सुनने पर उसने ये स्मरणीय शब्द कहे—किले का एक फाटक है, जिसका दरवाजा और ब्योंड़ा लोहे के हैं। यदि ब्योंड़ा टूट जाए तो दरवाजे अवश्य ही खुल जाएंगे। फिर किले का क्या होगा। पृथ्वीराज भारत रूपी किले के दरवाजे का ब्योंड़ा था, इसलिए उनकी मृत्यु पर आपको खुशी नहीं मनानी चाहिए। याद रखिए, जिसने पृथ्वीराज को खतम किया, वह कल आपको भी खतम कर सकता है।

जैन प्रबन्ध में यह नहीं लिखा है कि जयचन्द ने यह सुन कर क्या किया। परन्तु यह सत्य

है कि ११६४ में कुतुबुद्दीन ऐबक ने बनारस जीत लिया और कुछ ही वर्षों में सारा उत्तर भारत विदेशियों के हाथ में चला गया। इस प्रकार आपस की फूट से देश का सत्यानाश हुआ।

६. राज्य की शक्ति : सुखी प्रजा

के० एम० पणिक्कर

भारत को अपने इतिहास से बहुत कुछ सीखना है। इस देश का इतिहास ३,००० वर्ष से भी पुराना है और इस लम्बी अवधि में इसने अनेक उत्थान-पतन देखे तथा पिछले डेढ़ सौ वर्ष तक यह देश पराधीन भी रहा। इसलिए अब हमें अपने इतिहास से शिक्षा लेकर अपनी स्वतन्त्रता को दृढ़ करना और खतरों से सतर्क रहना है।

सभी देशों के इतिहास से सबसे बड़ी सीख यह मिलती है कि जनता जब सुखी और प्रसन्न रहती है, तभी राष्ट्र भी शक्तिशाली रहता है। ऐसे बहुत-से देश थे, जहां के मंत्री और राजपुरुष चतुर थे, सामंत और सरदार धनी और शक्तिशाली थे तथा राग-रंग में मस्त रहते थे, जहां साहित्य; संगीत और कलाओं की उन्नति हुई और जहां राजाओं ने शानदार इमारतें बनवाईं, परन्तु ये सब राज्य संकट आते ही बालू की भीत की भांति ढह गए।

वास्तव में जहां एक ओर ऊंचे महल और दूसरी ओर गंदी झोंपड़ियां होती हैं, जहां अमीर ऐयाशी करते और गरीब पीसे जाते हैं, ऐसे राज्य का पतन अवश्यंभावी है। फ्रांस की रानी मेरी अंतायनेत के बारे में कहा जाता है, कि जब उसने सुना कि लोगों को रोटी नहीं मिल रही है, तो उसने बड़े भोलेपन से कहा—लोगों को रोटी नहीं मिलती तो वे मिठाई क्यों नहीं खाते ?

इससे पता चलता है कि उस समय राजा और प्रजा के बीच कितनी बड़ी खाई बन गई थी। फलस्वरूप फ्रांस में खूनी क्रांति हुई। महल और झोंपड़ी के बीच की यह गहरी खाई सभी राज्यों के लिए खतरनाक है।

हमारे देश के इतिहास में भी ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिनसे हमें यह सीख मिलती है। मुहम्मद शाह के ज़माने में मुगल साम्राज्य की बाहरी शान-शौकत बनी थी। वह उसी तख्तताऊस पर बैठते थे, जिसे शाहजहां ने अपनी समृद्धि दिखाने के लिए बनाया था। वह उसी दीवान खास में अपना दरबार लगाते थे, जहां यह अंकित था कि यदि पृथ्वी में कहीं स्वर्ग है, तो वह यहीं है। मुहम्मद शाह अपने दरबारियों को पहले की ही तरह बड़ी-बड़ी खिलतें देते थे। परन्तु जब नादिरशाह ने दिल्ली पर आक्रमण किया, तो उसका मुकाबला करने वाला कोई भी आगे नहीं आया। मुगल सल्तनत के बड़े-बड़े सूबेदारों, वजीरों और निज़ाम-उल-मुल्कों को बुलाया गया, परन्तु उन्होंने मैदान जंग से दूर रहने में ही कुशल समझा।

दिल्ली की गलियों में तीन दिन और तीन रात तक निर्दोष प्रजा के खून की नदियां बहती रहीं। नादिरशाह का बाल भी बांका नहीं हुआ। अन्त में वह बेशकीमत जवाहरात से बना

तख्तताऊस, रत्नजटित मुकुट और बेशुमार दौलत लेकर, और मुगल साम्राज्य को ठोकर लगा कर फारस लौट गया। ऐयाश शासकों से प्रजा की विरक्ति का इससे बड़ा उदाहरण इतिहास में मिलना कठिन है।

भारत के इतिहास से दो और उदाहरण लीजिए। सिराजुद्दौला देश के तीन सबसे अधिक दौलतमन्द प्रांतों पर शासन करता था, परन्तु पलासी के युद्ध में वह मुट्ठी भर अंग्रेज़ों से हार गया। कारण—उसके अपने ही लोगों ने उसे धोखा दिया। यूरोपीय इतिहासकारों का कथन है कि यूरोप का सैनिक भारतीय सैनिक से अच्छा होता है, इसलिए इस युद्ध में अंग्रेज जीते, परन्तु यह बात गलत है। यदि सिराजुद्दौला को उसके ही आदमी धोखा न देते, तो वह न हारता।

उसके दरबार की शानोशौकत का क्या कहना, खास मौकों पर उसके दरबार में सैकड़ों नाचनेवालियों का मुजरा होता था, दरबारी, नवाब, राजा और महाजन ठाट-बाट में एक दूसरे से होड़ करते थे। परन्तु प्रजा गरीब थी, उसका शोषण होता था, इसलिए वह शासन में न तो कोई रुचि लेती थी और न वफादार ही थी।

दूसरा उदाहरण अरकाट के सूबेदार नवाब मुहम्मद अली का है। वह अकसर मद्रास जाते थे और ईस्ट इंडिया कम्पनी की मेहमानदारी कबूल करते थे। एक बार कम्पनी ने उन्हें एक शानदार दावत दी, जिसमें पांच सौ से अधिक प्रकार के व्यंजन परसे गए और बहुत सी नाचनेवालियों को बुलाया गया। नवाब साहब को इससे मौज उड़ाने का नया तरीका मिला।

अपनी मौज उड़ाने के लिए उन्होंने अंग्रेज महाजनों से रुपया कर्ज लिया और अपने सूबे का काफी बड़ा भाग उनके पास बंधक रख दिया। प्रजा इन अंग्रेज़ महाजनों के शोषण की शिकार बन गई। नतीजा यह हुआ कि नवाब की मृत्यु के बाद जब अंग्रेज़ों ने पूरा शासन अपने अधीन कर लिया और एक कठपुतली सूबेदार बिठा दिया, तब प्रजा ने इसका ज़रा भी विरोध नहीं किया। मुहम्मद अली के कुशासन के कारण शासक और प्रजा के बीच इतनी बड़ी खाई बन गई थी कि प्रजा ने शासन की कोई परवा नहीं की।

इससे हमें जो शिक्षा मिलती है, वह स्पष्ट है। जब जनता को यह विश्वास होता है कि राज्य उसके हित के लिए काम कर रहा है, तभी वह राज्य के प्रति वफादार रहती है। प्राचीन हिन्दू आदर्श 'रामराज्य' का अर्थ ऐसा राज्य है, जो जनता के हित को सर्वोपरि समझता है। महाभारत में भीष्म पितामह ने भी राजधर्म की व्याख्या करते हुए कहा कि राजा को अपनी प्रजा की रक्षा वैसे ही करनी चाहिए जैसे माता अपने गर्भस्थ शिशु की करती है, अर्थात् प्रजा के हित को सबसे ऊपर रखना चाहिए।

आज की परिस्थितियों में यह सीख हमारे लिए और भी अधिक महत्व की है। पहले राजा हुआ करते थे। उस समय रवैया ही ऐसा था कि राजा को ठाट-बाट रखना पड़ता था, इसलिए उसमें और प्रजा में अंतर स्वाभाविक था।

परन्तु आधुनिक काल में राज्य की परिभाषा ही बदल गई है। अब राज्य को प्रजा ही चलाती है और सब लोग बराबर माने जाते हैं, जहां राजा हैं भी, वहां प्रजा ही सर्वशक्तिमान होती है। इसलिए गरीब-अमीर का अंतर आधुनिक राज्य के लिए और भी खतरनाक है।

भारतीय संविधान इन सिद्धान्तों पर आधारित है—भारत गणराज्य है, जिसमें देश के सभी बालिगों को समान अधिकार हैं, राज्य को गरीबी-अमीरी, ऊंच-नीच और जात-पांत के भेदभाव को मिटाना है

आज दुनिया भर के देशों में गरीबी-अमीरी का अंतर मिटाने की कोशिश की जा रही है। आज न कोई शासक वर्ग है न शासित।

आधुनिक राज्य यह मानने को तैयार नहीं है, कि केवल कुछ विशेष वर्ग के लोगों को ही शासन करने का अधिकार है। आज राज्य की बागडोर जिनके हाथों में है, वे राजा या नवाब नहीं, और न शासक जाति के हैं। यदि उनके और जनता के बीच बड़ा अंतर या खाई पैदा हो जाए, तो देश की स्वतन्त्रता खतरे में पड़ सकती है। इसलिए आज भारत में महल और झोंपड़ियों के अंतर के लिए कोई स्थान नहीं है।

किसी भी देश में सभ्यता के विकास की कसौटी यह है कि सुसंस्कृत समाज का दायरा कितना बड़ा है। भारत ऊंची-नीची जातियों में बंटा है, जिसमें सबसे नीचे करोड़ों हरिजन हैं। यही हमारे हिन्दू समाज की सबसे बड़ी कमजोरी है।

देश के स्वर्णयुग में भी यह कमजोरी विद्यमान रही। उस समय कुछ लोग महलों में मौज उड़ाते थे और बाकी झोंपड़ियों में रह कर जीवन बिताते थे। हरिजन तो मानवीय अधिकारों से भी वंचित थे। इसी कारण शासकों और प्रजा में गहरी खाई बनी, जो पाटी न जा सकी और जिसके कारण देश का पतन हुआ।

अपने इतिहास से हमको यही सीख मिलती है कि यदि यही असमानता बनी रही तो हमारा राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकेगा और अपनी स्वतन्त्रता बनाए रखना भी मुश्किल हो जाएगा। हमने लोक हितकारी राज्य का आदर्श अपनाया है। एक ओर ऊंचे महल और दूसरी ओर छोटी झोंपड़ियां साथ-साथ नहीं रह सकतीं।

संविधान के निदेश के अनुसार देश से छुआछूत को मिटाया जा रहा है, उद्योगों की उन्नति के द्वारा गरीबी मिटाई जा रही है, गांवों की उन्नति की जा रही है और प्राकृतिक साधनों का उपयोग किया जा रहा है। इन सबका उद्देश्य आर्थिक और सामाजिक विषमता को मिटाना है। अपने इतिहास से हमने यही सीख ली है और इसे भुलाना अपने पतन को न्योता देना होगा।

—दिल्ली से प्रसारित



भारत में अंगरेजी राज

दूसरे विश्वयुद्ध के कुछ पहिले पं० सुन्दरलाल जी ने 'भारत में अंगरेजी राज' नामक पुस्तक लिखी थी, जिसमें उन्होंने उस समय के भारत की राजनीतिक दशा का बहुत सच्चा विवरण दिया था। सत्यता का विवरण देते हुए यदि अंग्रेजों के खिलाफ कोई बात लिखनी पड़ी तो उसे भी उन्होंने नहीं छोड़ा था। वह पुस्तक लोगों को इतनी पसन्द आई कि बहुत से लोग उसे स्वतन्त्रता-संग्राम की गीता कहने लगे थे। पर उस समय की अंगरेजी सरकार ने इस पुस्तक को प्रकाशित होने के कुछ ही दिनों बाद जब्त कर लिया जिसके कारण बहुत अधिक भारतीय इसको पढ़ने में असमर्थ रहे।

आज हम स्वतन्त्र हैं, अतः पुस्तक के महत्व को ध्यान में रखकर भारत सरकार ने इसे दुबारा प्रकाशित करने का निश्चय किया है। उस समय १,८०० पृष्ठ की यह पुस्तक ३ जिल्दों में प्रकाशित हुई थी। अब हम इसे दो बड़ी जिल्दों में प्रकाशित कर रहे हैं। इस ऐतिहासिक महत्व की पुस्तक का प्रथम खण्ड प्रकाशित हो गया ह पुस्तक की बहुत मांग आने की उम्मीद है, इसलिए आप अपना आर्डर तुरन्त भेज दें।

मूल्य :– सजिल्द १०.००
साधारण ८.००

डाक खर्च अलग

पब्लिकेशन्स डिवीजन
पो० बॉ० नं० २०११
ओल्ड सेक्रेटेरिएट, दिल्ली–६

हमारी दस्तकारियां

भारतीय दस्तकारियों में गुलाबी हाथी सहित हर प्रकार की वस्तुएं उपलब्ध हो सकती हैं।

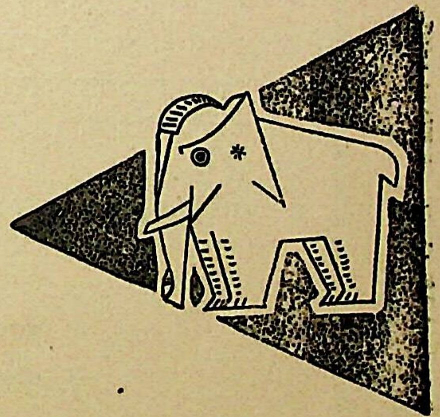
पीतल के तार द्वारा नक्काशी का काम किये यह सुन्दर लगने वाले फर्निचर व हाथीदांत की बनी आकृतियों से ले कर कोमल से कोमल वस्तु पर किया गया कशीदे का काम और अनेकों मनमोहक चीजें मिल सकती हैं।

भारत के कुशल कारीगरों की अद्वितीय कल्पना और कारीगरी के सम्मुख कुछ भी असम्भव नहीं।

याद रखिये आप जो भी दस्तकारी की वस्तु खरीदते हैं, उससे हमारी सांस्कृतिक परम्परा को कायम रखने वाले इन दक्ष कारीगरों के जीवन निर्वाह में योग मिलता है।

आपके घर की सजावट के लिए सर्वोत्तम वस्तुएं ही होनी चाहिएं। भारतीय दस्तकारियों में विविध और अनेक प्रकार की मनमोहक रंगों और आकर्षक डिजाइनों में वस्तुयें उपलब्ध हैं—साधारण मिट्टी के बरतनों से लेकर जड़ाऊ संगमरमर आलीशान चीजों तक।

दस्तकारी की वस्तुओं से
अपने घर की शोभा बढ़ाइये



डी० ए० ५१/५८६

प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मन्त्रालय
भारत सरकार